पंचम खण्ड

रक्तवह स्त्रोतस् के रोग

रक्तवह स्त्रोतस् परिचय

रस-रक्तादि धातुओं का वहन करने वाले स्त्रोतस् उन-उन धातुओं का वहन करते हैं एवं उन स्त्रोतसों के दुष्ट होने पर उनमें बहने वाली धातुओं के दुष्टि के लक्षण (प्रदोषज विकार) उत्पन्न होते हैं। रक्त धातु का वहन करने वाले स्त्रोतस् को रक्तवह स्त्रोतस् कहते हैं। इसके दुष्ट होने पर रक्त प्रदोषज विकार उत्पन्न होते हैं।

रक्तवह स्त्रोतस् का मूल[1]

रक्त वह स्त्रोतस् का मूल यकृत् एवं प्लीहा को माना गया है।

रक्तवह स्त्रोतो दुष्टि के हेतु[2]आचार्य चरक ने रक्त वह स्त्रोतस के दुष्ट होने के निम्न कारण बतलाए हैं-

1. विदाही अन्नपान का सेवन।
2. स्निग्ध, ऊष्ण एवं द्रव भोजन का सेवन।
3. अधिक धूप का सेवन।
4. अधिक वायु का सेवन।

रक्तवह स्त्रोतो दुष्टि के लक्षण[3]

रक्त वह स्त्रोतस् के दुष्ट होने पर कुष्ठ, विसर्प, पिड़िका, रक्तपित्त, रक्तप्रदर, गुदपाक, मेढ्रपाक, मुखपाक, प्लीहावृद्धि, गुल्म, विद्रधि, नीलिका, कामला, व्यङ्ग, पिप्लु, तिलकालक, दद्रु, चर्मदल, श्वित्र, पामा, कोठ, रक्तमण्डल आदि रक्त प्रदोषज विकार उत्पन्न होते हैं।

रक्तवह स्त्रोतो दुष्टि की चिकित्सा[4]

रक्त वह स्त्रोतसो के दुष्ट होने पर निम्न चिकित्सा करनी चाहिये-

---

1. "शोणितवहानां स्त्रोतसां यकृन्मूलं प्लीहा च।" (च.वि. 5/8)
2. "विदाहीन्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि द्रवानि च। रक्तवाहीनि दुष्यन्ति भजतां चातपानलौ॥" (च.वि. 5/14)
3. "वक्ष्यन्ते रक्तदोषजाः। कुष्ठ विसर्पपिडिका रक्तपित्तमसृग्दरः गुदमेढ्रास्यपाकश्च प्लीहा गुल्मोऽथ विद्रधिः। नीलिका कामला व्यङ्ग पिप्लवस्तिलकालकाः॥ दद्रुचर्मदलं श्वित्रं पामा कोठास्रमण्डलम्॥" (च.सू. 28/11-12)
4. "कुर्यात् शोणितरोगेषु रक्तपित्तहरी क्रियाम्। विरेकमुपवासं च स्रावणं शोणितस्य च॥" (च.सू. 24/18)

1. रक्तपित्त नाशक चिकित्सा
2. विरेचन
3. उपवास
4. रक्तमोक्षण

रक्त एवं पित्त को एक समान प्रकृति का कहा जाता है, अतः रक्तज विकारों में पित्तशामक चिकित्सा करने का विधान है तथा रक्त दुष्टि की समस्त क्रियाएं एक तरफ और रक्तमोक्षण दूसरी तरफ माना जाता है। रक्तमोक्षण से दूषित रक्त निकल जाने से विकार स्वयं शांत हो जाता है। (एकतस्तु क्रिया सर्वा रक्तमोक्षणमेकतः)

रक्तवह स्त्रोतस् की व्याधियाँ-रक्त वह स्त्रोतस् की प्रमुख व्याधियाँ निम्न हैं- इसका सविस्तार वर्णन आगे किया जायेगा।

1. रक्तपित्त
2. कामला
3. कुम्भकामला
4. हलीमक
5. दाह
6. रक्तगतवात

अध्याय-33

रक्तपित्त

(HAEMORRHAGIC BLOOD DISEASE)

व्याधि परिचय

रक्तपित्त मूलतः रक्तज विकार है। दूषित पित्त से दूषित रक्त का शरीर के किसी भी मार्ग से बाहर निकलना रक्तपित्त कहलाता है।

आयुर्वेदीय संहिता ग्रंथों में इसका सविस्तार वर्णन किया गया है। रक्तपित्त रोग में बिना किसी बाह्य आघात या चोट के, आभ्यान्तर कारणों से रक्तस्राव होता है। यह रक्तस्राव क्षय, क्षीण, यक्ष्मा, रक्तार्श, रक्तातिसार आदि में होने वाले रक्तस्राव से भिन्न है, क्योंकि इनमें सामान्य रक्त का स्राव किसी स्थानीय कारण से होता है दूषित रक्त का नहीं। रक्तपित्त में पित्त से दूषित रक्त का स्राव होता है। आचार्य चरक ने रक्तपित्त को 'महारोग' कहा है[1]; जिस प्रकार अग्नि तृणसमुदाय को शीघ्र नष्ट करती है उसी प्रकार रक्त पित्त शरीर को शीघ्र नष्ट करता है, अतः उसकी चिकित्सा शीघ्र करने का निर्देश आचार्य चरक ने दिया है।

निरुक्ति/व्युत्पत्ति

1. "रक्तं च पित्तं च इति रक्तपित्तम्"
2. "रक्तयुक्तं पित्तं रक्तपित्तम्"
3. रक्ते दूष्ये पित्तं रक्तपित्तम्
4. "रक्तवत् पित्तमिति रक्तपित्तं।" (चक्रपाणि)

अर्थात् रक्त का दूषित पित्त के द्वारा दुष्ट हो जाना रक्तपित्त है या पित्त द्वारा रक्त को दूषित करना रक्त पित्त है।

1. "महागंद महावेगमग्निवच्छीघ्रकारि च। हेतुलक्षणविच्छीघ्रं रक्तपित्तमुपाचरेत्॥" (च.चि. 4/5)
2. i) "संयोगात् दूषणात् तत्तु सामान्याद् गंधवर्णयोः। रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः॥" (च.चि. 4/8)
   ii) "संसर्गाल्लोहितप्रदूषणाल्लोहितगन्धवर्णानुविधानाच्च पित्तं लोहितपित्तमित्याचक्षते।" (च.नि. 2/4)

इस रोग का नाम रक्तपित्त रखने के निम्न हेतु हैं[1]-

1. **संयोगाद्**-इसमें पित्त रक्त के साथ संयुक्त रहता है तथा रक्त और पित्त एक दूसरे में मिल जाते हैं।
2. **दूषणात्**-इसमें पित्त के द्वारा रक्त की दुष्टि होती है।
3. **गंधवर्णयोः सामान्यात्**-रक्त एवं पित्त समान गंध एवं वर्ण के होते हैं अर्थात् दोष पित्त एवं दूष्य रक्त समान गंध व वर्ण वाले होने से इसका नाम रक्त पित्त है।

प्रमुखसंदर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता, निदान स्थान-अध्याय 2
2. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 4
3. सुश्रुत संहिता, उत्तर तंत्र-अध्याय 45
4. अष्टाङ्ग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 3
5. अष्टाङ्ग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 2
6. माधव निदान-अध्याय 9

निदान[1]

आचार्य चरक ने रक्त प्रकोपक समस्त कारणों एवं रक्तवह स्रोतो दुष्टि के हेतुओं को ही रक्तपित्त के निदान कहा है। जो निम्न प्रकार हैं-

1. ऊष्ण, तीक्ष्ण, क्षार, अम्ल, लवण एवं कटु पदार्थों का अति सेवन।
2. विदाही अन्नपान सेवन।
3. अति आतप सेवन।
4. अति वायु सेवन।
5. अति अध्वगमन।
6. अति व्यवाय।
7. शोक, भयादि मानसिक हेतु से रक्तपित्त की उत्पत्ति होती है।
8. दूध के साथ लवण व क्षार युक्त शाक का सेवन।
9. मूली, सर्षप, लहसुन, सुरा, सौवीरक, का अति प्रयोग।

विप्रकृष्ट निदान

रक्तपित्त का विप्रकृष्ट निदान रुद्र का कोप है।

सम्प्राप्ति[2]

उपर्युक्त निदानों के सेवन से बढ़ा हुआ पित्त जब अपने स्थान से निकलकर रक्त धातु में प्राप्त होता है तो वह पित्त रक्त से ही उत्पन्न होने के कारण उस रक्त में जाकर अधिक रूप में बढ़ जाता है एवं उसे दूषित भी कर देता है। उस पित्त की ऊष्मा से मांस आदि धातुओं से द्रवधातु निकलती है जिससे रक्तवाहिनियों में रक्त की वृद्धि हो जाती है एवं रक्त

1. "तस्योष्णं तीक्ष्णमम्लं च कटूनि लवणानि च। घर्मश्चान्नविदाहीश्च हेतुः पूर्वं निदर्शितः॥" (च.चि. 4/6)
2. "हेतुभिः समुत्क्लिष्टं पित्तं रक्तं प्रपद्यते। तद्योनित्वाद् प्रपन्नं च वर्धते तत्-प्रदूषयन्॥
   तस्योष्मणा द्रवो धातुर्धातोर्धातोः प्रसिच्यते। स्विद्यतस्तेन संवृद्धि भूयस्तदधिगच्छति॥" (च.चि. 4/7-8)

की प्रवृत्ति ऊर्ध्व या अधोमार्ग से या सम्पूर्ण रोमकूपों से होने लगती है।

सम्प्राप्ति चक्र-पित्त वर्धक व रक्तप्रकोपक निदान सेवन

↓

पित्तप्रकोप

↓

प्रकुपित पित्त द्वारा रक्त की दुष्टि

↓

पित्त एवं रक्त का एक दूसरे में मिलना

↓

मांसादि धातुओं का पित्त की ऊष्मा से पिघलकर द्रव धातु का स्रवण

↓

रक्तवाहिनियों में रक्त की वृद्धि

↓

रक्तपित्त-ऊर्ध्व मार्ग/अधः मार्ग

सम्प्राप्ति घटक

दोष - पित्त
दूष्य - रक्त
स्रोतस् - रक्तवह स्रोतस
अधिष्ठान - यकृत्, प्लीहा
स्रोतोदुष्टि - विमार्गगमन
स्वभाव - आशुकारी
अग्नि - रस, रक्त धात्वग्नि
साध्यासाध्यता - कृच्छ्रसाध्य

भेद

रक्त पित्त के भेद निम्न आधार पर किए गए हैं-

1. स्रावित रक्त के गुणों के आधार पर-रक्त पित्त के सात भेद वर्णित किए गए हैं[1]-

(i) वातिक (ii) पैत्तिक
(iii) कफज (iv) सन्निपातज
(v, vi, vii) द्वन्द्वज (3)

1. "सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलं कफान्वितम्। श्यावारुणं सफेनं च तनु रूक्षं च वातिकम्॥ रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसन्निभम्। भेचकागारधूमाभमज्ञानाभं च पैत्तिकम्॥ संसृष्टलिङ्गं संसर्गात्त्रिलिङ्गं सन्निपातिकम्॥" (च.चि. 4/11-12)

2. रक्त स्रवण के मार्ग के आधार पर-रक्तपित्त के तीन भेद वर्णित किए गए हैं-

(i) ऊर्ध्वग[1] (कफानुबंधी)
(ii) अधोग (वातानुबंधी)
(iii) सर्वग (तिर्यक् या उभय मार्गी) (वात-कफानुबंधी)

पूर्वरूप

आचार्यों ने रक्तपित्त के निम्न पूर्वरूप वर्णित किये हैं[2]-

1. अंगसाद (Malaise)
2. शीत सेवन की इच्छा (Desire to eat cold things)
3. कण्ठसे धुआं निकलने की प्रतीति (Feeling of fumes coming out of throat)
4. वमन (Vomiting)
5. लोहगन्धि निःश्वास (Iron metal smell in Breadth)

आचार्य चरक एवं वागभट्ट ने "मत्स्यगंधता" का वर्णन भी किया है। इसके अतिरिक्त निम्न पूर्वरूपों का उल्लेख भी मिलता है[3]-

1. स्वरभेद (Hoarseness of voice)
2. भुक्तान्न का विदाह (Burning due to consumed cereals)
3. अन्नद्वेष (Anorexia)
4. हाथ पैरों में जलन (Burning in palms & feet)
5. अंगमर्द (Bodyache)
6. स्वप्न में रक्त-नील-पीत-श्याव वर्ण तथा तेज प्रकाश वाली वस्तुएं दिखाई देना। (To visualize Subjects of different colours in sleep)
7. शुक्ताम्ल उद्गार (Acid eructations)

लक्षण

रक्तपित्त के दोषानुसार विभिन्न भेदों के लक्षण निम्न प्रकार हैं-

वातिक रक्तपित्त के लक्षण

वातिक रक्तपित्त से पीड़ित रोगी के विभिन्न मार्गों से स्रवित रक्त निम्न वर्ण का होता है-

(i) श्याम (Blackish Blood)
(ii) अरुण (Blackish Brown/Blood)
(iii) फेनयुक्त (Foamy Blood)
(iv) द्रव (Liquid or Dilute Blood)
(v) रुक्ष (Dry Blood)

1. "ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं पवनानुगम्। द्विमार्गं कफवाताभ्यामुभाभ्यामनुबध्यते॥" (च.नि. 4/24)
2. "सदनं शीतकामित्वं कण्ठधूमायनं वमिः। लोहगन्धिश्च निःश्वासो भवत्यस्मिन् भविष्यति॥" (सु.उ.त. 45/8)
3. "तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति-तद्यथा-अन्नाभिलाषः, भुक्तस्य विदाहः शुक्ताम्लगन्धरसउद्गार, छर्देरभीक्ष्णमागमनं... लोहितमत्स्यामगन्धित्वमिव....स्वप्ने दर्शनमभीक्ष्णमिति॥" (च.नि. 2/6)

2. पैत्तिक रक्तपित्त के लक्षण-पैत्तिक रक्तपित्त के रोगी के विभिन्न मार्गों से स्रवित रक्त निम्न वर्ण का होता है-

(i) कषायाभ (Blackish)
(ii) कृष्ण (Blackish)
(iii) गोमूत्र सन्निभ (Cow's urine like blood)
(iv) ग्रहधूमवत् (Smoke like blood)
(v) अंजनवत् (Dark black coloured blood)

3. कफज रक्तपित्त के लक्षण-कफज रक्तपित्त के रोगी के विभिन्न मार्गों से स्रवित रक्त निम्न वर्ण का होता है-

(i) कफ युक्त (Mucoid blood)
(ii) सान्द्र (Viscous blood)
(iii) पाण्डु वर्ण (Yellowish blood)
(iv) स्निग्ध (Greasy in touch)
(v) पिच्छिल (Sticky blood)

4. **द्वन्द्वज रक्तपित्त के लक्षण**-द्वन्द्वज रक्त पित्त से पीड़ित रोगी के विभिन्न मार्गों से स्रवित रक्त का वर्ण दो दोषों के मिश्रित लक्षणानुसार होता है।

5. **सन्निपातिक रक्त पित्त के लक्षण**-सन्निपातिक रक्त पित्त के रोगी में तीनों दोषों के सम्मिलित लक्षण मिलते हैं।

दोषों की गतियों के अनुसार रक्तपित्त के लक्षण

1. **ऊर्ध्वग रक्त पित्त के लक्षण**-ऊर्ध्वग रक्त पित्त कफ संसृष्ट होता है, अत: इसके लक्षण निम्न होते हैं-

(i) मुख, नासिका, नेत्र एवं कर्ण से रक्त प्रवृत्ति (Bleeding per mouth, nose, eyes & ears)
(ii) स्रवित रक्त स्निग्ध, पिच्छिल, सान्द्र, पाण्डु वर्ण एवं कफ युक्त होता है।

2. **अधोग् रक्तपित्त के लक्षण**-अधोग रक्तपित्त वातानुबंधी होता है, अत: इसमें निम्न लक्षण मिलते हैं।

(i) गुद, मेढ़ एवं योनि मार्ग से रक्त प्रवृत्ति (Bleeding per anus, penis & vagina)
(ii) स्रवित रक्त का वर्ण श्याव, अरुण, रुक्ष तनु एवं फेनिल होता है।

3. **उभय मार्गी रक्तपित्त के लक्षण**-उभयमार्गी रक्त पित्त में वात-कफ का सम्बन्ध होता है, अत: इसके निम्न लक्षण इस प्रकार हैं-

(i) ऊर्ध्व या अधोमार्ग से रक्त प्रवृत्ति (Bleeding per month, nose, eyes, ear, or per anus, penis & vagina)
(ii) त्रिर्यक् मार्ग अर्थात् रोमकूपों से रक्त प्रवृत्ति (Bleeding per hair follicles)
(iii) स्रवित रक्त का वर्ण श्याम, स्निग्ध, पिच्छिल तनु एवं फेनिल होता है।

रक्तपित्त की साध्यासाध्यता

रक्तपित्त की साध्यता एवं असाध्यता निम्न है-

साध्य रक्त पित्त

1. एक दोषज रक्तपित्त साध्य है।
2. **ऊर्ध्वग् रक्तपित्त**-चूंकि ऊर्ध्व रक्तपित्त में पित्त के साथ-साथ कफ का भी संसर्ग होता है एवं "प्रतिमार्ग च हरणं रक्तपित्तं विधीयते" सिद्धान्तानुसार ऊर्ध्वग् रक्तपित्त में विरेचन कर्म से दोषों की गति प्रतिलोम की जाती है तथा "विरेचन पित्त हराणां श्रेष्ठम्" से विरेचन कर्म पित्त को निकालता है, अत: ऊर्ध्वग रक्त पित्त का वेग शीघ्रता से रुक जाता है[1]।
   ऊर्ध्वग रक्तपित्त के शमनार्थ प्रयुक्त औषधियां भी प्रचुर मात्रा में मिलती हैं, क्योंकि पित्त शामक तिक्त, कषाय मधुर रस वाली औषधियां पित्त के साथ-साथ कफ शामक भी होती हैं।
3. यदि रोगी बलवान है तो रक्तपित्त साध्य होता है[2]।
4. नवीन एवं अल्पवेग वाला रक्तपित्त साध्य है[2]।
5. हेमन्त एवं शिशिर ऋतु में उत्पन्न रक्त पित्त भी साध्य होता है[2]।
6. उपद्रव रहित रक्तपित्त साध्य है।

याप्य रक्तपित्त

1. अधोग् रक्तपित्त याप्य होता है[3]। क्योंकि इसमें वायु का सम्बन्ध होता है एवं अधोग रक्तपित्त में वमन कराया जाता है तथा वमन वायु का शमन करने में हितकारी नहीं है तथा पित्तशामक तिक्त कषाय एवं मधुर रस की औषधियों में केवल मधुर रस की वात शामक है। अत: औषधियां भी अल्प होने के कारण अधोग रक्तपित्त साध्य है[4]।
2. द्विदोषज रक्तपित्त भी याप्य होता है।

---

1. "साध्यं लोहितपित्तं तद्यदूर्ध्वं प्रतिपद्यते। विरेचनं तु पित्तस्य जयार्थे परमौषधम्॥
   यश्च तत्रान्वय: श्लेष्मा तस्य चानधमं स्मृतम्॥" (च.वि. 2/12)
2. "एकमार्गं बलवतो नातिवेगं नवोत्थितम्। रक्तपित्तं सुखे काले साध्यंस्यान्निरुपद्रवम्॥" (च.चि. 4/22)
3. "याप्यं त्वधोगं।" (च.चि. 4/15)
4. "अधोगे त्वेक एव मधुरो वात-पित्तप्रशमनः, वमनं च प्रति मार्गत्वेन वेगमात्रविरोधि, न तु पित्तहरणम्॥" (मधुकोश)

असाध्य रक्तपित्त

1. उभयमार्गी रक्तपित्त असाध्य होता है[1]।
2. त्रिदोषज रक्तपित्त असाध्य होता है।
3. उभयमार्गी रक्तपित्त में विपरीत मार्ग की प्रवृत्ति तथा विपरीत दोष संसर्ग के कारण वमन व विरेचन दोनों विरुद्धोपक्रम होने से निषिद्ध हैं तथा ऐसी शामक औषधियां भी उपलब्ध नहीं हैं जो एक साथ तीनों दोषों को शांत कर सकें।
4. मंदाग्नि युक्त तथा अतिवेग युक्त त्रिदोषज रक्तपित्त असाध्य होता है[2]।
5. रोग से शरीर क्षीण होने पर, वृद्ध तथा अनशन करने वाले व्यक्ति का रक्तपित्त भी असाध्य होता है[3]।
6. मांस प्रक्षालित जल के समान रंग वाला, सड़ा हुआ दुर्गन्धि, कीचड़ मिश्रित जल के समान, वसा तथा पूय मिश्रित रक्त सम, यकृत व पक्व जम्बू सम वर्ण युक्त रक्त का स्राव तथा इन्द्रधनुष के समान विविध वर्णों वाला रक्तपित्त भी असाध्य होता है[4]।
7. जो रक्तपित्त का रोगी सम्पूर्ण अदृश्य वस्तुओं तथा आकाश को रक्त वर्ण का देखता है वह भी असाध्य होता है।
8. अरिष्ट लक्षणों से युक्त तथा समस्त उपद्रव युक्त रक्तपित्त असाध्य होता है[5]।
9. क्षीण व्यक्ति से जब खांसते-खांसते रक्त निकल जाता हो उसका रक्तपित्त असाध्य होता है[6]।

उपद्रव[7]-आचार्य सुश्रुत ने रक्तपित्त के निम्न उपद्रव वर्णित किए हैं-

1. दौर्बल्य (Weakness)
2. श्वास (Dyspnoea)
3. कास (Cough)

1. "उभयमार्गं च विरुद्धोपक्रमत्वादेवासाध्यम्।" (मधुकोश)
2. "यत्त्रिदोषमसाध्यं तन्मन्दाग्नेरतिवेगवत्।"
3. "व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानशनश्च यत्॥" (च.चि. 4/14)
4. "तुल्यं कुणपगन्धेन रक्तं कृष्णमतीव च। संसृष्टं कफवाताभ्यां कण्ठे सज्जति चापि यत्॥ हारिद्रनीलहरितताम्रैर्वर्णैरुपद्रुतम्।" (च.चि. 4/19)
5. "यच्चाप्युपद्रवैः सर्वैर्यथोक्तैः समभिद्रुतम्।" (च.चि. 5/18)
6. "क्षीणस्य कासमानस्य यच्च तच्च न सिद्धयति।" (च.चि. 4/19)
7. "दौर्बल्यश्वासकासज्वरवमथुमदा... वमथुमदास्तन्द्रितादाहमूर्च्छा। भुक्ते चात्रे विदाहस्त्व घृतिरपि सदा हृद्य तुल्या च पीड़ा॥ तृष्णा कण्ठस्य भेदः शिरसि च दवनं पूतिनिष्ठीवनं च। द्वेषो भक्तेऽविपाको विरतिरपिरते रक्तपित्तोपसर्गाः॥" (सु.उ.त. 45/10)

4. ज्वर (Fever)
5. वमन (Vomiting)
6. मद (Mental Confusion)
7. पाण्डु (Anaemia)
8. दाह (Burning sensation)
9. मूर्च्छा (Fainting)
10. भोजनोत्तर तीव्र विदाह (Severe burning after meals)
11. अधृति (Mental illness)
12. हृदप्रदेश में पीड़ा (Pain in chest)
13. तृष्णा (Polydypsia)
14. अतिसार (Diarrhoea)
15. शिरोभिताप (Headache)
16. पूतिष्ठीवन (Suppurated sputum expectoration)
17. भक्तद्वेष (Anorexia)
18. अविपाक (Indigestion)
19. क्षरित रक्तपित्त में विकृति (Defect in Discharged Blood)

चिकित्सा सिद्धान्त

आचार्यों ने रक्तपित्त की चिकित्सा के निम्न सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं-

1. जिस रोगी में मांस बल क्षीण न हो, उचित रूप से भोजन करता हो ऐसे व्यक्ति के दुष्ट उभड़े हुए रक्तपित्त को प्रारंभ में रोकना नहीं चाहिये। अर्थात् बलवान रोगी में स्तम्भन नहीं करना चाहिये[1]।
2. आमदोष बढ़ने से उभरा हुआ पित्त यदि रक्तपित्त उत्पन्न करे तब आमदोष पाचनार्थ प्रारंभ में लंघन कराना चाहिये[2]।
3. ऊर्ध्वग् रक्तपित्त में लंघन तथा अधोग रक्तपित्त में तर्पण कराना चाहिये[3]।
4. चूंकि ऊर्ध्वग् रक्तपित्त में कफानुबंध होता है एवं स्निग्ध, ऊष्ण निदानों के सेवन से उत्पन्न होता है अतः लंघन हितकर है।

1. "अक्षीणबलमांसस्य रक्तपित्तं यदभ्रतः। तद्दोषदुष्टमुत्क्लिष्टं नादौ स्तम्भनमर्हति॥" (च.चि. 4/25)
2. "प्रायेण हि समुल्लिष्टमामदोषाच्छरीरिणाम्। वृद्धि प्रयाति पित्तासृक्तस्मात्तलंघनमादितः॥" (च.चि. 4/29)
3. "मार्गौदोषानुबंधं च निदानं प्रसमीक्ष्य च। लंघनं रक्तपित्तादौ तर्पणं वा प्रयोजयेत्॥" (च.चि. 4/30)

अधोग रक्तपित्त में वातानुबंध होता है तथा रुक्ष एवं ऊष्ण निदानों के सेवन से उत्पन्न होता है, अतः वृहंण या तर्पण हितकर है, क्योंकि लंघन से वात वृद्धि होती है[1]।

5. लंघनीय रोगी में लंघन के पश्चात् ऊर्ध्वग रक्तपित्त के रोगी में तर्पण तथा अधोग रक्तपित्त में पेया हितकर होती है। तर्पणार्थ द्राक्षा, दुग्ध, मांसरस, दालें, अम्लपदार्थ, गंध द्रव्यादि का प्रयोग हितकर है[2]।
6. **रक्तपित्त में संशोधन का विचार**[3]-संतर्पण से उत्पन्न रक्त पित्त एवं बलवान रोगी तथा निरुपद्रव रोगी में संशोधन कर्म हितकर है। ऊर्ध्वग रक्तपित्त में विरेचन तथा अधोग रक्तपित्त में वमन कर्म श्रेष्ठ है। ऊर्ध्वग एवं अधोग रक्तपित्त में विपरीत मार्ग से संशोधन कराने से रक्तस्राव की प्रवृत्ति रुक जाती है[4]।
7. रक्तपित्त के रोगी में अम्ल द्रव्य हितकारी होते है[5]।
8. रक्तपित्त के रोगी में यदि रक्त की गांठ पड़ गई हो तो कबूतर के बीट का चूर्ण मधु के साथ देने से ग्रंथि विलयित हो जाती है[6]।
9. रक्त पित्त का रोगी यदि क्षीण, गर्भिणी, बालक, वृद्ध, सूर्य संताप से पीड़ित तथा अतिश्रम से क्षीण हुआ हो तब उसमें संशोधन कर्म न कराकर संशमन औषियों का प्रयोग कराना चाहिये[7]।

चिकित्सा-रक्तपित्त की संशोधन व संशमन चिकित्सा निम्नानुसार वर्णित है-

1. संशोधन चिकित्सा

(i) वमन (अधोग)
(ii) विरेचन (ऊर्ध्वग)
(iii) स्तम्भन अवपीड़ नस्य

1. "ऊर्ध्वगे शुद्धकोष्ठस्य तर्पणादिःणादिक्रमो हितः। अधोगते यवाग्वादिर्न चेत्स्यान्मारुतो बली॥" (च.चि. 4/61)
2. "ऊर्ध्वगे तर्पणं पूर्वं पेयां पूर्वमधोगते। कालसात्म्यानुबन्धज्ञो दद्यात्प्रकृति मल्पवित्॥" (च.चि. 4/32)
3. "अक्षीणबल मांसस्य यस्य सन्तर्पणोत्थितम्। बहुदोषं बलवतो रक्तपित्तं शरीरिणः॥
काले संशोधनार्हस्यं तद्वेन्निरुपद्रवम्। विरेचनेनोर्ध्वभागमधोगं वमनेन च॥" (च.चि. 4/55-56)
4. "प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्तं विधीयते।"
5. "मन्दाग्नेरम्लसात्म्याय तत् साम्लमपि कल्पयेत्॥" (च.चि. 4/35)
6. "सक्षौद्रं ग्रथिते रक्ते लिह्यात् पारावतं शकृत्।" (च.चि. 4/72)
7. "बलमांसपरीक्षीणं शोकभाराध्वकर्षितम्। ज्वलनादित्यसंतप्तमन्यैर्वा क्षीणमामयैः॥
गर्भिणीं स्थविरं बालं रुक्षाल्पप्रमिताशिनम्। अवम्यमविरेच्यं वा यं पश्येद्रक्तपित्तिनम्॥
शोषेण सानुबंधं वा तस्य संशमनी क्रिया॥" (च.चि. 4/62-64)

2. संशमन चिकित्सा-रक्तपित्त की चिकित्सा में प्रयुक्त प्रमुख शास्त्रोक्त संशमन योगों का वर्णन निम्नानुसार है-

1. रस/भस्म/पिष्टी- मात्रा - 125 - 250 मि.ग्रा.
अनुपान - शहद/जल

(i) रक्तपित्त कुलकण्डन रस- पारद, गंधक, प्रवालभस्म, स्वर्णभस्म, नागभस्म, वंग।
(ii) रक्तपित्तान्तक रस- अभ्रकभस्म, तीक्ष्ण लौहभस्म, पारद, हरताल, गंधक।
(iii) पित्तान्तक रस- अभ्रक, लौह, जावित्री, जायफल, जटामांसी, कूठ, तालीस पत्र।
(iv) कर्पदको रस- रस सिन्दूर, कार्पास फूल व कर्पद।
(v) बोल पर्पटी- बोल, पारद, गंधक।
(vi) बोलबद्ध रस- बोल, पारद, गंधक, लोध्र, नागकेशर।
(vii) गैरिक भस्म- स्वर्ण गैरिक।
(viii) शंखभस्म- शंख।
(ix) चन्द्रकलारस- पारद, ताम्रभस्म, अभ्रकभस्म, गंधक एवं काष्ठौषधियां।
(x) प्रवाल भस्म- प्रवाल।
(xi) प्रवाल पिष्टी- प्रवाल।
(xii) प्रवाल पंचामृत- प्रवाल, मुक्ता, शंख, शुक्ति, वराटिका।
(xiii) तृणकान्त पिष्टी- तृणकान्त।

2. वटी-मात्रा - 250 - 500 मि.ग्रा.
अनुपान - जल

(i) एलादि वटी- यक्ष्मोक्त।
(ii) तीक्ष्णादि वटी- शुद्ध खर्पर, अभ्रकभस्म, रससिन्दूर, तीक्ष्ण लौहभस्म, लाक्षा।

3. चूर्ण- मात्रा - 3 - 6 ग्राम
अनुपान - जल/दुग्ध

(i) लाक्षा चूर्ण- लाक्षा।
(ii) उशीरादि चूर्ण- खस, लोध्र, पद्मकाष्ट, प्रियंगु।
(iii) आटरुषादि चूर्ण-अडूसा, मुनक्का, हरड़।
(iv) प्रियग्वांदि चूर्ण- अडूसा, फिटकरी, प्रियंगु, रसौंत।

4. क्वाथ/आसव-अरिष्ट-मात्रा - 20 - 30 मि.ली.
अनुपान - जल

(i) अटरुषादि क्वाथ- अडूसा, द्राक्षा, हरड।
(ii) वासकादि क्वाथ- वासा।
(iii) पद्मकादि क्वाथ- पद्मकाष्ठ, कमलकेशर, लोध्र, नीलकमल, नागकेशर।

(iv) द्राक्षारिष्ट- द्राक्षा, महुआ, धातकी, त्रिफला, आमलकी।
(v) पत्रांगासव- पत्रांग, नागकेशर, मुस्तक, पद्मकाठ।
(vi) लोध्रासव- लोध्र, मंजीठ, हरिद्रा, प्रियंगु।
(vii) उशीरासव- खस, लोध्र, नेत्रवाला, प्रियंगु, पद्माख।

5. घृत- मात्रा - 10 - 30 मि. ली.
अनुपान - ऊष्ण जल/दुग्ध
(i) वासा घृत- वासा, गोदुग्ध, गोघृत।
(ii) दूर्वाद्य घृत- दूर्वा, कमलकेशर, मंजीठ, खांड घृत।
(iii) शतावरी घृत-शतावरी, जीभक, ऋषभक, पर्णीद्वय।
(iv) सप्तप्रस्थ घृत-विदारीकन्द, शतावरी, द्राक्षा, आंवला, इक्षु रस।
(v) कामदेव घृत-असगंध, शतावरी, विदारीकंद, शालपर्णी, पीपल।

6. पाक/अवलेह/ खण्ड-मात्रा - 15 - 20 ग्राम
अनुपान - दुग्ध
(i) खण्ड कूष्माण्डावलेह- कूष्माण्ड, आंवला।
(ii) शर्कराद्य लौह- तिल, शर्करा, त्रिकटु, त्रिफला, त्रिमद, लौह।
(iii) समशर्कर लौह- लौहभस्म, विडंग, शहद, गोघृत।
(iv) वासाखण्ड- अडूसा, खांड, त्रिकटु, त्रिजात।
(v) वासाखण्ड कूष्माण्ड- वासा, त्रिकटु, त्रिजात, घृत, पेठा।

आदर्श व्यवस्था पत्र

ऊर्ध्वग रक्तपित्त में

1. प्रातः सायम्
शु.गैरिक चूर्ण - 500 मि.ग्रा.
कामदुधारस - 250 मि.ग्रा.
लाक्षा चूर्ण - 3 ग्राम
शहद से 1 × 2 मात्रा
2. भोजनोत्तर
चूषणार्थ - एलादि वटी 4 (दिनभर में)
उशीरासव - 20 मि.लि.
सम जल से 1 × 2 मात्रा
3. कूष्माण्डावलेह - 20 ग्राम
दूध से 1 × 2 मात्रा

अधोग रक्तपित्त में

1. प्रातः सायम्
रक्तपित्तान्तक रस - 250 मि.ग्रा.
बोल पर्पटी - 250 मि.ग्रा.
मोचरस - 3 ग्राम
मधु से 1 × 2 मात्रा
2. भोजनोत्तर
पंत्रागासव - 20 मि.लि.
सम जल से 1 × 2 मात्रा
3. वासाघृत - 20 मि.लि.
दुग्ध से 1 × 2 मात्रा

पथ्य एवं अपथ्य- रक्तपित्त के रोगी में निम्न पथ्य एवं अपथ्य निर्दिष्ट हैं-

पथ्य

आहार	विहार
पुरानाशालि चावल, गेहूँ, धान का लावा, साबूदाना, मूंग, मसूर, लौकी, परवल, पतली मूली, पलाण्डु, भिण्डी, सेमल का पुष्प, कूष्माण्ड, बकरी का दूध, गोदुग्ध, जांगल पशु पक्षियों का मांसरस, घृत, मक्खन, आंवला, केला, सिंघाड़ा, अंगूर, मुनक्का, कच्चा नरियल, पेठा, इक्षु रस, चीनी, मिश्री आदि।	शीतल जल से स्नान, शीत वायु सेवन, चन्दन का लेप, मुक्ता मणियों के हार का धारण, चन्द्रमा की शीतल किरणों का सेवन, वैदूर्य, मुक्ता, मूंगा, आदि का धारण करना तथा इनसें सिद्ध जल का प्रयोग, वमन, विरेचन, नस्य आदि।

अपथ्य

आहार	विहार
तिल, उड़द, कुलथी, गुड़ सरसों, राई, दही, क्षार, लवण, कटुपदार्थ, विदाही, पदार्थ, गर्ममसाला, विरुद्ध भोजन, मत्स्य सेवन, आतप सेवन, अग्नि सेवन, मैथुन, स्वेदन, वेगधारण, आदि।	वेगधारण, व्यायाम, भय, क्रोध, चिन्ता, अति स्वेदन आदि।

विशिष्ट पेय पथ्य-खस, चन्दन, पर्पट से सिद्ध जल अथवा इनका हिम या तण्डुलोदक का पान रक्तपित्त के रोगी में विशेष लाभप्रद है।

Latest Developments
Haemorrhagic Blood Disorders

आधुनिक मतानुसार रक्तपित्त को Haemorrhagic blood disorder कहा जाता है। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में वर्णित विभिन्न व्याधियों का रक्तपित्त से साम्य हो सकता है-

I. ऊर्ध्वग रक्तपित्त

1. नासामार्ग से रक्त स्राव (Epistaxis)
2. मुख मार्ग से रक्त स्राव (Haemetemesis)
3. कर्ण से रक्त स्राव (Otorrhagia)

II. अधोग रक्तपित्त

1. **गुद मार्ग से रक्त स्राव-** Anal bleeding अनेक कारणों से हो सकती है। यथा-Piles, Bacillary dysentary, Melina तथा रक्तातिसार में अधोग मार्ग से रक्तस्राव होता है।
2. मूत्र मार्ग से रक्तस्राव (Haematuria)
3. योनि मार्ग से रक्तस्राव (Menorrhagia or Metrorrhagia)

आयुर्वेदोक्त रक्तपित्त एक रक्तज व्याधि है। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में वर्णित Haemorrhagic disorders किसी रोग के लक्षण हैं। अत: यह निश्चय करना आवश्यक होता है कि स्रवित रक्त रक्तपित्त के कारण है या अन्य व्याधि के कारण।

क्र.स.	रक्तपित्त	अन्य रक्तस्रावी रोग
1.	रक्तपित्त के रक्त मिले अन्न को कुत्ते तथा कौआ नहीं खाते।	इनके रक्त से मिश्रित अन्न को कुत्ता एवं कौआ खाते हैं।
2.	रक्तरंजित वस्त्र सूखने पर गरम जल से धोने से दाग नहीं छूटता।	इनके रक्त का दाग आसनी से छूट जाता है।
3.	रक्तपित्त के पूर्वरुप मिलते हैं।	रक्तपित्त के पूर्वरूप नहीं मिलते।
4.	पूर्व में किसी व्याधि का इतिहास नहीं होता।	पूर्व में किसी व्याधि का इतिवृत्त मिलता है।
5.	पित्त से दूषित रक्त निकलता है।	शुद्ध रक्त निकलता है।

Management : Principles

1. To treat basic cause of haemorrhage.
2. Patient should be hospitalised because of unpredictability regarding recurrence of bleeding.
3. Fluid resuscitation would have to be organised with saline, plasma expanders or blood transfusion as indicated.

अध्याय-34

कामला, कुम्भकामला एवं हलीमक
JAUNDICE

व्याधि परिचय

कामला रोग में रोगी की त्वचा, नेत्र, नख एवं मुख का वर्ण हारिद्र-पीत हो जाता है। कामला को रक्तज एवं पित्तज विकारों में गिना गया है, संहिता ग्रंथों में इसका वर्णन उपलब्ध है तथा स्वतंत्र एवं परतंत्र भेद से वर्णित है। अर्थात् पाण्डु रोगी का पित्तवर्धक पदार्थों के सेवन से उत्पन्न कामला परतन्त्र तथा पाण्डु के विना कामला उत्पन्न होना स्वतंत्र कामला कहलाता है। संहिताओं में सर्वत्र पाण्डु रोग के साथ ही कामला का वर्णन किया गया है। सुश्रुत संहिता में कामला को पाण्डु रोग के अतिरिक्त अन्य रोगों का उपद्रव भी माना गया है।

आचार्य चरक ने पाण्डु की प्रवर्धमानावस्था को कामला कहा है तथा आचार्य हारीत ने भी कामला तथा हलीमक को पाण्डु का भेद माना है[1]। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार कामला का साम्य Jaundice से किया जाता है। आयुर्वेद में शाखाश्रित एवं कोष्ठाश्रित कामला का उल्लेख मिलता है[2]। शाखाश्रित कामला में प्रवृद्ध पित्त अपने सामान्य आशय में न जाकर शाखाओं (रस, रक्त, त्वचादि) में चला जाता है एवं कफ से मार्ग आवृत्त होने के कारण पुन: कोष्ठ में नहीं जा पाता। ऐसी दशा में रोगी पित्त विहीन पुरीष (White coloured stool) का त्याग करता है। इसे "तिल पिष्टनिभं" संज्ञा दी गई है। यही आधुनिकोक्त Obstructive Jaundice होता है।

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 16
2. सुश्रुत संहिता, उत्तर तंत्र-अध्याय 14
3. अष्टाङ्ग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 13
4. अष्टांङ्ग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 16
5. माधव निदान-अध्याय 8
6. भाव प्रकाश-अध्याय 8

1. "द्वे कामला चैव हलीमकश्च स्मृतौऽष्टधैर्वे खलु पाण्डु रोगा।" (हारीत संहिता)
2. "कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता॥" (च.चि. 16/36)

निदान[1]

आचार्य चरक ने पाण्डु रोग के समस्त निदानों को कामला रोग का निदान कहा है जो निम्न प्रकार हैं-

1. क्षार-अम्ल-लवण- अति उष्ण, विरुद्ध एवं असात्म्य भोजन।
2. अति मद्यपान।
3. निष्पाव, माष, पिण्याक, तिल तैल का अति सेवन।
4. दिवास्वप्न, व्यायाम, मैथुन एवं वेगधारण।
5. ऋतु वैषम्य।
6. काम, चिन्ता, भय, शोक, क्रोध।
7. रुक्ष, शीत, गुरु एवं मधुर पदार्थों का अतिसेवन।
8. पाण्डु रोगी के द्वारा पित्तवर्धक पदार्थों का अति मात्रा में सेवन कामला को उत्पन्न करता है।

सामान्य सम्प्राप्ति[2]

पाण्डु रोग से पीड़ित व्यक्ति यदि पित्त प्रकोपक द्रव्यों का अधिक मात्रा में सेवन करता है तो उसका बढ़ा हुआ पित्त रक्त एवं मांस को जलाकर कामला रोग को उत्पन्न करता है।

शाखाश्रित कामला की सम्प्राप्ति[3]

रुक्ष, शीतल, गुरु एवं मधुर आहार द्रव्यों के सेवन व अति व्यायाम करने से कफ के द्वारा मार्गावरोध होने से मूर्च्छित वायु पित्त को अपने स्थान (पित्ताशय) से निकालकर शाखाओं (त्वचा, रस, रक्तादि) में फेंक देती है। इस अवस्था में पित्त के कोष्ठ में नहीं जा पाने के कारण मल का वर्ण श्वेत होता है तथा पित्त के शाखाओं में जाने के कारण मूत्र, नेत्र, त्वचा का वर्ण हारिद्र सम पीला हो जाता है जिससे शाखाश्रित कामला उत्पन्न होता है।

सम्प्राप्ति चक्र

पाण्डु रोगी का पित्तवर्धक पदार्थों का सेवन
↓
पित्त प्रकोप
↓
रक्त एवं मांस का अधिक दूषण
↓
कामला रोग

---

1. "क्षाराम्लवणात्युष्णविरुद्धासात्म्यभोजनात्। निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवणात्॥ विदग्धेऽन्ने द्विवास्वप्नाद् व्यायामान्मैथुनात्तथा। प्रतिकर्मर्तुवैषम्याद् वेगानां च विधारणात्॥ कायचिन्ताभयक्रोधशोकोपहतचेतसः॥" (च.चि. 15/7-9)
2. "पाण्डुरोगीऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते। तस्य पित्तमसृग्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते॥" (च.चि. 16/34)
3. "रुक्षशीतगुरुस्वादुव्यायामैर्वेगनिग्रहैः। कफसंमूर्च्छितो वायुः स्थानात् पित्तं क्षिपेद्बली। हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक् श्वेतवर्चास्तदा नरः॥" (च.चि. 16/125-126)

सम्प्राप्ति चक्र-शाखाश्रित कामला

गुरु, शीत, मधुरादि निदान सेवन
↓
कफ वृद्धि व वृद्ध कफ द्वारा मार्गावरोध
↓
वात प्रकोप
↓
कुपित वात द्वारा पित्त को शाखाओं में फेंकना
↓
त्वचा, नेत्र, नख, मूत्र का वर्ण पीत होना
↓
मल का वर्ण श्वेत होना
↓
शाखाश्रित कामला

सम्प्राप्ति घटक

दोष - त्रिदोष (पित्तप्रधान)
दूष्य - रक्त, जीर्णावस्था में मांस
स्रोतस् - रक्तवह स्रोतस्
अधिष्ठान - त्वक्, नेत्र, नख, मूत्र
स्रोतोदुष्टि - संग, विमार्ग गमन
अग्नि - अग्निमांद्य
स्वभाव - चिरकारी
साध्यासाध्यता - साध्य
उद्भव - आमाशयोत्थ

कोष्ठ शाखाश्रित कामला सम्प्राप्ति

पाण्डु रोग या किसी अन्य कारण से रक्त कण दुर्बल हो जाने से अधिक संख्या में जल्दी-जल्दी टूटने लगें तो पित्त अधिक बनता है जो शाखा एवं कोष्ठ दोनों में जाता है एवं कोष्ठ शाखाश्रित कामला उत्पन्न होता है। कालान्तर में मांस धातु की दुष्टि होकर कुम्भकामला की उत्पत्ति होती है।

सम्प्राप्ति चक्र

निदान सेवन
↓
रक्तकण दुर्बलता
↓
प्रवृद्ध पित्त द्वारा रक्त कणों को अधिकाधिक तोड़ना
↓
पित्त का कोष्ठ व त्वचा, रक्तादि शाखाओं में जाना
↓
कोष्ठ शाखाश्रित कामला की उत्पत्ति

लक्षण[1]

आचार्यों ने कामला के निम्न लक्षण वर्णित किए हैं-

कोष्ठाश्रित कामला के लक्षण

1. त्वचा, नेत्र, नख, तथा मुख हारिद्र वर्ण के हो जाते हैं (Yellowish discolouration of nails, skin, eyes & mouth)
2. मूत्र तथा पुरीष पीत तथा रक्त वर्ण के हो जाते हैं (Yellowish & reddish discolouration of urine & stool)
3. अविपाक (Indigestion)
4. दौर्बल्य (Weakness)
5. सदन (Lassitude)
6. अरुचि (Anorexia)
7. दाह (Burning sensation)
8. त्वचा का वर्ण मेढ़क के समान हो जाता है। (Skin colour like frog's colour)

शाखाश्रित कामला के लक्षण[1]

1. नेत्र, मुख, त्वचा, व नख का वर्ण, हारिद्र पीत होना। (Dark yellowish coloured eyes, mouth, skin & nails)
2. पुरीष श्वेत होना (White coloured stool)
3. विबंध (Constipation)
4. आटोप (Flatulence)
5. अग्निमांद्य (Indigestion)
6. अरुचि (Anorexia)

1. "हारिद्रनेत्रः स भृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः। रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः॥ दाहाविपाकदौर्बल्यसदनारुचि कर्षितः। कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखायमताः॥" (च.चि. 16/35-36)
2. "हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक् श्वेतवर्चस्तदा नरः। भवेत् साटोपविष्टम्भो गुरुणा हृदयेन च॥ दौर्बल्यात्पाग्निपार्श्वातिहिक्काश्वासारुचिज्वरैः। क्रमेणाल्पेऽनुसज्येत पित्ते शाखासमाश्रिते॥" (च.चि. 16/127-128)

7. ज्वर (Fever)
8. दौर्बल्य (Weakness)
9. पार्श्वशूल (Chest pain)
10. हिक्का (Hiccough)
11. श्वास (Dyspnoea)

कामला के भेद[1]

आचार्यों ने कामला के निम्न तीन भेद वर्णित किए हैं-

1. शाखाश्रित कामला (Obstructive Jaundice)
2. कोष्ठाश्रित कामला (Haepatic/Infective Jaundice)
3. कोष्ठशाखाश्रित कामला (Haemolytic Jaundice)

आचार्य वाग्भट्ट ने निम्न दो भेद और वर्णित किए हैं[2]।

1. स्वतंत्र कामला (Hepatocellular Jaundice)
2. परतंत्र कामला (Haemolytic Jaundice)

साध्यासाध्यता[3]

निम्न लक्षणों से युक्त कामला के रोगी में कामला असाध्य होता है-

1. मल व मूत्र में कृष्ण व पीत वर्ण होना।
2. शोथ होना
3. नेत्र, मुख, वमन, मल व मूत्र रक्त वर्ण का होना।
4. मूर्च्छा, दाह, अरुचि, आनाह, तृष्णा, तन्द्रा, एवं मोह एक साथ होना।
5. नष्टाग्नि व नष्ट संज्ञ व्यक्ति का कामला असाध्य होता है।

कुम्भकामला एवं हलीमक

कुम्भकामला[4]

कुम्भकामला कामला का ही अवस्था भेद है। जब कोष्ठ शाखाश्रित कामला अधिक दिनों तक बना रहता है तब पित्त मांस धातु को भी दूषित कर देता है जिससे शरीर में अत्यधिक रुक्षता आ जाती है और कुम्भ रोग कामला उत्पन्न हो जाता है।

कुम्भ का अर्थ "कोष्ठ" है, अतः जीर्ण कोष्ठ शाखाश्रित कामला ही कुम्भकामला कहलाता है। आचार्य चरक ने बहुत अधिक समय के बाद कामला के जीर्ण हो जाने से सम्पूर्ण धातुओं में रुक्षता उत्पन्न हो जाने की स्थिति को कुम्भ कामला कहा है। इसके निम्न लक्षण वर्णित हैं[5]-

1. "कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता।" (च.चि. 16/36)
2. "स्वतंत्राऽपि कामला भवति।" (च.चि. 13/17)
3. "कृष्णपीतशकृन्मूत्रो भृशं शूनश्च मानवः। सरक्ताक्षिमुखच्छर्दिर्विण्मूत्रो यश्च ताम्यति॥ दाहारुचितृषानाहतन्द्रामोहसमन्वितः। नष्टाग्निसंज्ञः क्षिप्रं हि कामलावान् विपद्यते॥" (च.चि. 16/37-38)
4. "कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात् कुम्भकामला।" (च.चि. 16/37)
5. "कृष्णपीतशकृन्मूत्रो भृशं शूनश्च मानवः।" (च.चि. 16/37)

1. रोगी के पुरीष, मूत्र का रंग कृष्ण पीत वर्ण का हो जाता है। (Dark yellow coloured urine & stool)
2. अत्यधिक शोथ (Oedema)
3. शरीर में रुक्षता (Roughness & dryness of skin)
4. पर्वभेद (Pain in Joints)

इसे Chronic Jaundice with edema कह सकते हैं।

असाध्यता के लक्षण[1]

वमन, ज्वर, हल्लास, अरूचि, क्लम, श्वास एवं अतिसार से युक्त कुम्भ कामला असाध्य होता है। कुछ विद्वान इसकी तुलना Cirrhosis of liver से करते हैं, क्योंकि कामला जीर्ण होने के बाद यकृत् के ऊतकों में शुष्कता, खरता एवं कठोरता आ जाती है।

हलीमक[2]

आचार्य चरक ने इसे "हलीमक" तथा आचार्य सुश्रुत ने 'लाघरक' संज्ञा दी है। इसे वात-पित्त प्रधान बताया है। हलीमक को ही "पानकी" भी कहते हैं। शाखाश्रित कामला यदि लम्बे समय तक रहे तो धातुक्षय के कारण वात प्रकोप होकर हलीमक उत्पन्न होता है। आचार्य वागभट्ट ने इसे 'लोढर' नाम दिया है इसके निम्न लक्षण हैं-

1. रोगी का वर्ण हरित, श्याव व पीत होना। (Greenish yellow discoloration of skin)
2. बल एवं उत्साह हानि (Loss of strength & enthusiasm)
3. तन्द्रा (Drowsiness)
4. मंदाग्नि (Indigestion)
5. मंद ज्वर (Mild fever or low grade fever)
6. मैथुन में असमर्थता (Loss of Libido)
7. अंगमर्द (Bodyache)
8. श्वास (Dyspnoea)
9. तृष्णा (Polydypsia)
10. अरुचि (Anorexia)
11. भ्रम (Vertigo)

इसकी तुलना Chronic obstructive Jaundice से कर सकते हैं। इसमें ज्वर विशिष्ट लक्षण होता है।

1. "छर्द्यरोचकहल्लासज्वरक्लमनिपीड़ितः। नश्यति श्वासकासार्तो विड्भेदी कुम्भकामली॥" (मा.नि. 8/21)
2. "यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितश्यावपीतकः। बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मंदाग्नित्वं मृदुज्वरः। स्त्रीष्वप्रहर्षोऽङ्गमर्दश्च श्वासस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः। हलीमकं तद तस्य विद्यादनिलपित्ततः॥" (च.चि. 16/132-133)

पानकी[1]

इसमें अतिसार मुख्य लक्षण होता है। इसे सातिसार कामला कहा जा सकता है। इसके लक्षण निम्न प्रकार होते हैं-

1. अतिसार (Diarrhoea)
2. संताप (Burning)
3. बहिरन्तश्च पीतता (Cholaemia)
4. पाण्डुता (Pallor)
5. पाण्डु (Anaemia)

इसकी तुलना Chronic Jaundice complicated with Diarrhoea से कर सकते हैं।

चिकित्सा सिद्धान्त

आचार्यों ने पाण्डु एवं कामला की चिकित्सा के सिद्धान्त एक साथ ही वर्णित किये हैं जिन्हें निम्नानुसार वर्णित किया जा रहा है-

1. आचार्य चरक ने साध्य कामला की चिकित्सा में तिक्त द्रव्यों से सिद्ध मृदु विरेचन औषधियों के द्वारा संशोधन करने का निर्देश दिया है[2]।
2. विभिन्न घृतों के सेवन के पश्चात् सम्यक् स्निग्ध रोगी को गोमूत्र के साथ दूध मिलाकर या केवल दूध पिलाकर विरेचन कराना चाहिये[3]।
3. कामला रोगी को प्रातःकाल त्रिफला का स्वरस या गुडुची का स्वरस या दारुहरिद्रा का स्वरस या निम्बपत्र स्वरस में मधु मिलाकर सेवन कराना चाहिये[4]।
4. गोमूत्र प्रयोग[5]-
   1. गोमूत्र को त्रिफला क्वाथ में मिलाकर।
   2. गोदुग्ध में गोमूत्र मिलाकर।
   3. भैंस के दूध में भैंस का मूत्र मिलाकर।

   उपरोक्त योगों को 15 दिन तक प्रयोग कराना चाहिये।

1. "संतापो भिन्नवर्चस्त्वं बहिरन्तश्च पीतता। पाण्डुता नेत्रयोर्यस्य पानकीलक्षणं भवेत॥" (मा.नि. 8/23)
2. "संशोध्या मृदुभिस्तिक्तैः कामली तु विरेचनैः।" (च.चि. 16/40)
3. "स्नेहैरेरिभिरुपक्रम्य स्निग्धं मत्वा विरेचयेत्। पयसा मूत्रयुक्तेन बहुशः केवलेन वा॥" (च.चि. 16/55)
4. "त्रिफलाया गुडुच्या वा दार्व्या निम्बस्य वा रसम्। शीतं मधुयुतं प्रातः कामलार्तः पिबेन्नरः।" (च.चि. 16/63)
5. "क्षीरमूत्रं पिबेत पक्षं गव्यं माहिषमेव वा। पाण्डुगोमूत्रयुक्तं वा सप्ताहं त्रिफलारसम्॥" (च.चि. 16/64)

5. कामला रोग से पीड़ित व्यक्ति यदि तिल के कल्क के समान मल त्याग करता है तब कफ के द्वारा पित्त का मार्ग रुकने से, कफ नाशक औषधों का प्रयोग करके पित्त की शांति करनी चाहिये[1]।
6. मार्गावरोध दूर करने के पश्चात् जब तक मल का रंग प्राकृत न हो जाए एवं वायु का शमन न हो जाए तब तक अत्यंत कटु, तीक्ष्ण, ऊष्ण, लवण के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये जिससे पित्त की अधिक वृद्धि होकर शाखागत पित्त कोष्ठगत हो जाए तथा पित्त के कोष्ठ में आ जाने से मल का वर्ण भी प्राकृत आने लगता है[2]।
7. हलीमक की चिकित्सा में प्रथम स्नेहन कराना चाहिये पश्चात् मृदु विरेचन कराकर वात-पित्त नाशक औषधियाँ एवं मधुर अन्न सेवन कराना चाहिये[3]।
8. हलीमक की चिकित्सा में यापना बस्ति का प्रयोग कराना चाहिये तथा जठराग्नि वर्धक उपाय करना चाहिये[4]।

चिकित्सा

कामला की संशोधन एवं संशमन चिकित्सा निम्नानुसार वर्णित है-

1. संशोधन चिकित्सा

(i) स्नेहन
(ii) विरेचन
(iii) यापना बस्ति/क्षीर बस्ति (हलीमक चिकित्सार्थ)

2. संशमन चिकित्सा

कामला की चिकित्सा में वर्णित शास्त्रोक्त संशमन चिकित्सा योग निम्नानुसार वर्णित है।

1. रस/भस्म/पिष्टी-मात्रा - 125 - 250 मि.ग्रा.
अनुपान - कोष्ण जल/शहद

(i) नवायस लौह-त्रिफला, त्रिकटु, त्रिमद, लौह।
(ii) धात्री लौह-आंवला, लौहभस्म, त्रिकटु, हरिद्रा।
(iii) निशा लौह-लौहभस्म, हरिद्रा द्वय, त्रिफला एवं कुटकी।
(iv) विडंगादि लौह-वायविङ्ग, त्रिफला, त्रिकटु, पिप्पली, लौहभस्म।

1. "तिलपिष्टनिभं यस्तु वर्चः सृजति कामली। श्लेष्मणा रुद्धमार्गं तत् पित्तं कफहरैर्जयेत॥" (च.चि. 16/124)
2. "कटुतीक्ष्णोष्णलवणैर्भृशाम्लैश्चाप्युपक्रमः। आ पित्तरागाच्छकृतो वायोश्चाप्रशमाद् भवेत्॥ स्वस्थानमागते पित्ते पुरीषे पित्त रंजिते। निवृतोपद्रवस्य स्यात् पूर्वः कामलिको विधिः॥" (च.चि. 16/130-131)
3. "विरिक्तो मधुरप्रायं भजेत् पित्तानिलापहम्।" (च.चि. 16/135)
4. "यापनाक्षीरवस्तिश्च शीलयेत्सानुवासनम्॥ मृद्विकारिष्ट योगांश्च पिबेद्युक्त्याऽग्निवृद्धये॥" (च.चि. 16/135-136)

(v) दार्व्यादि लौह-दारुहरिद्रा, त्रिफला, त्रिकटु, विडंग, लौहभस्म।
(vi) योगराज-त्रिफला, त्रिकटु, त्रिमद, शिलाजीत, स्वर्णमाक्षिक, रजतमाक्षिक, लौहभस्म।
(vii) शिलाजतु वटक-इन्द्रयव, त्रिफला, पटोलपत्र, मुस्तक, शिलाजीत।
(viii) इच्छाभेदी रस-शुण्ठी, मरिच, पारद, गंधक, टंकण, जयपाल बीज।
(ix) पुनर्नवा मण्डूर-पुनर्नवा, मण्डूर, निशोथ, त्रिकटु, विडंग, त्रिफला, दन्ती।
(x) मण्डूर वटक-त्रिफला, त्रिकटु, त्रिमद, दारुहरिद्रा, स्वर्णमाक्षिक, मण्डूरभस्म।
(xi) प्राणवल्लभ रस-हिंगुल, पारद, गंधक, केशर, लौह, ताम्र, कपर्द, शुद्धतुत्थ।

2. वटी-मात्रा - 250 - 500 मि.ग्रा.
अनुपान - कोष्ण जल

(i) आरोग्यवर्धनी वटी-त्रिफला, शिलाजीत, त्रिकटु, कुटकी, पारद, गंधक, लौह, अभ्रक एवं ताम्रभस्म।
(ii) पंचानन वटी-पारद, गंधक, ताम्रभस्म, गुग्गुलु, जयपाल।

3. चूर्ण-मात्रा - 3 - 6 ग्राम
अनुपान - जल/गोमूत्र

(i) दार्व्यादि चूर्ण-दारुहरिद्रा, त्रिफला, त्रिकट्।
(ii) त्रिफला चूर्ण-हरड़, बहेड़ा, आंवला।
(iii) विशालादि चूर्ण-इन्द्रायण, कुटकी, मोथा, मीठा कूठ।
(iv) मोथा चूर्ण-मुस्तक, लौहभस्म।

4. क्वाथ/आसव-अरिष्ट-मात्रा - 20 - 30 मि.ली.
अनुपान - जल

(i) फलत्रिकादि क्वाथ-त्रिफला, वासा, गुडुची, कुटकी, चिरायता।
(ii) वासाऽऽदि क्वाथ-वासा, गुडुची, निम्बछाल, चिरायता एवं कुटकी।
(iii) धात्र्यरिष्ट-आंवला, पीपर, चीनी।
(iv) द्राक्षारिष्ट-द्राक्षा, त्रिफला, मुनक्का, त्रिफला, त्रिकटु।
(v) बीजकारिष्ट-विजयसार, त्रिफला, मुनक्का, त्रिफला, त्रिकटु।
(vi) कुमार्यासव-घृतकुमारी, चिरायता, कुटकी, चित्रक, मुस्तक, त्रिकटु।
(vii) लोहासव-लौहचूर्ण, त्रिकटु, त्रिफला, यवानि, बिडंग, मुस्तक, चित्रक।
(viii) मार्कण्डयादि हिम-मंजीठ, सनाय, खजूंर।

5. घृत-मात्रा - 10 - 30 मि.ली.
अनुपान - उष्ण जल, दुग्ध

(i) पंचतिक्त घृत- गुडुची, निम्ब, वासा, चिरायता, पटोल, घृत।
(ii) द्राक्षाद्य घृत-घृत, मुनक्का।

(iii) हरिद्राद्य घृत-हरिद्रा, त्रिफला, नीम, मुलैठी, घृत।
(iv) व्योषाद्य घृत-त्रिकटु, बिल्व, हरिद्रा, घृत।
(v) दन्ती घृत- दन्ती, गोघृत।
(vi) कटुकाद्य घृत-कुटकी, मुस्तक, हरिद्राद्वय, इन्द्रयव, पटोल।
(vii) दाड़िम घृत-अनारदाना, धनिया, त्रिकटु, घृत।

6. पाक/अवलेह-मात्रा - 20 ग्राम
अनुपान- दूध

(i) आमलक्यादि लेह-आंवला, मुनक्का, पिप्पली, मुलैठी।
(ii) दार्व्यादि लेह-दारुहरिद्रा, त्रिफला, त्रिकटु, विडंग, लौहभस्म।
(iii) धात्र्यावलेह-वंशलोचन, सोंठ, मुलैठी, पीपर, मुनक्का, आंवला।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. प्रातः सांयम्
योगराज - 250 मि.ग्रा.
इच्छाभेदी रस - 125 मि.ग्रा.
त्रिफला चूर्ण - 3 ग्राम
कोष्ण जल 1 × 2 मात्रा

2. प्रातः सांयम्
मार्कण्ड्यादि हिम -20 मि.ली.
कोष्ण जल 1 × 2 मात्रा

3. भोजनोत्तर
आरोग्य वर्धनी वटी- 2 वटी × तीन मात्रा
द्राक्षारिष्ट - 20 मि.लि.
समजल 1 × 2 मात्रा

4. रात्रि में
हरिद्राद्य घृत - 20 मि.ली.
दूध से एक मात्रा

कुम्भकामला

1. प्रातः सांयम्
मण्डूरभस्म - 1 ग्राम
दार्व्यादि चूर्ण - 3 ग्राम
आरोग्यवर्धनी वटी - 500 मि.ग्रा.
गोमूत्र से 1 × 2 मात्रा

2. भोजनोत्तर
लोहासव - 20 मि.लि.
समजल 1 × 2 मात्रा
फलत्रिकादि क्वाथ- 20 मि.लि.
समजल से 1 × 2 मात्रा

3. रात्रि में
अविपत्तिकर चूर्ण - 3 ग्राम
कोष्ण जल से एक मात्रा

हलीमक

1. प्रातः सांयम्
द्राक्षादि घृत - 20 मि.लि.
दूध से 1 × 2 मात्रा

2. पुनर्नवामण्डूर - 500 मि.लि.
नागराद्य चूर्ण - 1 ग्राम
मुस्तक चूर्ण - 2 ग्राम
मधु से 1 × 2 मात्रा

3. भोजनोत्तर
धात्र्यरिष्ट - 20 मि.ली.
समजल 1 × 2 मात्रा

4. रात्रि में
आरोग्यवर्धनी वटी - 2 वटी
कोष्ण जल से एक मात्रा

5. पंचकर्म चिकित्सा
यापना बस्ति-15 दिन तक

पथ्य एवं अपथ्य

पथ्य

आहार	विहार
पुर्ननवा, गुडुची, पालक, लौकी, मूली, वथुआ, कच्चा पपीता, कच्चा केला, आलू, आंवला, दाड़िम, मुनक्का, अंजीर, सेब, पका पपीता, पुराना चावल, गेहूँ, जौ, अरहर, मूंग, मसूर, परवल, चौलाई, गोघृत, गोदुग्ध, तक्र, कूष्माण्ड, जीवन्ती, शाक, तालमखाना, पका आम, हरड़, आदि।	विरेचन, स्नेहन, अग्निकर्म, दहन कर्म, विश्राम आदि ।

अपथ्य

आहार	विहार
विदाही, गुरुपदार्थ, सरसों का तैल, उड़द, पान, गर्ममसाला, राई, हींग, तिल, अत्यम्बुपान, मटर आदि शिम्बीधान, देर से पचने वाले पदार्थों का सेवन आदि।	जलौका, रक्तमोक्षण, धूमपान, वमन, वेगधारण, स्वेदन, मैथुन, दिवास्वप्न अतिआतप सेवन, व्यायाम, क्रोध, अतिमार्ग गमन,अति मात्रा में घृत व तैल का प्रयोग आदि।

Latest Developments
Jaundice

Jaundice is yellowish discolouration of the conjuctiva, sclera, mucosa under the tongue and skin due to deposition of bile pigments from haemolytic, hepatocellular or obstructive disorders of hepatobiliary system and occurs as a symptom.

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित Jaundice से कामला का काफी साम्य है। Jaundice का मुख्य कारण Infection है जिससे यकृत् में शोथ (Hepatitis) हो जाता है, परिणाम स्वरुप कामला (Jaundice) उत्पन्न होता है। इसके निम्न भेद वर्णित हैं-

1. Hepato cellular Jaundice
2. Haemolytic Jaundice
3. Obstructive Jaundice

Symptoms

1. Jaundice
2. Abdominal Pain
3. Nausea & Vomiting
4. Anorexia
5. Tenderness & enlarged liver
6. Headache

Management : Principles

1. Bed rest
2. High Caloric diet, Palatable nutritious diet.
3. Hepatoprotective drugs should be used & all hepatotoxic drugs & alcohol should be completly avoided.
4. Proper hygine should be maintained.
5. Correction of abnormal fluid & electolyle state.
6. Boiled water.

अध्याय-35

दाह रोग
(BURNING SYNDROME)

व्याधि परिचय

दाह अनेक रोगों में प्रधान या अप्रधान लक्षण के रूप में उपस्थित रहता है। पित्तज व्याधियों में दाह एक प्रधान व्याधि है तथा इसे पित्त के नानात्मज विकारों में गिना गया है। शरीर में कफ का क्षय होने एवं पित्त की वृद्धि होने से दाह का अनुभव होता है। आचार्य चरक ने सूत्र स्थान में स्पष्ट किया है कि जब कफ के क्षय होने से वायु प्रकृतिस्थ पित्त को जिस जिस स्थान पर ले जाती है वहां भेद, दाह आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं, इसे उन्होंने आशयापकर्ष कहा है[1]।

आचार्य माधवकर ने दाह का वर्णन स्वतंत्र रूप से किया है। आधुनिक मतानुसार इसका साम्य Peripheral neuritis से कर सकते हैं।

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1. सुश्रुत संहिता, उत्तर तंत्र-अध्याय 47
2. माधव निदान-अध्याय 19
3. भाव प्रकाश-अध्याय 21
4. योग रत्नाकर-दाह चिकित्सा प्रकरण

दाह के प्रमुख निदान

दाह के प्रमुख निदान मुख्यत: पित्त वर्धक आहार विहार का सेवन है। इसके अतिरिक्त निम्न निदान भी दाह की उत्पत्ति में विशेष योगदान दे सकते हैं-

1. ऊष्ण तीक्ष्ण मद्यपान	2. पित्त वर्धक आहार विहार सेवन
3. तृष्णा	4. वेगधारण
5. असृक् पूर्ण कोष्ठता (Internal Haemorrhage)	
6. धातुक्षय (वातज दाह रोग)	7. क्षत
8. मर्माभिघात	9. आशयापकर्ष (वातिक दाह)

1. "प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुत: श्लेष्मण: क्षये। स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति॥ तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थित:।" (च.सू. 17/45-46)

इसमें से आशयापकर्ष एवं धातुक्षय वातिक दाह के निदान हैं, क्योंकि शरीर में दाह की अनुभूति वायु के द्वारा ही होती है। शेष अन्य निदान पित्तज दाह के निदान हैं।

सम्प्राप्ति

निदानों के सेवन से कफ के क्षीण होने पर तथा वायु के वृद्ध होने, पर प्रकुपित वायु जब समप्रमाण में स्थित पित्त को शरीर के जिस-जिस स्थान पर ले जाता है तब वहां दाह उत्पन्न होता है। इस को वातिक दाह कहते हैं।

जब स्वप्रकोपक कारणों से कुपित पित्त वायु की सहायता से शरीर में संचरण करता है तब दाह होता है। यह पैत्तिक दाह कहलाता है।

सम्प्राप्ति चक्र

निदान सेवन

↓	↓
कफ क्षय व वात प्रकोप	पित्त वर्धक आहार सेवन
↓	↓
प्रकुपित वात द्वारा	पित्त प्रकोप
↓	↓
सम पित्त को लेकर शरीर में संचरण	पित्त का वायु के साथ मिलकर
↓	↓
दाह की अनुभूति	दाह की अनुभूति
(वातिक दाह)	**(पैत्तिक दाह)**

सम्प्राप्ति घटक

दोष - पित्त प्रधान, वात
दूष्य - रस धातु
स्रोतस् - रक्त वह स्रोतस्
अधिष्ठान - त्वक्, स्नायु
स्रोतोदुष्टि - विमार्ग गमन
स्वभाव - आशुकारी
साध्यासाध्यता - साध्य

सामान्य लक्षण

दाह के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार वर्णित हैं-

1. करतल व पादतल में दाह (Burning in palms & soles)

2. सम्पूर्ण शरीर में दाह (Burning in body)

भेद-आचार्यों ने दाह के निम्न आठ प्रकार बलाए हैं-

1. मद्यज दाह- (Alcoholic Peripheral neuritis)
2. रक्तज दाह- (Burning syndrome of Hyper pyrexia, Hypertension or Menstrual disorders)
3. पैत्तिक दाह- (Burning syndrome of pyrexia)
4. तृष्णा निरोधज दाह- (Dehydration)
5. रक्तपूर्ण कोष्ठज दाह- (Peripheral neuropathy caused by Internal haemorrhage/Local blood congestion)
6. धातुक्षयज दाह- (Burning syndrome of deficiency disorder)
7. क्षतज दाह-(Peripheral neuropathy of Anaemia/Haemorrhage T.B.)
8. मर्माभिघातज दाह- (Burning syndrome of traumatic origin and shock)

दाह के भेदानुसार विशिष्ट लक्षण-दाह के उपरोक्त आठ भेदों के विशिष्ट लक्षण निम्न प्रकार हैं-

1. **मद्यज दाह के लक्षण**[1]-विधि विपरीत मद्यपान करने से उत्पन्न ऊष्मा पित्त व रक्त से मिलकर जब त्वचा में पहुँचता है तब भयंकर दाह उत्पन्न करता है। इससे घोर त्वक् दाह होता है।
2. **रक्तज दाह के लक्षण**[2]-प्रकुपित रक्त सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर दाह उत्पन्न करता है। इसके निम्न लक्षण हैं-

1. तीव्र प्यास (Polydypsia)
2. रोगी का शरीर लाल होना (Reddish colouration of body of pateint)
3. आंखे लाल होना (Reddish eyes)
4. रोगी के मुख व शरीर से लोहे की गंध आना।
5. रोगी अपने को अग्नि से व्याप्त सा अनुभव करता है।

1. "त्वचं प्राप्तस्तु पानोष्मा पित्तरक्ताभिमूर्च्छितः। दाहं प्रकुरुते घोरं पित्तवत्तत्र भेषजम्॥" (सु.उ. 47/54)
2. "कृत्स्नदेहानुगं रक्तमुद्रिक्तं दहति ह्यति। सञ्जृष्यते दह्यते च ताम्राभस्ताम्रलोचनम्॥ लोहागधाङ्गवदनो बह्निमेवावकीर्य्यते॥" (सु.उ. 47/65)

3. **पैत्तिक दाह के लक्षण**[1]-पैत्तिक दाह के लक्षण पित्तज ज्वर के समान होते हैं।

4. **तृष्णा निरोधज दाह**[2]-तृष्णा का वेग रोकने से जलीय धातु के क्षीण हो जाने पर बढ़ा हुआ पित्त शरीर के बाह्य एवं आभ्यान्तर अवयवों में दाह उत्पन्न कर देता है। इसके निम्न लक्षण हैं-

1. गल, तालु, ओष्ठ शुष्कता (Dryness of Throat, Palate & Lips)
2. मूर्च्छा (Fainting)
3. जिह्वा बाहर निकलने पर कम्पन करती है।

5. **रक्तपूर्ण कोष्ठज दाह के लक्षण**[3]-आभ्यंतर रक्तस्राव होने से होने वाला दाह अत्यंत कष्टप्रद होता है।

6. **धातुक्षयज दाह के लक्षण**[4]-रस-रक्तादि धातुओं का क्षय होने के कारण जो दाह होता है उसे धातु क्षयज दाह कहते हैं। इसके निम्न लक्षण होते हैं-

1. मूर्च्छा (Fainting)
2. प्यास (Polydypsia)
3. स्वरसाद (Diminished voice)
4. क्रियाहीनता (Loss of function)
5. कष्टसहित दाह (Painful burning)

7. **क्षतज दाह के लक्षण**[5]-क्षत के कारण अन्न न खाने एवं अनेक प्रकार का शोक करने से क्षतज दाह होता है। इसमें निम्न लक्षण होते हैं-

1. अन्तर्दाह (Internal burning)
2. तृष्णा (Polydypsia)
3. मूर्च्छा (Fainting)
4. प्रलाप (Delirium)

8. **मर्माभिघातज दाह के लक्षण**[6]-मर्म प्रदेश पर आघात लगने से होने वाला दाह मर्माभिघातज दाह कहलाता है। यह असाध्य होता है। इसके निम्न लक्षण होते हैं-

1. "पित्तज्वरसमः पित्तात्स चाप्यस्य विधिर्हितः।" (सु.उ. 47/70)
2. "तृष्णानिरोधादब्धातौ क्षीणे तेजः समुद्वतम्। सवाह्याभ्यान्तरं देहं दहेद्वैमन्द चेतसः॥ संशुष्कगलतालोष्ठो जिह्वां निष्कृत्य वेपते।" (सु.उ. 47/61)
3. "असृजा पूर्णकोष्ठस्य दाहो स्यात्सुदुःसहः।" (सु.उ. 47/63)
4. "धातुक्षयोक्तो यो दाहस्तेन मूर्च्छातृषान्वितः। क्षामस्वरः क्रियाहीनः भृशं सीदति पीडितः॥" (सु.उ. 47/74-75)
5. "क्षतजोऽनशनतश्चात्रं शोचतो वाऽप्यनेकधा। तेनान्तर्दह्यतेत्यर्थं तृष्णा मूर्च्छा प्रलापवान्॥" (मा.नि. 19/6)
6. "मर्माभिघातजोऽप्यस्ति सोऽसाध्यः सप्तमो मतः। सर्व एव च वर्ज्याः स्युः शीत गात्रस्य देहिनः॥" (मा.नि. 7)

1. शीतगात्रता (Cold & clamy skin)
2. अवसाद (Shock)
3. तीव्र अर्न्तदाह (Intense Internal burning)

साध्यासाध्यता

1. मर्माभिघातज दाह असाध्य होता है।
2. अन्य दाह जिनमें शरीर बाहर से शीत होने पर भी भीतर दाह का अनुभव हो वह असाध्य होता है।

चिकित्सा सिद्धान्त[1]

दाह की चिकित्सा के प्रमुख सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं-

1. सर्वप्रथम निदान परिवर्जन करना चाहिये।
2. बाह्य एवं आभ्यान्तर रूप से शीतल आहार-विहार औषध एवं उपचार की व्यवस्था करनी चाहिये।
3. पित्तज ज्वर एवं रक्तपित्त की औषध का प्रयोग दाह की चिकित्सा में करना चाहिये।
4. बर्फ के पानी का सेवन, चन्द्रमा की शीतल किरणों का सेवन, मुक्ता मणियों का हार धारण करना, नीलकमल युक्त ठण्डे बिस्तर पर सोना चाहिये।
5. शीत ग्रह में निवास, शीतल जल से स्नान आदि का निर्देश है।
6. आमलकी, द्राक्षा, कमल, नारियल, इक्षुरस, ककड़ी, कुष्माण्ड, आम्रपानक आदि का प्रयोग प्रचुरता से करना चाहिये।

चिकित्सा

दाह की चिकित्सा में प्रयुक्त शास्त्रोक्त विभिन्न संशमन योगों का वर्णन निम्नानुसार है-

1. रस/भस्म/पिष्टी-मात्रा - 125 - 250 मि.ग्रा.

अनुपान - मधु/जल

(i) चन्द्रकला रस-रक्तपित्तोक्त।
(ii) शंखभस्म-शंख।
(iii) प्रवाल पिष्टी-प्रवाल।
(iv) प्रवाल पंचामृत-प्रवाल, मुक्ता, शंख, शुक्ति।
(v) दाहान्तक रस-पारद, गंधक, ताम्रभस्म।
(vi) सुधाकर रस-रस सिन्दूर, अभ्रकभस्म, स्वर्णभस्म, मुक्ताभस्म।
(vii) मुक्ता पिष्टी-मुक्ता।

1. i) "दाहेऽतिशिशिरं तोयं क्रिया कार्या सुशीलता। सर्वांङ्गे चन्दनालेपश्चन्द्रकस्तूरीका युतः॥" (यो.र. 1/10)
ii) "पित्तवत्तत्र भेषजम्।" (सु.उ. 47)

2. वटी-मात्रा - 250 - 500 मि.ग्रा.
अनुपान - शीतल जल

(i) दशमूल घन वटी-दशमूल।
(ii) मृत संजीवनी वटी-पिप्पली, शुद्ध विष, हिंगुल।

3. चूर्ण-मात्रा - 3 - 6 ग्राम
अनुपान - जल

(i) चन्दनादि चूर्ण-चन्दन, खस, वासा, प्रियंगु।
(ii) खर्जूरादि चूर्ण-खर्जूर, पद्माख, खस।
(iii) उशीर चूर्ण-खस।

4. क्वाथ/आसव-अरिष्ट-मात्रा-10 - 20 मि.ली.
अनुपान - जल

(i) चन्दनासव-चन्दन, खस, पद्मकाष्ठ।
(ii) द्राक्षासव-पूर्वोक्त।
(iii) बलारिष्ट-बला, पुनर्ववा, खस, प्रियंगु, कमलकेशर, चीनी।
(iv) धान्यक हिम-धनिया।
(v) पर्पटादिक्वाथ-पर्पट, मुस्तक, खश।

5. घृत-मात्रा - 10 - 30 मि.ली.
अनुपान- दुग्ध/जल

(i) शतधौत घृत -घृत।
(ii) सहस्रधौत घृत- चन्दन, खश, घृत।
(iii) चन्दनादि घृत-चन्दन, खश, घृत।

6. तैल-मात्रा - 10 - 20 मि.ली.

(i) चन्दनादि तैल - चन्दन, कुश, खस, प्रियंगु, लोध्र, मंजीठ।
(ii) कुशाद्य तैल- कुश, काश, शर, दर्भ, काण्डेक्षु, शालपर्णी।

आदर्श व्यवस्था पत्र

1. प्रातः सांयम्

प्रवाल पिष्टी -	500 मि.ग्रा.
दाहान्तक रस -	250 मि.ग्रा.
चन्दनादि चूर्ण -	3 ग्राम
शहद से	1 × 2 मात्रा

2. भोजनोत्तर

उशीरासव या चन्दनासव -	20 मि.लि.
समजल से	- 1 × 2 मात्रा
ब्राम्ही वटी -	2 वटी × तीन मात्रा

3. शतधौत घृत का शरीर पर लेप करें।
4. धान्यक हिम/शीतल जल का प्रयोग करें।
5. रात्रि

त्रिफला चूर्ण -	3 ग्राम
जल से	1 मात्रा

पथ्य एवं अपथ्य

पथ्य

आहार	विहार
शालि चावल, साठी चावल, मूंग, मसूर, चना, जौ, जांगल पशु-पक्षी का मांस रस, धान के लावा का सत्तू, मिश्री, शतधौत घृत, दुग्ध, मक्खन, कद्दू, ककड़ी, केला, कटहल, अनार, परवल, पित्त-पापड़ा, नारियल, धनिया, सौंफ, चिरौंजी, सिंघाड़ा, महुआ, नेत्रबाला आदि समस्त तिक्त द्रव्यों का प्रयोग।	शीतल जल सेवन, स्नान, अवगाहन, परिषेचन, चन्दन का लेप, शीतल वायु सेवन, चन्द्रकिरण सेवन, प्रियालिङ्गन आदि।

अपथ्य

आहार	विहार
विरुद्ध भोजन, ऊष्ण-तीक्ष्ण विदाही पदार्थों का सेवन, मठ्ठा, शहद, हींग कटु पदार्थों का सेवन आदि।	स्त्री सेवन, मद्यपान, क्रोध, वेग धारण, हाथी घोड़े की सवारी, अधिक मार्गगमन, व्यायाम आदि।

अध्याय-36

रक्तगत वात
(HYPERTENSION)

व्याधि परिचय

आधुनिक समय में सर्वाधिक प्रचलित व्याधि Hypertension को आयुर्वेद में रक्तगत वात कहा जा सकता है। आयुर्वेद में रक्तगत वात नाम से किसी व्याधि का वर्णन उपलब्ध नहीं है, परन्तु वात व्याधि प्रकरण में रक्त धातु को आश्रित कर वात दोष जब संचरण करता है तब Hypertenstion के मिलते जुलते लक्षण प्रकट होते हैं। रक्तवाही स्रोतस् की भित्ति पर व्यान वायु से प्रेरित रक्त द्वारा जो भार पड़ता है उसे उच्च रक्त चाप कहते हैं। कुछ आचार्य इसे रसज् विकार मानते हैं, क्योंकि रसवाही स्रोतस् का मूल हृदय, व दश धमनियां है एवं रक्तगत वात धमनी या सिराओं से तथा हृदय से संबधित व्याधि है।

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

उच्च रक्त चाप या रक्तगत वात का स्पष्टतः पृथक् वर्णन संहिता ग्रंथों में उपलब्ध नहीं है।

रक्तगत वात के निदान

रक्तगत वात के निदान निम्न हो सकते हैं-

I. आहारज निदान

1. गुरु, अभिष्यंदी, स्निग्ध, कटु, अम्ल, लवणाति सेवन।
2. अति भोजन
3. क्षाराति सेवन
4. तीक्ष्णाहार सेवन
5. मद्य सेवन
6. विदाही, अम्ल आहार सेवन
7. अति मधुर व संतर्पक आहार सेवन

II. विहारज निदान

1. वेग धारण
2. अति व्यायाम
3. भय
4. शोक, क्रोध
5. चिन्ता
6. अचेष्टा

7. दिवास्वप्न
8. धूम्रपान

संप्राप्ति

उपर्युक्त निदानों के सेवन से कफ व मेद की वृद्धि होकर स्रोवरोध होता है तथा मानसिक हेतुओं से मन क्षोभ के कारण वात का प्रकोप होता है। कफ व मेद धमनियों में स्थान संश्रय कर धमनी काठिन्य उत्पन्न करते हैं एवं कुपित व्यान वायु रक्त संवहन की प्रक्रिया को मिथ्या गति प्रदान कर रक्त चाप को बढ़ा देती है। परिणाम स्वरुप रक्तगत वात के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

रक्तगत वात में त्रिदोष, रक्त एवं मेद दूष्यों की मुख्य भूमिका होती है।

सम्प्राप्ति चक्र

निदान सेवन (त्रिदोष प्रकोपक)
↓
मन: क्षोभ
↓
कफ व मेद की वृद्धि
↓
धमनियों में स्थान संश्रय
↓
मार्गावरोध
↓
वात प्रकोप (व्यानवायु का प्रकोप)
↓
व्यानवायु द्वारा रक्त के साथ मिलकर
↓
रक्त संवहन की मिथ्यागति
↓
रक्तगत वात (उच्च रक्तचाप)

सम्प्राप्ति घटक

दोष - त्रिदोष (वात प्रधान)
दूष्य - रक्त, मेद
स्रोतस् - रक्तवह , रसवह, मनोवह
अधिष्ठान - धमनियां
स्रोतोदुष्टि - अतिप्रवृत्ति, संग, विमार्ग, गमन
स्वरूप - चिरकारी
उद्भव - आमाशयोत्थ
साध्यासाध्यता - कृच्छ साध्य

लक्षण

रक्तगत वात के निम्न लक्षण संहिता में उपलब्ध होते हैं[1]-

1. तीव्र रुजा (Pain)
2. संताप (Burning sensation)
3. वैवर्ण्य (Discolouration)
4. कृशता (Weakness)
5. अरुचि (Anorexia)
6. अरूंषि (Boils over body)
7. भोजन के बाद स्तब्धता (Stiffness after meals)

आचार्य चरक द्वारा वर्णित रक्तावृत्त वात के लक्षणों का भी उच्चरक्त चाप से साम्य हो सकता है[2]। यह लक्षण निम्न प्रकार हैं-

1. दाह (Burning sensation)
2. त्वचा व मांसपेशी दाह (Burning in muscles & skin)
3. लालिमा युक्त शोथ (Reddish oedema)
4. मण्डल उत्पत्ति (Rashes)

योगरत्नाकर में वर्णित निम्न लक्षण भी रक्तगत वात के ही हैं[3]-

1. पैरों में दाह (Burning in feet)
2. त्वक् स्फोट (Blisters)
3. श्वयथु (Oedema)
4. क्लम (Tiredness without exertion)
5. रक्तस्राव (Haemorrhage)
6. स्पन्दन (Palpitation)
7. शरीर में कम्प (Tremors)

इन लक्षणों के अतिरिक्त उच्चरक्त चाप के रोगी में निम्न लक्षण भी देखने को मिलते हैं-

1. क्रोध (Anger)
2. स्वेदाधिक्य (Excessive sweating)
3. हृदयद्रव (Palpitation)
4. विबन्ध (Constipation)
5. कर्णनाद (Tinitus)

1. "रुजस्तीव्रा ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशतारुचिः। गात्रे चारूंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले॥" (च.चि. 28/31)
2. "रक्तावृत्ते सदाहार्तिस्त्वङ्ग मांसान्तरजो भृशम्। भवेत् सरागः श्वथुर्जायन्ते मण्डलानि च॥" (च.चि. 28/63)
3. "पादयोश्च भवेद्दाहस्त्वक्स्फोटः श्वयथुः क्लमः। रक्तस्रावः स्पन्दनं च रक्तवातस्य लक्षणम्॥" (यो.र.)

6. स्मृतिनाश (Loss of memory)
7. दृष्टिमांद्य (Diminished vision)
8. मूर्च्छा (Fainting)
9. पिण्डलियों में वेदना (Pain in calf region)
10. शरीर में शून्यता (Numbness in body)

साध्यासाध्यता

1. पुराना रक्तगत वात कृच्छ्र साध्य होता है।
2. नवीन रक्तगत वात साध्य है।
3. उपद्रव युक्त रक्तगत वात असाध्य है।

चिकित्सा सिद्धान्त

रक्तगत वात की चिकित्सा के प्रमुख सिद्धान्त निम्न प्रकार निर्धारित किए जा सकते हैं-

1. **निदान परिवर्जन**-सर्वप्रथम वात प्रकोपक निदानों के सेवन का त्याग करना चाहिये।
2. रोगी को लघु, सुपाच्य, स्नेह रहित, लवण रहित आहार लेना चाहिये एवं कफ मेद वर्धक आहार का सेवन नहीं करना चाहिये।
3. रोगी को अपनी जीवन शैली में समयानुकूल परिवर्तन करना चाहिये। नियमित व्यायाम व सदवृत का पालन करना चाहिये।
4. संशोधन चिकित्सा में लेखन बस्ति का प्रयोग करना चाहिये। शिरः शूल एवं भ्रम आदि होने पर शिरोधारा कराना चाहये।
5. संशमन चिकित्सार्थ वात नाशक, कफ-मेद नाशक चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये।
6. हृद्य व बल्य औषधियों का प्रयोग कराना चाहिये।

चिकित्सा

रक्तगत वात की संशोधन एवं संशमन चिकित्सा निम्न प्रकार निर्धारित की जा सकती है-

1. संशोधन चिकित्सा[1]-विभिन्न स्तरों पर हुए शोधकार्यों में लेखन बस्ति के परिणाम रक्तगत वात की चिकित्सा में लाभदायक सिद्ध हुए हैं इससे रक्तचाप व शरीर भार में आशातीत कमी होना सिद्ध हुआ है।

1. विरेचन कर्म
2. लेखन बस्ति (1 माह तक)
3. रक्तमोक्षण

2. संशमन चिकित्सा-रक्तगतवात की चिकित्सा में प्रयुक्त संशमन योगों का वर्णन निम्नानुसार है-

1. "शीताः प्रदेहा रक्तस्थे विरेको रक्त मोक्षणम्।" (चक्रपत्त)

1. रस/भस्म/पिष्टी-मात्रा - 125 - 250 मि.ग्रा.
अनुपान - जल/शहद

(i) चन्द्रकला रस-रक्तपित्तोक्त।
(ii) प्रवाल पिष्टी- प्रवाल।
(iii) जहर मोहरा पिष्टी-जहर मोहरा।
(iv) पुनर्नवा मण्डूर-कामलोक्त।
(v) प्रभाकर रस-हृदयरोग में वर्णित।
(vi) नागार्जुनाभ्र रस-हृदय रोग में वर्णित।
(vii) श्वेत पर्पटी-नौसादर, कलमीसोरा, फिटकरी।

2. वटी-मात्रा - 250 - 500 मि.ग्रा.
अनुपान - जल

(i) सर्पगन्धाघन वटी-सर्पगंधा।
(ii) ब्राह्मी वटी-ब्राम्ही, गुडुची, वचा।
(iii) पुष्कर ब्राम्ही गुग्गुलु-पुष्कर मूल, ब्राम्ही, गुग्गुल।
(iv) रसोनगुग्गुल-रसोन, गुग्गुल।
(v) नवकगुग्गुलु-त्रिफला, त्रिकटु, त्रिमद, गुग्गुल।

3. चूर्ण-मात्रा - 3 - 6 ग्राम
अनुपान - जल

(i) सर्पगंधा चूर्ण- सर्पगंधा।
(ii) अश्वगंधा चूर्ण-अश्वगंधा।
(iii) जटामांसी चूर्ण-जटामांसी।
(iv) वचादि चूर्ण-वचा, गुडुची, शंखपुष्पी।
(v) शंखपुष्पी चूर्ण-शंखपुष्पी व सर्पगंधा।

4. क्वाथ/आसव-अरिष्ट-मात्रा - 20 - 30 मि.ली.
अनुपान-जल

(i) दशमूल क्वाथ-दशमूल।
(ii) रास्ना क्वाथ-रास्ना, गुडुची, देवदारु।
(iii) मांस्यादि क्वाथ-जटामांसी, वचा, गुडुची।
(iv) सारस्वतारिष्ट-दशमूल, जटामांसी, शंखपुष्पी।
(v) दशमूलारिष्ट-दशमूल, देवदारु, सिता।
(vi) अर्जुनाद्यरिष्ट-हृदयरोग में वर्णित है।
(vii) धात्र्यारिष्ट-कामलोक्त।

आदर्श व्यवस्था पत्र

1. प्रातः सांयम्
जहरमोहरा - 250 मि.ग्रा.
हृदयार्णव रस - 250 मि.ग्रा.
सर्पगंधा घनवटी- 250 मि.ग्रा.
अर्जुन त्वक् चूर्ण - 3 ग्राम
मधु से 1 × 2 मात्रा
2. भोजनोत्तर
रसोन गुग्गुल- 2 वटी × तीन मात्रा
जल से
3. अर्जुनारिष्ट- 20 मि.ली.
सम जल से 1 × 2 मात्रा
4. रात्रि में
जटामांसी चूर्ण - 3 ग्राम
जल से एक मात्रा
5. पथ्य सेवन
6. योगाभ्यास-शवासन।

योग एवं प्राकृतिक उपाय-रक्तगत वात में योगाभ्यास बहुत उपयोगी है। समुचित यम-नियम पालन व शवासन, मकरासन, वज्रासन आदि आसनों का अभ्यास करना चाहिये। साथ ही प्राणायाम का अभ्यास भी लाभकारी है।

पथ्य एवं अपथ्य

पथ्य

आहार	विहार
चावल, दूध, सेव, अंगूर, पपीता, अनार, केला, संतरा, अल्पमात्रा में गोघृत, सैंधव, औषध सिद्ध घृत, यव, जौ, सावां, कोदो, अरहर, मूंग, पालक, हरे पत्तेदार सब्जियां, लघु आहार आदि।	उपवास, व्यायाम, सदवृत पालन, वेगों को धारण न करना, धारणीय वेगों को धारण करना, लंघन, मर्दन आदि।

अपथ्य

आहार	विहार
लवण, घी, कफ-मेद वर्धक आहर, मिठाईयां, दूध की बनी चीजें, मलाईदार दूध व दही, अधिक मिर्च मसालेदार भोजन डबलरोटी, सूखे मेवे, अण्डे, मांसाहार, तम्बाकू सेवन, स्निग्ध आहार सेवन, अध्यशन आदि।	अतिक्रोध, अतिश्रम, अतिमार्गगमन, अति चिन्ता, शोक, लगातार बैठे रहना, अतिशीत स्नान आदि।

Latest Developments
Essential Hypertension

आधुनिक मतानुसार रक्तगत वात का साम्य Essential Hypertension से किया जा सकता है। The term Hypertension indicates a chronically elevated systolic or diastolic blood pressure. The higher the arterial pressure systolic or diastolic, the greater the cardiovascular morbidity & mortality. It is found in all age groups & both sexes.

W.H.O. has recommended that the Blood Poressure of 140/95 mm of Hg. or above should be conssidered as arterial hypertension.

Causes

1. **Idiopathic**—High blood pressure without evident organic cause which accounts for about 90% Patient.
2. **Secondary causes**
   1. Renal cause
   2. Endocrinal cause
   3. Cardiovascular cause
   4. Neurogenic cause
   5. **Others**—1. Toxaemia of pregnancy
      2. Drug abuse
      3. Poisoining
      4. Polycythemia
      5. Pre eclampsia
      6. Carcinoid syndrome

Management : Principles

1. Avoid oily, spicy & salty food in diet.
2. Restriction of salt & fats is must.
3. Start regular exercises & Yogasanas.
4. Patients should change their life styles.
5. Diuretics may be useful.
6. Antihypertensive drugs should be started.

पष्ठम खण्ड

शुक्रवह स्त्रोतस् के रोग

मांसवह-मेदोवह-अस्थिवह-मज्जावह-शुक्रवह स्त्रोतस् के रोग

1. **मांसवह स्त्रोतस्--**

   मांसवह स्त्रोतस् का मूल स्नायु, त्वचा व रक्तवाही धमनियाँ हैं[1]। अभिष्यन्दी, गुरु, स्थूल भोजन से तथा भोजन के पश्चात् दिवाशयन से इस स्त्रोतस् की दुष्टि होती है[2]। स्त्रोतो दुष्टि होने पर अधिमांस, अर्बुद, मांसकील, गलशुण्डी, अलजी, गलगण्ड (घेंघा), गण्डमाला एवं उपजिह्विका जैसे रोगों की उत्पत्ति होती है[3]। ये सभी रोग शल्य-शालाक्य विज्ञान से सम्बन्धित है। अत: इनका विस्तृत वर्णन शल्य-शालाक्य सम्बन्धी ग्रन्थों में देखें।

2. **मेदोवह स्त्रोतस्—**

   मेदोवह स्त्रोतस् का मूल वृक्क, वसा व कटि स्थान है[4]। व्यायाम न करने से, दिन में शयन करने से, मेदस्वी (Fatty & Oily Diet) पदार्थों का अतिसेवन करने से एवं अधिक मद्यपान सेवन से इस स्त्रोतस् की दुष्टि होती है[5]। स्त्रोतो दुष्टि होने पर प्रमेह के पूर्वरूप यथा मुख तालु कण्ठशोष, पिपासाधिक्य, आलस्य, अतिनिद्रा, तन्द्रा, हस्तपाद शून्यता व दाह आदि लक्षण एवं अष्ट निन्दित रोगं (अतिदीर्घ, अतिहस्त, अतिलोम, अलोम, अतिकृष्ण, अतिगौर, अतिस्थूलता व अति कृशता) उत्पन्न होते है[6]। ये समस्त रोग व लक्षण

---

1. i) "मांसवहानां च स्त्रोतसां स्नायुर्मूलं, त्वक् च॥" (च.वि. 5/8)
   ii) "मांसवहे द्वे, तयोर्मूलं स्नायुत्वचं रक्तवहाश्च धमन्य:॥" (सु.शा. 9/12-ऊ)
2. "अभिष्यन्दीनि भोज्यानि स्थूलानि च गुरुणि च।
   मांसवाहीनि दुष्यन्ति भुक्त्वा च स्वपतां दिवा॥" (च.वि. 5/15)
3. "क्षृणु मांसप्रदोषजान्॥ अधिमांसार्बुदं कीलं गलशालूकशुण्डिके।
   पूतिमांसालजीमण्डगण्डमालोपजिह्विका॥" (च.सू. 28/13-14)
4. i) "मेदोवहानां स्त्रोतसां वृक्कौ मूलं वपावहनं च।" (च.वि. 5/8)
   ii) "मेदोवहे द्वे, तयोर्मूलं कटी वृक्कौ च।" (सु.शा. 9/12)
5. "अव्यायामाद्दिवास्वप्नान्मेद्यानां चातिभक्षणात्।
   मेदोवाहीनि दुष्यन्ति वारुण्याश्चातिसेवनात्॥" (च.वि. 5/16)
6. "निन्दितानि प्रमेहाणां पूर्वरुपाणि यानि च॥" (च.सू. 28/15)

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से अन्तःस्रावि ग्रन्थियों (Endocrinological Disorders) के विकार ही हैं। अतः इन सभी रोगों का विस्तृत वर्णन कायचिकित्सा तृतीय भाग में किया जायेगा।

3. **अस्थिवह स्रोतस्—**

अस्थिवह स्रोतस् का मूल मेद एवं जघन है[1]। अविधि व अति व्यायाम से, अतिक्षोभ से, अति विघटन (आघात) से एवं वातवर्धक आहार-विहार के सेवन से इ स्रोतस् की दुष्टि होती है[2]। स्रोतोदुष्टि होने पर अध्यस्थि (सन्धिवात), अधिदन्त, अस्थिभेद, अस्थिशूल एवं केश-लोम-नख का गिरना आदि रोग लक्षण उत्पन्न होते है[3]। इन का विस्तृत वर्णन कायचिकित्सा तृतीय भाग में वातव्याधि नामक अध्याय के अन्तर्गत किया जाएगा।

4. **मज्जावह स्रोतस्—**

मज्जावह स्रोतस का मूल अस्थि और सन्धियाँ है[4]। आघात से एवं विरुद्ध आहार-विहार के सेवन से इस स्रोतस् की दुष्टि होती है[5]। स्रोतोदुष्टि होने पर सन्धि वेदना, भ्रम, मूर्च्छा, तम आदि रोग व लक्षण उत्पन्न होते है[6]। इन रोगों का विस्तृत वर्णन कायचिकित्सा तृतीय भाग में मानस रोगों के अन्तर्गत किया जाएगा।

शुक्रवह स्रोतस् परिचय

शुक्र शरीर की अन्तिम धातु है। इसी से सन्तानोत्पत्ति होती है। यह सभी धातुओं का सार अंश है। शुक्र धातु का पोषण भी आहारगत पोषकांशों से होता है। आर्तववह स्रोतस् से तात्पर्य आर्तव शोणित (Menstrual Blood) एवं स्त्री बीज (Ovum) से है।

---

1. "अस्थिवहानां स्रोतसां मेदोमूलं जघनं च।" (च.वि. 5/8)
2. "व्यायामादतिसंक्षोभादस्थ्नामतिविघट्टनात्।
   अस्थिवाहीनि दुष्यन्ति वातलानां च सेवनात्॥" (च.वि. 5/17)
3. "अध्यस्थिदन्तौ दन्तास्थिभेदशूलं विवर्णता।
   केशलोमनखश्मश्रुदोषाश्चास्थिप्रदोषजाः॥" (च.सू. 28/16)
4. "मज्जवहानां स्रोतसामस्थीनि मूलं सन्धयश्च।" (च.वि. 5/8)
5. "उत्पेषादत्यभिष्यन्दादभिघातात् प्रपीड़नात्।
   मज्जवाहीनि दुष्यन्ति विरुद्धानां च सेवनात्॥" (च.वि. 5/18)
6. "रुक्पर्वणां भ्रमो मूर्च्छा दर्शनं तमसस्तथा।
   अरुषां स्थूलमूलानां पर्वजानां च दर्शनम्॥
   मज्जा प्रदोषात्..... ।" (च.सू. 28/17)

शुक्रवह स्रोतस् मूल

शुक्रवह स्रोतस का मूल वृषण (Testis), शेफ (Penis) व स्तनों (Breasts) को माना गया है[1]।

आर्तववह स्रोतस् का मूल गर्भाशय एवं आर्तववह धमनियाँ मानी गयी हैं[2]।

शुक्रवह स्रोतोदुष्टि हेतु

शुक्र का वेग रोकने से, अकाल में व अयोनि में मैथुन करने से, अधिक मैथुन करने से एवं शुक्रवाही स्रोतस पर शस्त्र, क्षार एवं अग्नि के लग जाने से शुक्रवाही स्रोतस दुष्ट हो सकते हैं[3]।

शुक्रवह स्रोतोदुष्टि लक्षण

शुक्र एवं आर्तव में विकृति होने से क्लैब्य (नपुसंकता), अप्रहर्षण (Erectyle dysfunction) गर्भपात, गर्भस्राव, चिरात् प्रसेक (देर से वीर्य निकलना), रक्तशुक्रता, मैथुनासहिष्णुत्व, रक्तप्रदर, आर्तवनाश, शुक्रमेह, शुक्राश्मरी आदि रोग उत्पन्न होते है[4]।

शुक्रवह स्रोतो दुष्टि की सामान्य चिकित्सा

शुक्रगत रोगों में मधुर-तिक्त अन्न, मैथुन, व्यायाम एवं उचित काल व मात्रा में संशोधन कराना चाहिये[5]।

शुक्र एवं आर्त्तववह स्रोतस् की निम्न व्याधियों का विस्तृत वर्णन यहां प्रस्तुत किया जा रहा है-

---

1. i) "शुक्रवहे द्वे, तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च॥" (सु.शा. 9/12-औ)
   ii) "शुक्रवहानां स्रोतसां वृषणौ मूलं शेफश्च॥" (च.वि. 5/8)
2. "आर्त्तववहे द्वे, तयोर्मूलं गर्भाशय आर्तव वाहिन्यश्च धमन्यः॥" (सु.शा. 9/12-अं)
3. "अकालयोनिगमनान्निग्रहादतिमैथुनात्।
   शुक्रवाहीनि दुष्यन्ति शस्त्रक्षाराग्निभिस्तथा॥" (च.वि. 5/19)
4. i) "शुक्रस्य दोषात् क्लैब्यमप्रहर्षणम्।
   रोगि वा क्लीबमल्पायुर्विरुपं वा प्रजायते॥
   न चास्य जायते गर्भः पतति प्रस्रवत्यपि।
   शुक्रं हि दुष्टं सापत्यं सदारं बाधते नरम॥" (च.सू. 28/18-19)
   ii) "तत्र विद्धस्य क्लीबता चिरात् प्रसेको रक्तशुक्रता च॥" (सु.शा. 9/21)
   iii) "तत्र विद्धाया बन्ध्यत्वं मैथुनासहिष्णुत्वमार्तवनाशश्च॥" (सु.शा. 9/22)
5. "मज्जशुक्रसमुत्थानामौषधं स्वादुतिक्तकम्।
   अन्नं व्यवायव्यायामौ शुद्धिः काले च मात्रया॥" (च.सू. 28/28)

1. क्लैब्य
2. बन्ध्यता
3. उपदंश
4. फिरंग
5. पूयमेह
6. ओज क्षय (एड्स)
7. रतिजन्य वंक्षणीय कर्णिकार्बुद
8. वंक्षण सन्धिय लस कर्णिकार्बुद
9. योषापस्मार (अपतन्त्रक)
10. स्मरोन्माद (कामोन्माद)
11. बलात्कार
12. अप्राकृतिक मैथुन, अन्य यौन मनोगत विकार

अध्याय-37

क्लैब्य रोग
(IMPOTENCY)

व्याधि परिचय

शुक्र धातु के दूषित होने से क्लैब्य रोग उत्पन्न होता है। इस रोग में मैथुन क्षमता तथा प्रजोत्पादन सामर्थ्य कम हो जाता है। लोक भाषा में इसे ''षण्डता'' या ''नपुसंकता'' कहा जाता है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 30
2. सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान-अध्याय 2
3. सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 26
4. भावप्रकाश, उत्तर खण्ड-अध्याय 72
5. माधव निदान-उत्तरार्ध परिशिष्ट

परिभाषा

जो मुनष्य मैथुन करने में असमर्थ हो उसे नपुंसक और उसके भाव को क्लैब्य (नपुंसकता) कहते हैं[1]।

पर्याय

क्लैब्य, नपुंसकता, क्लीबता, षण्डता, ध्वजोच्छ्राय, पुंस्त्वदोष आदि।

भेद—

आचार्यों ने क्लैब्य रोग के निम्नलिखित भेदों का वर्णन किया है[2]—

i. बीजोपघात जन्य नपुंसकता
ii. ध्वजोपघात जन्य नपुंसकता
iii. जरा जन्य नपुंसकता
iv. शुक्रक्षय जन्य नपुंसकता

---

1. ''यः स्यादशक्तः सुरते मनुष्यः स क्लीब उक्तः किल वैद्यवृन्दैः।
क्लैब्यं तु तद्भाव इहोपदिष्टं तल्लक्ष्म सामान्यमथो ब्रवीमि॥'' (मा.नि. पृ. क्लैब्य निदानम्/2)
2. ''बीजध्वजोपघाताभ्यां जरया शुक्रसंक्षयात्॥
क्लैब्यं संपद्यते तस्य श्रृणु सामान्यलक्षणम्।'' (च.चि. 30/154-155)

आचार्य सुश्रुत ने शारीर स्थान में क्लैब्य रोग के निम्न भेदों का वर्णन किया है[1]-

i. आसेक्य
ii. सौगन्धिक
iii. कुम्भीक
iv. ईर्ष्यक
v. षण्ड-नर व नारी षण्ड

आचार्य सुश्रुत ने चिकित्सा स्थान में क्लैब्य के अन्य निम्न भेदों का भी वर्णन किया है[2]-

i. मानस क्लैब्य
ii. आहार जन्य क्लैब्य
iii. शुक्र क्षयज ध्वजभंग
iv. मर्मच्छेदज क्लैब्य
v. सहज क्लैब्य
vi. ब्रह्मचर्यज वलैब्य

निदान—

शास्त्रों में क्लैब्य रोग के सामान्य व विशिष्ट निदान (हेतु) निम्नानुसार वर्णित हैं—

सामान्य निदान[3]

i. अत्यधिक मैथुन करना।
ii. अकाल मैथुन करना।
iii. अयोनि में मैथुन करना
iv. कटु तिक्त-कषाय-लवण-अम्ल-उष्ण आहार का अति सेवन करना।
v. शुक्र (वीर्य) का अति क्षय होना।
vi. वृद्धावस्था होना।
vii. भय, चिन्ता, शोक, क्रोध का होना।
viii. शस्त्रकर्म, क्षार कर्म, अग्निकर्म का अनुचित प्रयोग करना।
ix. शुक्रवह स्रोतस में दुष्टि होना।
x. मल-मूत्र-शुक्र वेग धारण करना।
xi. रसादि धातुओं का दूषित होना।

विशिष्ट निदान

क्लैब्य रोग के विभिन्न भेदों के निदान (विशिष्ट हेतु) निम्नलिखित हैं—

1. i) "पित्रोरत्यल्पबीजत्वादासेक्यः..... । ..... षण्ड संज्ञितः ॥" (सु.शा. 2/41-45)
   ii) "पुंस्त्वदोषास्तु पञ्चैव प्रोक्तास्तत्रेर्ष्यकः स्मृतः ।
   आसेक्यश्चैव कुम्भीकः सुगन्धिः षण्डसंज्ञकः ॥" (शा.स.पू.खं 7/171)
2. "तैस्तैर्भावैरहृद्यैस्तुस्तु..... । ..... खरशुक्रनिमित्तजम् ॥" (सु.चि. 26/9-14)
3. "अतिव्यवायाद्वयायामादसात्म्यानां..... । ..... संप्रदूषणात् ॥" (च.चि. 30/135-138)

(अ) बीजोपघात जन्य क्लैब्य निदान[1]

i. शीत-रुक्ष-अल्प-संक्लिष्ट भोजन करना
ii. अजीर्णावस्था में भोजन करना
iii. विरुद्धाशन करना
iv. शोक-चिन्ता-भय-त्रास
v. अत्यधिक मैथुन करना
vi. अभिचारज कर्म
vii. स्त्री में विश्वास व प्रेम न होना
viii. रस-रक्तादि धातुओं का क्षय होना
ix. वातादि दोषों का विषम होना
x. भोजन न करना
xi. अधिक श्रम करना
xii. स्त्रियों का पुरुष में प्रेम न होना
xiii. वमनादि पंचकर्म का उचित रुप से प्रयोग न करना

(ब) ध्वजोपघात जन्य क्लैब्य निदान[2]

i. अति अम्ल, लवण, क्षार सेवन
ii. विरुद्ध व असात्म्य भोजन
iii. अति जल पान सेवन
iv. विषम भोजन
v. पिष्टान्न तथा गुरु भोजन
vi. दधि, दुग्ध, आनूप मॉस का अति सेवन
vii. रोग के कारण कृशता
viii. कन्याओं के साथ मैथुन करना
ix. अयोनिगमन यथा-हस्त मैथुन, गुद मैथुन
x. योनि रोग पीड़ित, रजस्वला व दुर्गन्धित योनि में मैथुन
xi. चतुष्पाद पशुओं में मैथुन करना
xii. शेफ (मूत्रेन्द्रिय) में अभिघात
xiii. मैथुन के पश्चात् इन्द्रिय प्रक्षालन न करना

1. "शीत रुक्षाल्पसंक्लिष्ट..... । ..... पंचकर्मापचारतः ॥" (च.चि. 30/158-160)
2. "अत्यम्ललवणक्षार..... । ..... प्रवर्तते ॥" (च.चि. 30/163-167)

xiv. मूत्रेन्द्रिय में शस्त्र, दन्त, नख से क्षत हो जाना
xv. काष्ठ प्रहार, शूक दोष से, शुक्र के वेग को रोकने से

ध्वजोपघात जन्य नपुंसकता (ध्वजभंग) उत्पन्न होती है।

(स) जराजन्य नपुंसकता निदान[1]

जघन्य, मध्य, प्रवर भेद से वय की तीन अवस्थाएं होती हैं। प्राय: वृद्धावस्था में मनुष्यों का शुक्र स्वभावत: क्षीण हो जाता है। उस अवस्था में मनुष्य के द्वारा वाजीकरण द्रव्यों का सेवन नहीं करने पर प्रतिदिन रसादि धातुओं का क्षय होने के कारण यथाक्रम वीर्य, इन्द्रिय शक्ति और बल का क्षय होने से एवं आयु की क्षीणता, अनशन, क्लान्ति तथा श्रम से जराजन्य क्लैब्यता उत्पन्न होती है।

(द) शुक्र क्षयज नपुंसकता निदान[2]

i. अत्यधिक चिन्ता, शोक, क्रोध, भय, ईर्ष्या, उत्कण्ठा, मद व उद्वेग के कारण
ii. कृशावस्था में रुक्ष अन्न, पान व औषधि का निरन्तर सेवन
iii. असात्म्य आहार का निरन्तर सेवन
iv. अत्यधिक मैथुन
v. रस धातु क्षीणता के कारण अन्य धातुओं का क्षीण होना (अनुलोम क्षय)

सम्प्राप्ति

(अ) सामान्य सम्प्राप्ति

निदान सेवन
↓
वातादि दोष प्रकोप
↓
प्रकुपित दोषों का शुक्रवह शिराओं में गमन
↓
शुक्र धातु प्रदुष्टि
↓
क्लीबता रोग

1. "क्लैब्यं जरासंभवं हि..... । ..... हेतुभिर्नृणाम्॥" (च.चि. 30/176-179)
2. "अतीव चिन्तनाच्चैव..... । ..... व्यवस्थिता:॥" (च.चि. 30/181-183)

(ब) विशिष्ट सम्प्राप्ति

(i) **जरा जन्य क्लैब्य**[1]—वृद्धावस्था में रसादि धातुओं के क्षीण हो जाने से बल, वीर्य, इन्द्रिय क्रमश: क्षीण हो जाती हैं। इस अवस्था में मनुष्य के द्वारा यदि वृष्य औषधि एवं आहार का सेवन नहीं किया जाय तो वृद्ध मनुष्य अत्यन्त क्षीण धातु व दुर्बल हो जाता है। अनेक प्रकार की व्याधियां उसे आक्रान्त कर लेती हैं। इस प्रकार जराजन्य क्लीबता उत्पन्न हो सकती है।

(ii) **सहज (जन्मजात) क्लैब्यता**—माता-पिता के बीज (आर्तव / शुक्र) में दोष उत्पन्न हो जाने से या अजितेन्द्रिय व्यक्ति के जन्मान्तरीय अशुभ कर्मों के द्वारा जब प्रकुपित दोष गर्भस्थ बालक के शुक्रवह शिराओं में जाकर उसका शोषण कर देते हैं, तब शुक्रवह शिरा सूखकर नष्ट हो जाती है और शीघ्र ही शुक्र का भी नाश हो जाता है अर्थात् आश्रय शुक्रवह स्रोतस के अभाव में शुक्र उत्पन्न ही नहीं हो पाता है। वह गर्भस्थ बालक जब उत्पन्न होता है तो उसके सभी बाहरी अंग अपने समय पर विकसित होते हैं, किन्तु वह व्यक्ति (स्त्री या पुरुष) मैथुन करने में सर्वथा असमर्थ रहता है[2]-

इस अवस्था को सहज (जन्मजात) क्लैब्यता कहा जाता है।

पूर्वरुप

क्लैब्य रोग के पूर्वरुपों का वर्णन शास्त्रों में प्राप्त नहीं होता है।

सामान्य रूप

निरन्तर मैथुन की प्रबल इच्छा रहने पर भी तथा प्रिय अनुकूल स्त्री के रहने पर भी लिंग में शिथिलता के कारण स्त्री के पास मैथुन के लिये जो व्यक्ति नहीं जा पाता है अथवा यदि किसी प्रकार मैथुन में प्रवृत्त हो भी गया हो तो उस व्यक्ति का श्वास फूलने लगता है, शरीर में अति स्वेद आता है, मैथुन की चेष्टाएं विफल हो जाती हैं, क्योंकि उसके लिंग में कड़ापन नहीं आता है और वह व्यक्ति वीर्य हीन हो जाता है[3]।

1. "रसादीनां..... । ..... एतज्जरासंभवं हि॥" (च.चि. 30/178-181)
2. "मातापित्रोर्बीजदोषादशुभैश्चाकृतात्मन:। गर्भस्थस्य यदा दोषा: प्राप्य रेतोवहा: सिरा:॥ शोषयन्त्याशु तन्नाशाद्रेतश्चाप्युपहन्यते। तत्र संपूर्ण सर्वाङ्ग स भवत्यपुमान् पुमान्॥" (च.चि. 30/189-190)
3. "सङ्कल्प प्रवणो नित्यं प्रियां वश्यामपि स्त्रियम्॥ न याति लिङ्गशैथिल्यात् कदाचिद्याति वा यदि। श्वासार्त: स्विन्नगात्रश्च मोघसङ्कल्प चेष्टित:॥ म्लान शिश्नश्च निर्बीज: स्यादेतत् क्लैब्यलक्षणम्। सामान्य लक्षणं ह्येतद्विस्तरेण प्रवक्ष्यते॥" (च.चि. 30/155-157)

भेदानुसार क्लैब्य लक्षण

(अ) बीजोपघातज क्लैब्यता के लक्षण[1]

(i) व्यक्ति दुर्बल, अल्पप्राण व अल्प हर्ष वाला होता है।
(ii) शरीर का वर्ण पाण्डुवर्ण होता है।
(iii) स्त्रियों के साथ मैथुन करने से उसे आनंद प्राप्त नहीं होता है।
(iv) वह व्यक्ति हृदय रोग, पाण्डुरोग, तमक श्वास, कामला, श्रम, छर्दि, अतिसार, उदर शूल, कास एवं ज्वर रोग से पीड़ित हो सकता है।

(ब) ध्वजोपघातज क्लैब्यता के लक्षण

(i) लिंग में शोथ, वेदना, राग (Redness) तीव्र स्फोट एवं पाक (Suppuration) की उत्पत्ति।
(ii) लिंग के ऊपर की मांस की वृद्धि होकर शीघ्र ही व्रणोत्पत्ति होती है।
(iii) व्रण से पुलाकोदक (Rice water) स्राव निकलता है।
(iv) लिंग टेढ़ा हो जाता है।
(v) ज्वर, तृष्णाधिक्य, भ्रम, मूर्च्छा, छर्दि उत्पन्न हो जाता है।
(vi) मूत्राशय, अंडकोश, सेवनी प्रदेश एवं वंक्षण प्रदेश में तीव्र दाह के साथ वेदना होती है।
(vii) लिंग सदैव सड़न युक्त हो जाता है एवं उसमें कृमि उत्पन्न हो जाते हैं।
(viii) मणि (Glans penis), मूत्रेन्द्रिय, अण्डकोश सड़कर गिर जाते हैं[2]।

आचार्य सुश्रुत वातज, पित्तज, कफज, रक्तज व सन्निपातज भेद से ध्वजभंग या उपदंश के पांच भेद मानते हैं जिनका विस्तृत वर्णन आगे उपदंश व ध्वजभंग रोगान्तर्गत दिया जाएगा।

(स) जराजन्य क्लैब्यता के लक्षण[3]

(i) बिना परिश्रम के थकावट। (ii) दुर्बलता।
(iii) अनेक व्याधियों की उत्पत्ति। (iv) बल, वीर्य क्षीणता।
(v) इन्द्रिय क्षीणता।

1. "बीजोपघाताद्भवति पाण्डुवर्णः सुदुर्बलः॥ अल्पप्राणोऽल्पहर्षश्च प्रमदासु भवेन्नरः। हृत्पाण्डुरोगतमककामलाश्रमपीड़ितः॥ छर्द्यतीसारशूलार्तः कासज्वरनिपीड़ितः।" (च.चि. 30/160-162)
2. "श्वयथु र्वेदना मेढ्रे ..... । .....समुदाहृतम्॥" (च.चि. 30/168-175)
3. "रसादीनां ..... । .....एतज्जरासंभवं हि॥" (च.चि. 30/178-181)

(द) शुक्रक्षयज क्लैब्यता के लक्षण[1]

(i) रस धातु क्षीणता।
(ii) क्रमशः रक्त, मांस, मेद आदि धातु क्षीणता।
(iii) शुक्र का नाश।
(iv) अनेक रोगोत्पत्ति।
(v) मृत्यु।

(इ) सहज (जन्मजात) क्लैब्यता के लक्षण

आचार्य सुश्रुत ने सहज क्लैब्यता के निम्न पांच भेद वर्णित किए हैं, जिनके लक्षण निम्नानुसार हैं—

(i) आसेक्य क्लैब्यता[3]

माता पिता के अत्यल्प बीज (शुक्र-शोणित) होने से 'आसेक्य' नामक नपुंसक सन्तान उत्पन्न होती है। इस आसेक्य पुरुष में शिश्न की उत्तेजना शुक्र को पीकर होती है अर्थात् वह आसेक्य पुरुष अपने मुख में अन्य पुरुष से मैथुन करवाकर क्षरित शुक्र को पीकर ही उत्तेजना प्राप्त करता है। इसी को घक्री या 'मुखयोनि' नपुंसक भी कहा जाता है।

(ii) सौगन्धिक क्लैब्यता[3]

जो पुरुष दुर्गन्धित योनि से उत्पन्न होता है उसे सौगन्धिक क्लीव कहा जाता है। यह पुरुष योनि व शिश्न की गन्ध को सूंघकर बल प्राप्त करता है। इसे 'नासायोनि' भी कहा जाता है।

(iii) कुम्भीक क्लैब्यता[4]

जो पुरुष अब्रह्मचर्य के कारण स्त्रियों में उनकी गुदा में पुरुष की तरह प्रवृत्त होता है अथवा जो मनुष्य अपनी गुदा में मैथुन करवाकर शिश्न की उत्तेजना को प्राप्त करके फिर स्त्रियों में प्रवृत्त होता है उसका नाम कुम्भीक है। इसी को अप्राकृतिक मैथुन या गुदयोनि कहा जाता है।

1. "रसः प्रधानधातुर्हि ..... । .....क्लैब्यं चतुर्विधम्॥" (च.चि. 30/184-187)
2. "पित्रोरत्यल्पबीजत्वादासेक्यः पुरुषो भवेत्। स शुक्रं प्राश्य लभते ध्वजोच्छ्रायमसंशयम्॥" (सु.शा. 2/41)
3. "यः पूतियोनौ जायेत स सौगन्धिकसंज्ञितः। स योनिशेफसोर्गन्धमाघ्राय लभते बलम्॥" (सु.शा. 2/42)
4. "स्वे गुदेऽब्रह्मचर्याद्यः स्त्रीषु पुवंत् प्रवर्तते। कुम्भीकः स तु विज्ञेयः ..... ॥" (सु.शा. 2/43)

(iv) ईर्ष्यक क्लैब्यता[1]

जो पुरुष दूसरों के मैथुन को देखकर मैथुन में प्रवृत्त होता है उसे ईर्ष्यक क्लैब्य कहा जाता है। इस पुरुष में बिना मैथुन देखे उत्तेजना नहीं होती है।

(v) षण्ड क्लैब्यता

जो पुरुष मोह वश ऋतुकाल में अपनी स्त्री के साथ स्त्री की भाँति प्रवृत्त होता है इससे जो पुत्र उत्पन्न होता है उसकी चेष्टा, हाव भाव, आकार स्त्री के समान रहते हैं। यदि कन्या उत्पन्न होती है तो उसकी चेष्टाएं पुरुष की भांति होती है। इन्हें ही क्रमशः नर षण्ड व नारीषण्ड कहते हैं[2]।

साध्यासाध्यता

समुचित चिकित्सा करने से ध्वजोपघातज व शुक्रक्षयज क्लैव्यता साध्य होती है। मूत्रेन्द्रिय के कटने से तथा अण्डकोष के निकाल देने से उत्पन्न नपुंसकता असाध्य मानी गयी है। सहज क्लैब्यता भी असाध्य होती है[3]।

सामान्य चिकित्सा सिद्धांत

(1) निदान परिवर्जन

साध्य क्लैब्यता को दूर करने के लिए जिन कारणों से क्लैब्यता उत्पन्न हुई हो, उन कारणों का त्याग करना चाहिए। क्योंकि उन कारणों का त्याग करना ही मुख्य चिकित्सा है[4]।

(2) शुक्रदोष की चिकित्सा में जिन औषधियों का उपयोग किया जाता है उन्हीं का प्रयोग क्लैब्य रोग चिकित्सा में भी करना चाहिए[2]। देह, दोष, जठराग्नि, बल, भेषजकाल को ज्ञातकर ही अतिमैथुन व धातु विपर्यय से उत्पन्न क्लैब्यता में शुक्र दोष दूर करने वाली बस्तियों, दुग्ध, घृत, वृष्य योग तथा रसायन औषध का प्रयोग करना चाहिए[5]।

1. "दृष्ट्वा व्यवायमन्येषां व्यवाये यः प्रवर्तते।
ईर्ष्यकः स च विज्ञेयः षण्डकं श्रृणु पञ्चमम्॥" (सु.शा. 2/44)
2. "यो भार्यायामृतौ मोहादङ्गनेव प्रवर्तते। ततः स्त्रीचेष्टिताकारो जायते षण्डसंज्ञितः॥
ऋतौ पुरुषवद्वाऽपि प्रवर्तेताङ्गना यदि। तत्र कन्या यदि भवेत् सा भवेन्नरचेष्टिता॥"
(सु.शा. 2/45-46)
3. i) "केचित् क्लैब्ये त्वसाध्ये द्वे ध्वजभङ्गक्षयोद्भवे।
वदन्ति शेफसश्छेदाद् वृषणोत्पाटनेन च॥" (च.चि. 30/188)
ii) "असाध्यं सहजं क्लैब्यं मर्मच्छेदाच्च यद्भवेत्।
साध्यानामितरेषां तु कार्यो हेतुविपर्ययः॥" (सु.चि. 26/15)
4. "क्लैब्यानामिह साध्यानां कार्यो हेतुविपर्ययः।
मुख्यं चिकित्सितं यस्मान्निदानपरिवर्जनम्॥" (भा.प्र.उ. 72/10)
5. "शुक्रदोषेषु निर्दिष्टं भेषजं यन्मयाऽनघ।
क्लैब्योपशान्तये कुर्यात् क्षीणशुक्र हितं च यत्॥" (च.चि. 30/192)

(3) अभिचार से उत्पन्न क्लैब्यता में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा करना चाहिए[1]।

(4) सभी प्रकार की नुपंसकता में वाजीकरण तथा रसायन औषध योगों का युक्तिपूर्वक प्रयोग कराना चाहिए।

(5) क्लैब्य से पीड़ित रोगी में स्नेहन व स्वेदन देकर स्नेहयुक्त विरेचन करायें। तत्पश्चात् अन्न सेवन कराकर आस्थापन बस्ति देवें[2]। यह बस्ति पलाश, एरण्डमूल व मुस्तक क्वाथ से देवें। इसके बाद पुनः अनुवासन बस्ति देवें।

विशिष्ट चिकित्सा सिद्धांत

(अ) बीजोपघातज क्लैब्य चिकित्सा सिद्धांत

आचार्य चरक ने निर्दिष्ट किया है कि बाजीकरण में वर्णित सभी योगों का प्रयोग बीजोपघातज क्लैब्यता में करना चाहिए[3]।

(ब) ध्वजोपघातज क्लैब्यता चिकित्सा सिद्धांत[4]

ध्वजोपघात (ध्वजभंग) से उत्पन्न होनेवाले क्लैब्य में स्नेहपान कर स्नेहयुक्त द्रव्यों से विरेचन कराना चाहिए। विरेचन के पश्चात् आस्थापन और अनुवासन बस्तियों का प्रयोग करना चाहिये। रक्तमोक्षण, प्रदेह, परिषेक व अन्य व्रण गत चिकित्सा करें।

(स) जराजन्य व शुक्र क्षयज क्लैब्यता चिकित्सा सिद्धान्त

वृद्धावस्थाजन्य तथा शुक्रक्षयज नपुंसकता में दुर्बलता अधिक रहती है। ऐसी अवस्था में रोगी को मृदु स्नेहन व स्वेदन देकर मृदु संशोधन कराना चाहिए। तत्पश्चात वृष्य योग, क्षीर, सर्पि, वृष्य योग, यापना बस्तियाँ एवं रसायन चिकित्सा का प्रयोग कराना चाहिए[5]।

1. "बस्तयः क्षीरसर्पींषि वृष्ययोगाश्च ये मताः।
रसायनप्रयोगाश्च सर्वानेतान् प्रयोजयेत्॥" (च.चि. 30/193)
2. "दैवव्यपाश्रयं चैव भेषजं चाभिचारजे॥" (च.चि. 30/194)
3. "सुस्विन्नस्निग्धगात्रस्य स्नेहयुक्तं विरेचनम्। अन्नाशनं ततः कुर्यादथवाऽऽस्थापनं पुनः॥"
(च.चि. 30/196-197)
4. "वाजीकरणयोगाश्च पूर्वं ये समुदाहृताः। भिषजा ते प्रयोज्याः स्यु क्लैब्ये बीजोपघातजे॥"
(च.चि. 30/198-199)
5. "ध्वजभङ्गकृतं क्लैब्यं ज्ञात्वा तस्याचरेत् क्रियाम्॥ प्रदेहान् परिषेकाश्च कुर्याद्वा रक्तमोक्षणम्।
स्नेहपानं च कुर्वीत सस्नेहं च विरेचनम्॥ अनुवासं ततः कुर्यादथवाऽऽस्थापनं पुनः।
व्रणवच्च क्रियाः सर्वास्तत्र कुर्याद्विचक्षणः॥" (च.चि. 30/199-201)
6. "जरासंभवजे क्लैब्ये क्षयजे चैव कारयेत्। स्नेहस्वेदोपपन्नस्य सस्नेहं शोधनं हितम्॥
क्षीरसर्पिः प्रयोगा बस्तयश्चैव यापनाः। रसायनप्रयोगाश्च तयोर्भेषजमुच्यते॥"
(च.चि. 30/202-203)

चिकित्सा

(अ) शोधन चिकित्सा

वाजीकरण चिकित्सा के पूर्व वमन-विरेचनादि पंचकर्म के द्वारा शरीर की शुद्धि करके ही 16 वर्ष से 70 वर्ष के आतुर को वृष्य योग देना चाहिए। स्रोतसों के शुद्ध हो जाने पर शरीर स्वच्छ व मल रहित हो जाता है[1]।

संशोधन औषध

(हरीत्क्यादि चूर्ण)—हरीतकी चूर्ण, सैंधव, आमलकी, गुड़, वचा, विडंग, हरिद्रा, पिप्पली, शुण्ठी को सम मात्रा में लेकर स्नेहन-स्वेदन करने के पश्चात् रसायन व वाजीकरण सेवी पुरुष को एक तोला (12 ग्राम) की मात्रा में उष्ण जल से सेवन कराना चाहिए[2]। तत्पश्चात् संसर्जन क्रम के पूर्ण हो जाने पर ही रसायन वाजीकरण योग सेवन कराना चाहिए।

(ब) शमन चिकित्सा

शमन चिकित्सा के अंतर्गत निम्न वाजीकरण औषध योग युक्तिपूर्वक प्रयुक्त किए जाते हैं—

1. **रस/भस्म**

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, क्षीर
(i) अभ्रक भस्म	: शतपुटी अभ्रक भस्म।
(ii) शिलाजतु	: शुद्ध शिलाजतु।
(iii) पुष्पधन्वा रस	: रस सिन्दूर, नाग भस्म, लौह भस्म, अभ्रक, वङ्ग।
(iv) पूर्ण चन्द्र रस	: रस सिन्दूर, अभ्रक भस्म, शिलाजतु।
(v) मन्मथाभ्र रस	: पारद, गंधक, अभ्रक, ताम्र, वङ्ग आदि।
(vi) मकरध्वज	: स्वर्ण, पारद, गंधक।
(vii) कामिनी विद्रावण रस	: गंधक, अहिफेन, हिंगुल।
(viii) नवजीवन रस	: रस सिन्दूर, कुचला, लौह भस्म।
(ix) राजमृङ्गाक रस	: रस सिन्दूर, ताम्र, मनःशिला।
(x) बसन्त कुसुमाकर रस	: वङ्ग, रजत, स्वर्ण।
(xi) तारकेश्वर रस	: रस सिन्दूर, लौह, बंङ्ग, अभ्रक।

1. "स्रोतः सु.....।
.....रागयोगाः॥" (च.चि. 30/50-51)
2. "हरीतकीनां .....।
.....यद्भवेत्॥" (च.चि. 1/25-28)

2. **वटी**

मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, जल, क्षीर
(i) वानरी गुटिका	: केवाँच, शर्करा।
(ii) बृंहिणी गुटिका	: शतावरी, गोक्षुर, केवांच।
(iii) चन्द्रप्रभा वटी	: शिलाजतु, गुग्गुलु, लौह, वंशलोचन।
(iv) आकरकरभादि वटी	: अकरकरा, जायफल, जावित्री।
(v) मदन मञ्जरी वटी	: अभ्रक, बंङ्ग, पारद।
(vi) शुक्रस्तंभन गुटिका	: जायफल, अकरकरा, लवंग।

3. **मोदक**

मात्रा	: 3-5 ग्राम
अनुपान	: क्षीर
(i) श्री मदनान्द मोदक	: पारद, गंधक, अभ्रक, जायफल।
(ii) कामेश्वर मोदक	: खुरासानी अजवाइन, धतूर बीज, अकरकरा।
(iii) रतिबल्लभ मोदक	: भंगा, शतावर, मिश्री।

4. **चूर्ण**

मात्रा	: 3-6 ग्राम
अनुपान	: क्षीर, जल
(i) अश्वगंधादि चूर्ण	: अश्वगन्धा, विदारीकन्द, गोक्षुर।
(ii) शतावर्यादि चूर्ण	: शतावरी, विदारीकन्द, गोक्षुर।
(iii) नारसिंह चूर्ण	: शतावरी, गोक्षुर, भिलावा।
(iv) रतिबल्लभ चूर्ण	: सालमपंजा, मूसली, गोक्षुर।

5. **आसव/अरिष्ट**

मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: समभाग जल
(i) दशमूलारिष्ट	: दशमूल, चित्रक, पुष्कर मूल।
(ii) अश्वगन्धारिष्ट	: अश्वगन्धा, मूसली, हरिद्रा।
(iii) सारस्वतारिष्ट	: ब्राम्ही, शतावरी, विदारीकन्द।

6. **घृत**

मात्रा	: 10-20 मि.ली.
अनुपान	: मधु, शर्करा
(i) फल घृत	: मुलैठी, त्रिफला, विडंग
(ii) कल्याणक घृत	: इन्द्रायण, देवदारु, कुमारी

(iii) अश्वगन्धा घृत : अश्वगन्धा, अष्टवर्ग, बला
(iv) शतावरी घृत : शतावरी, घृत, क्षीर
(v) कामदेव घृत : कूठ, कायफल, विदारीकन्द
(vi) अपत्यकर घृत : शतावरी, विदारीकन्द, केवांच।

7. **तैल**
मात्रा यथावश्यक
स्थानिक प्रयोगार्थ : अभ्यंगार्थ
(i) महाचन्दनादि तैल : चन्दनद्वय, अगुरु, देवदारु।
(ii) अश्वगन्धा तैल : अश्वगन्धा, शतावरी, कूठ।
(iii) महासुगन्धि तैल : कर्पूर, अगर, दालचीनी।
(iv) श्रीगोपाल तैल : शतावरी, आंवला, असगन्ध।

8. **लेह/पाक**
मात्रा : 10-20 ग्रा.
अनुपान : क्षीर, जल
(i) च्यवनप्राशावलेह : दशमूल, अष्टवर्ग, आमलकी।
(ii) रतिवल्लभ पूग पाक : पूग, शर्करा, एला।
(iii) केशरपाक : त्रिकटु, तालमखाना, गोक्षुर, केशर।
(iv) अमृत भल्लातक : भल्लातक, त्रिफला, त्रिकटु।
(v) मूसलीपाक : मूसली, शुण्ठी, शतावरी।

9. **रसायन**
मात्रा : यथावश्यक
अनुपान : दुग्ध
(i) भल्लातक रसायन
(ii) आमलकी रसायन
(iii) लौह-शिलाजतु रसायन
(iv) अश्वगन्धा रसायन
(v) सिद्धमकर ध्वज

10. **सुरा**
मात्रा : 20-40 मि.ली.
अनुपान : जल
(i) मृतसंजीवनी सुरा : बबूलत्वक, बदरीत्वक, पूग।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. **निदान परिवर्जन**
2. प्रात: सायम्
मन्मथाम्र रस : 250 मि.ग्रा.
शिलाजत्वादि वटी : 250 मि.ग्रा.
नारसिंह चूर्ण : 2 ग्राम
मधु से 1×2 मात्रा
3. भोजनोत्तर
अश्वगन्धारिष्ट : 20 मि.ली.
सारस्वतारिष्ट : 20 मि.ली.
समभाग जल से 1×2 मात्रा
4. मूसली पाक : 20 ग्रा.
दूध से 1×2 मात्रा
5. रात्रि में सोते समय
हरीतकी चूर्ण : 3 ग्रा.
गर्म जल से 1 मात्रा
6. पौष्टिक आहार— दुग्ध, घृत, फल एवं सब्जी प्रचुर मात्रा में।
7. नियमित व्यायाम
8. योगासन— गोमुखासन, सिद्धासन, पद्मासन, पवनमुक्तासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन, भद्रासन, शवासन, वज्रासन, प्राणायाम।

पथ्यापथ्य

क्लैब्य के रोगा में युक्तिपूर्वक निम्न पथ्यापथ्य आहार-विहार हितकारी रहता है—

पथ्य

आहार	विहार
क्षीर- घृताभ्यास, ताम्बूल, साठी चावल, मदिरा, उड़द (माष) मधु, मांसरस, मुनक्का, पूग, पिण्डखर्जूर, आम, बादाम, काजू, अखरोट, सिंघाड़ा आदि।	गीत-संगीत, कर्णप्रिय मधुर वचन, स्पर्श सुख (स्त्रीस्पर्श), सुगन्ध धारण, माला धारण, सुन्दर मनोहर चित्र, वाजीकरण मित्र मण्डली, अभ्यंग, उबटन, स्नान, उत्तम शय्या, आसन आदि।

अपथ्य

आहार	विहार
सर्षपतैल, विरुद्धाशन, विदाही भोजन, अम्ल आदि।	रात्रि जागरण, अति मैथुन, अतिश्रम आदि।

Latest Developments

Impotency

Impotency is defined as a weakness especially pertaining to the inability of a man to achieve or maintain an erection. The etiology of impotence with respect to attributing the cause to physical conditions on psychiatric disorders may be tested in men by measuring nocturnal penile tumescence (NPT). This involves monitoring frequency and intensity of erections that normally accompany rapid eye movement sleep. There is no appreciable decline in those with psychogenic impotence.

Causes

i. Anatomical genital defects
ii. Paralysis of nerve supplying to the penis
iii. Central nervous lesions
iv. Diabetic neuropathy
v. Inadequate supply of arterial blood to the corpora cavernosa of the penis.
vi. Pharmacological side effects of Alcohol, Beta blockers, Anti Hypertensive, Diuretics, Antidepressants etc.
vii. Psychogenic emotional factors.

Management : Principles

i. Intra cavernosal injection of vasoactive drugs
ii. Oral drugs therapy, Aphrodisiac agents (Viagra etc.)

अध्याय-38

बन्ध्यता

(STERILITY)

व्याधि परिचय

आर्तववह स्रोतस् में विद्धता होने से बन्ध्यता, मैथुनासहिष्णुता व आर्तवनाश की उत्पत्ति होती है[1]। गर्भोत्पादन में असामर्थ्य को वन्ध्यत्व (Sterility) कहते हैं। वर्तमान समय में यह व्याधि बहुतायत से पाई जाती है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान-अध्याय 9
2. सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 38
3. माधव निदान, उत्तरार्ध-अध्याय 62, परिशिष्ट
4. भावप्रकाश, मध्य खण्ड, चिकित्सा प्रकरण-अध्याय 70
5. योगरत्नाकर-योनि व्यापद्रोगाणां चिकित्सा

परिभाषा

स्त्री या पुरुष में किसी भी कारण से होने वाली प्रजनन असमर्थता अथवा जन्मजात सन्तानोत्पत्ति के असामर्थ्य को 'बन्ध्यता' कहते हैं। बन्ध्या उस रोगिणी को कहा जाता है जिसमें किसी एक या दूसरे कारण से जीने योग्य संतान को जन्म देने की अक्षमता हो।

निदान

बन्ध्यता के निम्न प्रमुख कारण होते हैं[2]-

(i) मिथ्या आहार-विहार (ii) आर्तव की दुष्टता
(iii) आर्तव नष्टता (iv) बीज दोष
(v) सहज विकृतियाँ (Congenital malformations)
(vi) गर्भाशय के निज व आगंतुक विकार
(vii) धातु क्षय व दौर्बल्य यथा-रक्तक्षय, पाण्डुरोग, वृद्धावस्था इत्यादि।

1. "तत्र विद्धाया बन्ध्यत्वं मैथुनासहिष्णुत्वमार्तवनाशश्च॥" (सु.शा. 9/22)
2. "मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च।
जायन्ते बीजदोषाच्च देवाच्च शृणु ताः पृथक्॥" (च.चि. 30/8)

भेद

कामशास्त्र के ग्रंथों में निम्नलिखित 13 प्रकार की बन्ध्याऐं बतायी गई हैं—

1. **आदिबन्ध्या**—पूर्व जन्म के दुष्कृत या पापकर्म से उत्पन्न बन्ध्या को आदिबन्ध्या कहा जाता है।
2. **वातज बन्ध्या**— वातदोष की विकृति से उत्पन्न होने वाली बन्ध्या को वातजबन्ध्या कहा जाता है।
3. **पित्तज बन्ध्या**— पित्तदोष की विकृति से उत्पन्न होने वाली बन्ध्या को पित्तज बन्ध्या कहा जाता है।
4. **कफज बन्ध्या**— कफ दोष से उत्पन्न होने वाली बन्ध्या कफज बन्ध्या कहलाती है।
5. **रक्तज बन्ध्या**— रक्त दोष की विकृति से उत्पन्न होने वाली रक्तज बन्ध्या कहलाती है।
6. **त्रिदोषज बन्ध्या**— त्रिदोष विकृति जन्य बन्ध्या त्रिदोषज बन्ध्या कहलाती है।
7. **भूतज बन्ध्या**— भूतबाधा / ग्रहबाधा से उत्पन्न बन्ध्या को भूतज बन्ध्या कहा जाता है।
8. **दैवकृत बन्ध्या**— भाग्य दोष के कारण उत्पन्न बन्ध्या ही दैवकृत बन्ध्या कहलाती है।
9. **अभिचारज बन्ध्या**— अभिचार कर्मों से उत्पन्न बन्ध्या को अभिचारज बन्ध्या कहते हैं।
10. **गर्भस्राविणी बन्ध्या**— जिस बन्ध्या में गर्भधारण होने पर भी बार-बार गर्भपात हो जाता हो उसे गर्भ स्राविणी बन्ध्या कहते हैं।
11. **मृतपुत्रिका बन्ध्या**— जो रुग्णा मृत संतान को जन्म देती हो उसे मृत पुत्रिका बन्ध्या कहते हैं।
12. **कन्याप्रसूत बन्ध्या**— कन्या प्रसूत बन्ध्या उसे कहते हैं जो निरन्तर केवल कन्याओं को उत्पन्न करती हो।
13. **काक बन्ध्या**— जिस रुग्णा में एक गर्भाधान और बच्चे का जन्म हुआ हो उसके पश्चात् दूसरा गर्भाधान न होता हो।

हारीत संहिता में बन्ध्यता के निम्न चार प्रकार वर्णित किए गए हैं[1]—

(i) काक बन्ध्या
(ii) अनपत्या
(iii) गर्भस्रावी
(iv) मृतवत्सा

1. "काकबन्ध्या भवेच्चैका, अनपत्या द्वितीयका। गर्भस्रावी तृतीयाच्च कथिता मुनिसत्तमैः। मृतवत्सा चतुर्थी स्यात्॥" (हा.स. 3/48-7)

लक्षण

बन्ध्यता के विभिन्न भेदों के लक्षण निम्नानुसार हैं—

(i) **काक बन्ध्या**—एक बच्चा उत्पन्न होने के पश्चात् इसमें दूसरा बच्चा पैदा नहीं होता है। इसका कारण यह है कि प्रथम गर्भधारणा के समय स्त्री के शरीर में विकृति न होने पर भी प्रसूति के समय या प्रसूति के पश्चात् गर्भाशय में जीवाणुओं का उपसर्ग (Infection) पहुंचने पर शोथ होकर बीजवाहिनी (Fallopian tube) का मार्ग बन्द हो जाता है। औषसर्गिक पूयमेह-सूजाक (Gonorrhoea) एवं राजयक्ष्मा (Tuberculosis) इस प्रकार की बन्ध्यता के मुख्य कारण हैं। प्रसवकालीन तीव्र आघात या अपसंवृति (Subinvolution) से भी काकबन्ध्यता या एकापत्य बन्ध्यता (One child sterility) उत्पन्न हो सकती है। प्राचीन संहिता में इस रोग का वर्णन सूत्र मात्र में ही मिलता है।

(ii) **अनपत्या**—जिस स्त्री को कभी भी गर्भधारणा नहीं हुआ हो। इसके कारण प्रायः सहज (Congenital) होते हैं। इसे ही (Absolute Sterility) भी कहते हैं।

(iii) **गर्भस्रावी**—जिस स्त्री को गर्भधारण तो होता है परन्तु तीन-चार महीने में गर्भ का स्राव या गर्भपात हो जाता है। इसे ही गर्भस्रावी बन्ध्यता (Habitual Abortion) कहते हैं। इसके कारण कुछ सहज तथा जन्मोत्तर होते हैं, जैसे Vaginitis, Endometritis etc.

(iv) **मृतवत्सा**—जो स्त्री गर्भधारण होने के सातवें महीने (28th week) के पश्चात् प्रत्येक समय मृतगर्भ को ही जन्म देती है। ऐसे मृत गर्भ को Still Birth कहते हैं। गर्भस्राव के सभी कारण इसके भी कारण माने गए हैं।

बन्ध्यत्व परीक्षण

(i) **सामान्य परीक्षण**—स्त्री एवं पुरुष का पृथक्-पृथक् परीक्षण किया जाना चाहिये। दम्पत्ति के एक वर्ष के सहवासकाल में गर्भ धारणा न होने पर उनका परीक्षण कराना चाहिये।

(ii) **स्त्री का नैदानिक परीक्षण**—इसके अन्तर्गत निम्न परीक्षण करना चाहियें—

(अ) **सामान्य परीक्षण**—रुग्णा का इतिवृत्त, आयु, व्यवसाय, गृहकार्य, चिन्ता, शोक, भोजन, शारीरिक गठन, पोषण, स्तनों का विकास, जननांगों के विशिष्ट संक्रामक रोग, गोनोरिया, सिफिलिस आदि, अन्य संक्रामक रोग, मम्पस, आन्त्रपुच्छ शोथ, राजयक्ष्मा, स्थौल्य, मधुमेह, आर्तव सम्बन्धी इति वृत्त, आर्तवारम्भ, अनन्तर चक्र, अन्तिम आर्तव का काल, देर से आर्तव आरम्भ होना, अनियमित आर्तव प्रवृति आदि सभी प्रायः बन्ध्यत्व से सम्बन्धित रहते हैं।

(आ) **जननांगों का परीक्षण**—यह योनिमार्ग की ओर से या दोनों स्थान योनि व उदर प्रदेश की ओर से (Bimanual Palpation), योनिविस्फारक यन्त्र से और गुदमार्ग से किया जाना चाहिये।

चिकित्सा सूत्र

(i) बन्ध्यता की चिकित्सा में, योनिव्यापद रोग में वर्णित विभिन्न चिकित्सा सूत्र व सिद्धान्त अपनाना चाहियें।

(ii) साध्य योनि रोग में दोष के अनुसार स्नेहन आदि चिकित्सा करें। विशेष रूप से उत्तरबस्ति प्रयुक्त करें[1]।

(iii) शुक्र-आर्त्तवदोष, स्तन रोग, क्लैब्य, मूढ़गर्भ, गर्भिणी की मनोनुमासिक चिकित्सा, रक्तस्रावादि की चिकित्सा भी बन्ध्यता रोगी में अपनानी चाहिये[2]।

(iv) आचार्य भावप्रकाश के अनुसार साध्य योनि रोग में स्नेहन, उत्तर बस्ति, अभ्यंग, परिषेक, प्रलेप व पिचुधारण करना चाहिये[3]।

(v) बला, खाण्ड, अतिबला, मधूक (महुआ), वटांकुर, नागकेशर इन सभी के चूर्ण को मधु, घृत व क्षीर के साथ पीने से बन्ध्या स्त्री पुत्र को जन्म देती है[4]।

(vi) जिस स्त्री को ऋतुस्राव (आर्तव दर्शन) नहीं होता है उसे नित्य मछली खानी चाहिये। इसके अलावा कांजी, तिल, माष (उड़द) तक्र व दधि का भी सेवन करना चाहिये[5]।

(vii) अश्वगन्धा के क्वाथ से क्षीरपाक विधि से गोदुग्ध सिद्ध करके घृत मिलाकर ऋतु स्नान के पश्चात् प्रातः सेवन करने से गर्भधारण होता है[6]।

(viii) पुष्य नक्षत्र में उखाड़े गए लक्ष्मणा के मूल को कुंवारी कन्या से दूध में पिसवाकर पीने से गर्भधारण अवश्य होता है[7]।

1. "त्रिदोषं तु साध्यासु स्नेहादिक्रम इष्यते।
दद्यादुत्तरबस्तींश्च विशेषेण यथोदितान्॥" (सु.चि. 38/21)
2. "शुक्रार्त्तवादयो दोषाः स्तनरोगाश्च कीर्तिताः। क्लैब्यस्थानानि मूढ़स्य गर्भस्य विधिरेव च॥
गर्भिणीप्रतिरोगेषु चिकित्सा चाप्युदाहृता। सर्वथा तां प्रयुञ्जीत योनिव्यापत्सु बुद्धिमान्।"
(सु.चि. 38/31-32)
3. "तासु योनिषु चाद्यासु स्नेहादिक्रम इष्यते।
बस्त्यभ्यङ्ग परीषेक प्रलेपपिचुधारणम्॥" (भा.प्र.चि. प्रकरण योनिरोगाध्याय 70/35)
4. "बला सिता सातिबला मधूकं वटस्य शुङ्गं गजकेशरं च।
एतन्मधुक्षीरघृतैर्निपीतं बन्ध्या सुपुत्रं नियतं प्रसूते॥" (भा.प्र.चि. 70/25)
5. "आर्त्तवादर्शने नारी मत्स्यान्सेवेत नित्यशः।
काञ्जिकं च तिलान्माषानुदश्चिच्च तथा दधि॥" (भा.प्र.चि. 70/22)
6. "अश्वगन्धाकषायेण सिद्धं दुग्धं घृतान्वितम्।
ऋतुस्नाताऽङ्गना प्रातः पीत्वा गर्भं दधाति हि॥" (भा.प्र.चि. 70/26)
7. "पुष्योद्धृतं लक्ष्मणाया मूलं दुग्धेन कन्यया।
पिष्टं पीत्वा ऋतुस्नाता गर्भं धत्ते न संशयः॥" (भा.प्र.चि. 70/27)

(ix) कटसरैया की जड़, धाय के पुष्प, वटवृक्ष के अंकुर एवं नीलकमल इन सभी को दूध के साथ पीने से निश्चय रूप से गर्भधारण होता है[1]।

(x) जो बन्ध्या स्त्री पारस पीपल को जीरा व श्वेत शरपुंखा के साथ पीती है एवं साथ ही पथ्य का सेवन करती है उसे अवश्य गर्भधारण होता है[2]।

चिकित्सा

(अ) शोधन चिकित्सा

i. **स्नेहन**—बन्ध्यता की चिकित्सा के लिए रुग्णा का वाह्य एवं आभ्यातंर स्नेहन फलघृत, कल्याणक घृत, शतावरी घृत अथवा बला तैल से करना चाहिये।

ii. **स्वेदन**—नाड़ी, संकर व प्रस्तर स्वेद द्वारा रुग्णा का स्वेदन करना चाहिये।

iii. **संशोधन**—बन्ध्यता रुग्णा को मृदु वमन व विरेचन कराना चाहिये। विरेचन स्नेहयुक्त होना चाहिये।

iv. **बस्ति**—अपत्यपथ (Vaginal Route) से गर्भाशय में उत्तर बस्ति द्वारा औषधियों को पहुंचाया जाता है। यह बस्ति जीवनीय गण सिद्ध तैलों से दी जाती है। बन्ध्यता में पुनः पुनः बस्ति देने का विधान है। फल घृत उत्तरबस्ति के भी उत्साहवर्धक परिणाम मिलते हैं। विशेषकर बीजवाहिनी नलिका संकुचन (Fallopian tube blockage) एवं Tubal Patency में इसके परिणाम उत्साह जनक मिलते हैं। गंभारी, कुटज, दशमूल क्वाथ में घृत या तिल तैल मिलाकर उत्तर बस्ति देना चाहिये[3]।

(ब) शमन चिकित्सा

बन्ध्यता के रोगी में निम्न औषध योगों का प्रयोग युक्ति पूर्वक करना लाभप्रद रहता है-

1. **रस/भस्म**

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु
(i) नष्ट पुष्पान्तक रस	: कज्जली, लौह, वङ्ग, अभ्रक
(ii) लक्ष्मणादि लौह	: लक्ष्मणा, हस्तिकर्ण, पलाश
(iii) पुष्पधन्वा रस	: रस सिन्दूर, नाग भस्म, लौह भस्म
(iv) पुनर्नवा मण्डूर	: पुनर्नवा, निशोथ, मण्डूर
(v) प्रदरान्तक रस	: कज्जली, बंङ्ग, रजत
(vi) त्रिबंङ्ग भस्म	: नाग, वङ्ग, यशद

1. "कुरण्ट मूलं सातक्याः कुसुमानि वटाङ्कुराः।
नीलोत्पत्रं पयोयुक्तमेतद् गर्भघ्नदं ध्रुवम्॥" (भा.प्र.चि. 70/28)
2. "याऽबला पिबति पार्श्वपिप्पलं जीरकेण सहितं हिताशिनी।
श्वेतया विशिखपुङ्ख्या युतं सा सुतं जनयतीह नान्यथा॥" (भा.प्र.चि. 70/29)
3. "काश्मर्यकुटजक्वाथसिद्धभुत्तरबस्तिना॥
रक्तयोन्यरजस्कानां पुत्रघ्न्याश्च हितं घृतम्।" (च.चि. 30/100-101)

2. **वटी**
   - मात्रा : 250-500 मि.ग्रा.
   - अनुपान : मधु, जल
   - (i) आरोग्यवर्धिनी वटी : कज्जली, लौह, अभ्रक, शिलाजतु
   - (ii) रज: प्रवर्तनी वटी : कुमारी, टंकण, उलटकम्बल
   - (iii) चन्द्रप्रभा वटी : शिलाजतु, गुग्गुलु, लौह
3. **चूर्ण**
   - मात्रा : 3-6 ग्राम
   - अनुपान : मधु, जल
   - (i) अश्वगन्धादि चूर्ण : अश्वगन्धा, विदारीकन्द, गोक्षुर
   - (ii) पुष्यानुग चूर्ण : पाठा, मोचरस, अनन्तमूल
4. **क्वाथ**
   - मात्रा : 20-40 मि.ली.
   - अनुपान : जल
   - (i) दशमूल क्वाथ : लघु व बृहद् पंचमूल
5. **आसव/अरिष्ट**
   - मात्रा : 20-40 मि.ली.
   - अनुपान : समभाग जल
   - (i) कुमार्यासव : कुमारी, तेजपत्र, दालचीनी
   - (ii) दशमूलारिष्ट : दशमूल, चित्रकमूल, लोध्र
   - (iii) अश्वगधारिष्ट : अश्वगन्धा, मूसली
   - (iv) अशोकारिष्ट : अशोक, नागरमोथा, शुण्ठी
   - (v) सारस्वतारिष्ट : ब्राम्ही, शतावरी, विदारीकन्द
6. **घृत**
   - मात्रा : 10-20 मि.ली.
   - अनुपान : क्षीर
   - (i) फलघृत : मुलैठी, शतपुष्पा, दन्तीमूल
   - (ii) अशोक घृत : अशोक, जीरक, जीवनीयगण
   - (iii) कामदेव घृत : कूठ, कायफल, विदारी कन्द
   - (iv) कल्याण घृत : इन्द्रायणमूल, त्रिफला, कुमारी
7. **पाक/लेह**
   - मात्रा : 10-20 ग्राम
   - अनुपान : क्षीर
   - (i) केशरपाक : त्रिकटु, तालमखाना, केशर
   - (ii) कौंच पाक : केवांच, नाग, बंङ्ग

8. **तैल/बाह्य प्रयोगार्थ एवं उत्तर बस्ति हेतु**
   - (i) नारायण तैल : असगन्ध, प्रसारणी, बला
   - (ii) बला तैल : बला, दशमूल, कुल्थी

(स) **कल्प चिकित्सा**

i. **लशुन कल्प**[1]—आचार्य काश्यप ने बन्ध्यता चिकित्सा में लशुन कल्प का विधान बताया है। इसमें लशुन को संख्या के आधार पर 100, 60 व 50 की मात्रा में खिलाया जाता है।

ii. **शतपुष्पा व शतावरी कल्प**[2]—महर्षि काश्यप के अनुसार बन्ध्यता रोगी में 100 पल (औसत 5 कि.ग्रा.) चूर्ण बनाकर सौंफ या शतावरी का सेवन कराया जाता है। प्रतिदिन प्रात:काल 1 पल (48 ग्राम) की मात्रा में सौंफ या शतावरी घृत के साथ दें। जीर्ण होने पर दूध व चावल दें।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन

	प्रात: सायम्
2. पुष्यधन्वा रस	: 250 मि.ग्रा.
प्रदरान्तक लौह	: 125 मि.ग्रा.
प्रवाल भस्म	: 250 मि.ग्रा.
पुष्यानुग चूर्ण	: 2 ग्राम
मधु से	1×2 मात्रा
3. चन्द्रप्रभा वटी	: 2 वटी×तीन मात्रा
4. भोजनोत्तर	
कुमार्यासव	: 20 मि.ली.
अशोकारिष्ट	: 20 मि.ली.
समभाग जल से	1×2 मात्रा
5. फल घृत	: 20 मि.ली.
दूध से	1×2 मात्रा

6. पौष्टिक आहार
7. नियमित व्यायाम

पथ्यापथ्य

वन्ध्यत्व रोगी में पूर्व में वर्णित क्लैब्य रोगानुसार पथ्यापथ्य आहार-विहार का सेवन कराया जाना लाभप्रद रहता है।

1. "काश्यप संहिता।" (कल्प स्थान लशुनकल्पाध्याय-5)
2. "काश्यप संहिता।" (कल्प स्थान शतपुष्पाशतावरी कल्पाध्याय-8)

Latest Developments

Sterility

The inability of the female to become pregnant or for the male to impregnate a female is termed as sterility.

Types

(1) (i) Absolute Sterility - incurable
(ii) Relative sterility - curable

(2) (i) Male sterility
(ii) Female sterility

Causes

I. Male

(i) **Congenital**—Cryptorchidism, maldevelopment of testicular duct or testis

(ii) **Acquired**—Lack of Libido, impotence

II. Female

(i) **Congenital**

(a) Absence or maldevelopment of uterus, fallopian tubes or ovaries,

(b) Infantile uterus

(ii) **Acquired**—Vaginal inflammation, cervix narrowing of internal os, acute & chronic endo cervicitis, polyps, fibroid uterus, endometritis, salpingo-oopheritis, neoplasms, psychological & emotional disturbances, hormonal disturbances etc.

Management : Principles

(i) Micro surgery
(ii) Invitro Fertilization (Test Tube baby)
(iii) Hormonal therapy
(iv) Sperm insemination

अध्याय-39

उपदंश (ध्वजभंग)
(CHANCROID)

यौन संक्रमित रोग एवं यौन मनोगत विकार

यौन संक्रमित रोग (Sexually Transmitted Diseases)

यौन संक्रमित रोगों को संसर्गिक (Veneral Diseases) रोग भी कहा जाता है। ये रोग संक्रमित योनि या लिङ्ग से उत्पन्न होते हैं। ये सभी रोग स्त्री से पुरुष में एवं पुरुष से स्त्री में संक्रमित होते हैं। गर्भावस्था के दौरान उत्पन्न होने पर माता से नवजात शिशु में भी यह रोग संक्रमित हो सकता है। यौन संक्रमित रोगों में मुख्यत: निम्न रोग समाहित होते हैं—

i. उपदंश या ध्वजभंग (Soft Chancre)
ii. फिरंग (Syphilis)
iii. पूयमेह रोग या सूजाक रोग (Gonorrhoea)
iv. ओजक्षय या व्याधिक्षमत्वक्षय (Acquired Immuno Deficiency Syndrome-AIDS)
v. रतिजन्य वंक्षणीय कणिकार्बुद (Granuloma Inguinale-Venerum)
vi. वंक्षणसन्धिय लसकणिकार्बुद (Lympho-granuloma Venerum Inguinale)

रतिजन्य रोग या जननेन्द्रिय सम्बन्धी रोगों का आक्रमण प्राचीनकाल से ही होता आया है। वर्तमान काल में इस सन्दर्भ में कुछ नवीन रोग भी उत्पन्न हुए हैं जिनका संहिता ग्रन्थों में वर्णन नहीं मिलता हैं। कुछ प्रमुख यौन संक्रमित या रतिजन्य रोगों (Sexually Transmitted Diseases or Veneral Diseases) का वर्णन यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

उपदंश व्याधि परिचय

उपदंश दुष्ट योनि या लिङ्ग से उत्पन्न होने वाला प्राचीनतम रोग है। सर्वप्रथम उपदंश का वर्णन आचार्य सुश्रुत ने किया है। आचार्य चरक ने इसे ध्वजभंग नाम से वर्णित किया है। इस रोग में लिङ्गेन्द्रिय के ऊपर व्रण उत्पन्न होते हैं। यह व्रण मृदु (soft) होते हैं। यह कामिनी व कामदेव के मनोज मंदिर के राजभोग का एक निन्दनीय अभिशाप है। आधुनिक विज्ञान में इसे संक्रमण जन्य रोग माना गया है जो एक तरह के जीवाणु से

उत्पन्न होता है। उपदंश (ध्वजभंग) रोग का सामञ्जस्य आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित Chancroid या Soft Chancre नामक रोग से किया जा सकता है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 30
2. सुश्रुत संहिता, निदान स्थान-अध्याय 12
3. सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 19
4. अष्टाङ्ग हृदय, उत्तर स्थान-अध्याय 33, 34
5. चक्रदत्त-अध्याय 47
6. माधव निदान-अध्याय 47
7. भाव प्रकाश, मध्य खण्ड-अध्याय 51
8. भैषज्य रत्नावली-अध्याय 52

परिभाषा

स्त्री व पुरुषों के जननाङ्गों पर उत्पन्न पीत रक्तस्राव युक्त व्रण को उपदंश कहा जाता है।

पर्याय

1. उपदंश
2. ध्वजभंग
3. Soft Sore
4. Soft Chancre
5. Chancroid

निदान

विभिन्न ग्रंथों में उपदंश रोग के निम्न हेतु या कारण बतलाए गए हैं[1]—

1. अति व्यवाय
2. दुष्टयोनि संसर्ग
3. हस्त, मुख, दन्त व शूक से शिश्न पर आघात होना
4. शिश्न शोधन व धावन न करना
5. अति ब्रह्मचर्य करना
6. अतिब्रह्मचारिणी-रजस्वला-दीर्घरोमा-कर्कशरोमा-संकीर्णरोमा-निगूढ़रोमा-अल्प द्वारा-महाद्वारा-अप्रिय-अकामा-अशुद्धजल प्रक्षालिता-अप्रक्षालिता योनि में मैथुन करना।
7. वेग धारण करना
8. लिङ्ग को दबाना (अवपीड़न), हस्तमैथुन करना
9. योनिदोष होना
10. पशु योनि (गाय, भैस) में मैथुन करना
11. मैथुन के पश्चात् लिंग प्रक्षालन नहीं करना
12. वेश्या गमन करना आदि।

1. i) "ध्वजभङ्गकृतं शृणु॥ अत्यम्ललवणक्षार .....।
.....प्रवर्तते॥" (च.चि. 30/162-168)
ii) "तत्रादिमैथुनादतिब्रह्मचर्याद्वा .....।
.....तमुपदंशमित्याचक्षते॥" (सु.नि. 12/10)
iii) "हस्ताभिघातान्नखदन्तपादादधावनाद्व्यतिसेवनाद्वा।
योनिप्रदोषाच्च भवन्ति शिश्ने पञ्चोपदंशा विविधापचारैः॥" (मा.नि. 47/1)
iv) "स्त्रीव्यवायनिवृत्तस्य .....।
.....जनयन्त्युदंशादीन्॥" (अ.हृ.उ. 33/1-5)

आधुनिक निदान

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इस रोग का प्रधान कारण Bacillus of Ducrey's नामक दण्डाणु को माना गया है। यह दण्डाणु रक्ताश्रित (Haemophilus) जाति का है। यह पूयजनक (Pyogenic) जीवाणु है जो अशुद्ध योनि में अधिकता से पाया जाता है। मैथुन के समय शिश्नआवरक (Condom) का प्रयोग न करने से यह जीवाणु एक-दूसरे में संक्रमित होता है। सन् 1889 में डयूक्रे नामक पाश्चात्य विद्वान ने इस दण्डाणु की खोज की थी, इसी के आधार पर उत्पादक कारण को Bacillus of Ducrey's कहा जाता है।

सम्प्राप्ति

पूर्व वर्णित निदानों के सेवन से प्रकुपित वातादि दोष क्षत या अक्षत शिश्न में शोथ उत्पन्न कर देते हैं, तत्पश्चात् व्रणोत्पत्ति होकर उपदंश रोग का प्रादुर्भाव होता है[1]।

सम्प्राप्ति चक्र

निदान सेवन
↓
पित्त प्रधान त्रिदोष का प्रकोप
↓
जननांगों में शोथ उत्पत्ति
↓
व्रणोत्पत्ति
↓
उपदंश रोग

संक्रमण जन्य सम्प्राप्ति

आधुनिक मतानुसार उपदंश (Soft Chancre) पीड़ित व्यक्ति के साथ मैथुन करने

1. "प्रकुपिता दोषाः क्षतेऽक्षते वा श्वयथुमुपजनयन्ति, तमुपदंशमित्याचक्षते॥" (सु.नि. 17/7)

से एक से चार दिनों के अंदर पुरुष में शिश्नमणि (Glans Penis) की त्वचा, सेवनी व स्त्री में भग शिश्निका (Clitoris) एवं लघु भगौष्ठ (Labia Minora) पर व्रण बन जाते हैं। ये व्रण मृदु होते हैं और इनसे गाढ़ा पीला रक्तयुक्त स्राव निकलता है, यह पूय (Pus) कहलाता है। यह स्राव जहाँ भी लगता है वहाँ व्रण उत्पन्न करता है। यदि स्वच्छता रखी जाय तो तीन सप्ताह में व्रण रोपण हो जाता है अन्यथा व्रणोत्पत्ति का क्रम निरंतर चलता रहता है। वंक्षण ग्रंथि (Inguinal Glands) भी पककर फूटती रहती हैं। कभी-कभी सम्पूर्ण शिश्न ही शोथयुक्त हो जाता है और शिश्नमणि की त्वचा (Prepuce) आदि गलकर गिरने लगती हैं।

इस रोग का संक्रमण रोगी के वस्त्र, रूमाल, पात्र आदि का प्रयोग करने से, सहभोज व सहवास से होता है।

संचयकाल (Incubation Period)— इस रोग का संचय काल 3 से 7 दिन होता है।

सम्प्राप्ति घटक

दोष- पित्त प्रधान त्रिदोष
दूष्य- रक्त, लसिका
स्रोतस्-मूत्रवह, प्रजननवह स्रोतस्
स्रोतोदुष्टि-अतिप्रवृत्ति
अधिष्ठान-जननेन्द्रिय

भेद

आचार्य सुश्रुत ने उपदंश रोग के निम्न पांच भेद वर्णित किए हैं[1]-

1. वातज
2. पित्तज
3. श्लैष्मिक
4. रक्तज
5. सन्निपातज।

पूर्वरुप

ग्रंथों में उपदंश रोग के पूर्वरुपों का स्पष्टत: उल्लेख नहीं मिलता है। अत: आगन्तुक व्रण के पूर्वरुप ही उपदंश के पूर्व रुप समझना चाहिए, जो निम्न हैं—

1. रक्तिमा
2. उष्णाधिक्यता
3. रुजा या वेदना होना।

1. "स पञ्चविधस्त्रिभिर्दोषैः पृथक् समस्तैरसृजा चेति॥" (सु.नि. 12/8)

लक्षण

उपदंश व ध्वजभंग रोग में निम्न सामान्य लक्षण प्राप्त होते हैं[1]—

(i) लिङ्ग में शोथ-शूल-रक्तिमा-स्फोट-पाक मिलना
(ii) लिङ्ग के ऊपर मांसोत्पत्ति व वृद्धि होकर शीघ्र ही व्रण उत्पत्ति हो जाना
(iii) व्रण से पुलाकोदक के समान श्याम अरुण वर्ण का स्राव होना
(iv) अग्नि दग्ध के समान तीव्र दाह व वेदना होना
(v) लिङ्ग का सदैव क्लेद युक्त रहना व सड़ी गन्ध आना
(vi) ज्वर-तृष्णा-भ्रम-मूर्च्छा-छर्दि का रहना
(vii) शिश्नमणि, मेढ्र, मुष्क का सड़कर गिरना

इसके अतिरिक्त आधुनिक मतानुसार उपदंशज व्रण में निम्न विशेषताएँ पाई जाती हैं-

(i) संक्रमण के 3 से 5 दिन पश्चात् जननेन्द्रिय पर स्फोट उत्पत्ति
(ii) स्फोट के फूटने पर व्रणोत्पत्ति होना जिसमें निम्न विशेषताएँ होती हैं-
  (अ) व्रण के किनारे साफ कटे हुए व मृदु होते हैं। (Sharply cut and soft chancre)
  (ब) व्रण से गाढ़ा, पीला, रक्त मिश्रित स्राव निकलना।
  (स) व्रण का शिश्नमणि, शिश्न, अण्डकोश, सेवनी, लघु भगौष्ठ, भगशिश्निका आदि स्थलों पर उत्पन्न होना।
  (द) व्रण स्राव का विसर्पी स्वभाव होने से शरीर के दूसरे स्थान पर भी संक्रमण हो जाता है।
(iii) व्रण के स्थान की वंक्षण ग्रन्थि वेदना एवं शोथ युक्त (Tender & Inflammatory Inguinal glands) होती हैं।
(iv) व्रण स्थान रक्तिमामय होता है।
(v) व्रणों की संख्या अनेक (Multiple) होती है।

भेदानुसार लक्षण

उपदंश रोग के विभिन्न भेदों के विशिष्ट लक्षण निम्नानुसार होते हैं—

I **वातज उपदंश**[2]

(i) तोद, भेदन, स्फुरण आदि वातिक वेदनाएं होना

1. "भवन्ति यानि रुपाणि .....।
.....ध्वजभङ्गं प्रचक्षते॥" (च.चि. 30/168-176)
2. i) "तत्र वातिके पारुष्यं त्वक्परिस्फुटनं स्तब्धमेढ्रता परुष शोफता विविधाश्च वातवेदनाः।" (सु.नि. 12/9)
ii) "सतोदभेदैः स्फुरणैः सकृष्णैः स्फोटैर्व्यवस्येत्पवनोपदंशम्॥" (मा.नि. 47/1)

(ii) स्फोट कृष्णवर्ण का होना
(iii) पारुष्य, त्वक् परिस्फुटन (फटना)
(iv) सूजन में कठोरता होना

II **पित्तज उपदंश**[1]
(i) ज्वर
(ii) शोथ
(iii) पक्वोदुम्बर सदृश वर्ण
(iv) तीव्र दाह
(v) स्फोट पीले, क्लेद व दाह युक्त
(vi) शीघ्र पाक
(vii) पित्तज वेदनाएं होना।

III **श्लैष्मिक उपदंश**[2]
(i) कण्डू व शोथ युक्त व्रण
(ii) कठिन स्निग्ध व्रण
(iii) शुक्ल व घनस्राव युक्त स्फोट
(iv) विभिन्न कफज वेदनाएं होना।

IV **रक्तज उपदंश**[3]
(i) शिश्न पर कृष्ण स्फोट होना
(ii) अति रक्तस्राव
(iii) पैत्तिक उपदंश के लक्षण होना
(iv) ज्वर, दाह, शोष होना।

V **सन्निपातज उपदंश**[4]
(i) अनेक प्रकार के स्राव होना

1. i) "पैत्तिके ज्वरः श्वयथुः पक्वोदुम्बरसङ्काशस्तीव्र दाहः क्षिप्रपाकः पित्तवेदनाश्चः॥" (सु.नि. 12/9)
   ii) "पीतैबर्हुक्लेदयुतैः सदाहैः पितेन।" (मा.नि. 47/2)
2. i) "श्लैष्मिके श्वयथुः कण्डूमान् कठिनः स्निग्धःश्लेष्म वेदनाश्च॥" (सु.नि. 12/9)
   ii) "सकण्डुरैः शोथयुतैर्महद्भिः शुक्लैर्घनैः स्रावयुतैः कफेन॥" (मा.नि. 47/3)
3. i) "रक्तजे कृष्णस्फोटप्रादुर्भावोऽत्यर्थमसृक प्रवृत्तिः। पित्तलिङ्गान्यत्यर्थ ज्वरदाहौ शोषश्चः॥" (सु.नि. 12/9)
   ii) "रक्तात् पिशितावभासैः॥ स्फोटैः सकृष्णै रुधिरं स्रवन्तं रक्तात्मकं पित्तसमानलिङ्गम्।" (मा.नि. 47/2-3)
4. i) "सर्वजे सर्वलिङ्गदर्शनं भवदरणं च। शेफसः कृमि प्रादुर्भावो मरणं चेति॥" (सु.नि. 12/9)
   ii) "नानाविधस्रावरुजोपपन्नमसाध्यमाहुस्त्रिमलोपदंशम्।" (मा.नि. 47/4)

(ii) नानाविध वेदनाएं होना
(iii) वातादि त्रिदोषज उपदंश के लक्षण होना
(iv) शिश्न का विदीर्ण होना
(v) शिश्न व शरीर में कृमि होना
(vi) मृत्यु हो जाना।

सापेक्ष निदान

उपदंश रोग का सापेक्ष निदान फिरंग रोग से किया जाता है, क्योंकि ये दोनों रतिजन्य रोग जननेन्द्रिय पर व्रण उत्पन्न कर प्रकट होते हैं। अतः उपदंश व्रण व फिरंगज व्रण में निम्न लक्षणों के आधार पर भेद किया जा सकता है—

उपदंश (Chancroid) (Soft Chancre)	फिरंग (Syphilis) (Hard Chancre)
1. मैथुन (संक्रमण) के पश्चात् तीसरे या चौथे दिन व्रणोत्पत्ति होती है।	1. मैथुन (संक्रमण) के पश्चात् प्रायः तीसरे सप्ताह में व्रणोत्पत्ति होती है।
2. सामान्यतया अनेक व्रण उत्पन्न होते हैं।	2. सामान्यतया एक व्रण उत्पन्न होता है।
3. व्रण मृदु होते हैं एवं दाह व पीड़ा की अधिकता होती है।	3. व्रण तरुणास्थि के समान कठिन होता है एवं दाह-पीड़ा का अभाव रहता है।
4. व्रण स्राव में पूय रक्तयुक्त होता है।	4. व्रण स्राव में लसिका होती है।
5. व्रण के किनारे (Edge) साफ कटे हुए, भीतर से कुछ अवकाश युक्त व व्रण तल से कुछ उठे हुए (Elevated) होते हैं।	5. व्रण के किनारे साफ, अवकाश युक्त व उठे हुए नहीं होते हैं।
6. सूक्ष्मदर्शीय परीक्षण में व्रण स्राव में Bacillus of Ducrey's नामक जीवाणु पाया जाता है।	6. सूक्ष्मदर्शीय परीक्षण में व्रण स्राव में Treponema Pallidium नामक Spirochete पाया जाता है।
7. केवल व्रण की ओर की वंक्षण ग्रन्थियाँ फूलती हैं।	7. व्रण के दोनों ओर की (Bilaterally) वंक्षण ग्रंथियाँ फूलती हैं।

8.	व्रण स्राव को सूची (Needle) द्वारा अन्य स्थान पर प्रविष्ट कराने पर सामान्य व्रण पैदा होता है।	8. व्रण स्राव को अन्य स्थान पर प्रविष्ट कराने पर समान व्रण पैदा नहीं होता है।
9.	स्थानिक लक्षण ही पैदा होते है, सार्वदैहिक लक्षण नहीं होते हैं।	9. स्थानिक लक्षण शांत होकर भी सार्वदैहिक लक्षण बने रहते हैं।
10.	यह अधिक घातक नहीं होता है व शीघ्र ठीक हो जाता है।	10. यह वर्षगणानुबन्धी व अधिक घातक होता है।

विशेष

कभी-कभी उपदंश के साथ फिरंग का तथा फिरंग के साथ उपदंश का उपसर्ग भी हो सकता है। इसलिए व्रण में मिश्रित रुप के लक्षण मिलने पर भी व्यामोह (संशय) उत्पन्न होने की आवश्यकता नहीं है, लक्षणों की गहन रूप से छानबीन करने से तथा व्रण स्राव की विकृति विज्ञानीय सूक्ष्मदर्शक परीक्षा करने से रोग विनिश्चिय सुगम हो जाता है।

साध्यासाध्यता

1. वातज, पित्तज व श्लैष्मिक उपदंश सुखसाध्य होता है।
2. रक्तज उपदंश याप्य होता है।
3. सन्निपातज उपदंश असाध्य होता है।
4. जिस आतुर के शिश्न का मांस कटकर गिरने लगा हो या कृमियों की उत्पत्ति होकर शिश्न गिर गया हो तो उसे असाध्य उपदंश मानना चाहिए[1]।
5. उपदंश उत्पन्न होते ही जो आतुर विषयासक्त होने के कारण चिकित्सा नहीं कराता है, कुछ समय के पश्चात् उसका शिश्न शोथ, कृमि, दाह व पाक से युक्त होकर गिर जाता है, जिससे रोगी की मृत्यु तक हो जाती है[2]।

उपद्रव

उपदंश के रोगी के व्रण की स्वच्छता (शोधन) व रोपण चिकित्सा के अभाव में व्रण बढ़ने लगता है। तत्पश्चात् अन्य आभ्यन्तर धातुओं (Tissues) के गलन के पश्चात् रक्तवाहिनियाँ (Blood Vessels) भी गलने लगती हैं। इसके फलस्वरुप रक्तस्राव (Bleeding) होने लगती है। कभी-कभी शिश्न चर्म (Prepuce) गलकर शिश्नमणि

1. "विशीर्णमांसं कृमिभिः प्रजग्धं मुष्कावशेषं परिवर्जयेच्च॥" (मा.नि. 47/4)
2. "संजातमात्रे न करोति मूढः क्रियां नरो या विषये प्रसक्तः।
कालेन शोथक्रिमिदाहपाकैर्विशीर्ण शिश्नो म्रियते स तेन॥" (मा.नि. 47/5)

(Glans) बाहर आ जाती है। व्रण स्थान में कोथ हो जाने से शिश्न ही गल जाता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी शिश्नमणिशोथ (Balanitis), निरुद्धप्रकाश (Phimosis) व परिकर्त्तिका (Paraphimosis) की उत्पत्ति उपद्रव स्वरुप होती है। कभी-कभी गलित शिश्न के कारण मृत्यु हो सकती है।

चिकित्सा सूत्र

आचार्यों ने उपदंश रोग की चिकित्सा के लिए निम्न सामान्य सिद्धान्त निर्दिष्ट किए हैं—

(i) साध्य उपदंश रोगी में सर्वप्रथम स्नेहन-स्वेदन कराकर लिङ्ग में सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण करना चाहिये अथवा जलौकावचारण द्वारा रक्तमोक्षण कराना चाहिये तत्पश्चात् वमन-विरेचन कर्म के द्वारा देह संशोधन करावें। रक्तमोक्षण और संशोधन के द्वारा दोषों के शरीर से बाहर निकल जाने पर वेदना व शोथ शान्त हो जाता है[1]।

(ii) दुर्बल रोगी में अनुवासन एवं आस्थापन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।[2]

(iii) प्रदेह-परिषेक-धावन-प्रक्षालन कर्म करें[2]।

(iv) व्रण गत सभी सामान्य उपक्रम करें[2]।

(v) वण्र को ग्राही-जन्तुघ्न, विसंक्रामण क्वाथ आदि से धोकर व्रण का शोधन-रोपण-बंधन (Bandaging) करना चाहिए।

(vi) व्रण में पाक हो जाने पर सिरा-स्नायु-त्वचा व मांस के सड़ने से लिङ्ग क्षीण हो जाता है। पक जाने पर शस्त्र चिकित्सा करना चाहिये। पूय को निकालकर घृत व मधु में तिल मिलाकर लेप करें[3]।

(vii) रक्तशोधक औषधियों का प्रयोग करें।

1. i) "उपदंशेषु साध्येषु स्निग्धस्विन्नस्य देहिनः। सिरां विध्येन्मेढ्रमध्ये पातयेद्वा जलौकसः॥
हरेदुभयतश्चापि दोषानत्यर्थमुच्छ्रितान्। सद्योऽपहृतदोष य रुक्शोफवुपशाम्यतः।
यदि वा दुर्बलो जन्तुर्न वा प्राप्तं विरेचनम्। निरूहेण हरेत्तस्य दोषानत्यर्थमुच्छ्रितान्॥"
(सु.चि. 19/25-27)

ii) "स्निग्धस्विन्नशरीरस्य .....।.....हि सः॥"
(चक्रदत्तः 47/1-2)

2. "ध्वजभङ्गकृतं क्लैब्यं ज्ञात्वा तस्याचरेत् क्रियाम्॥ प्रदेहान परिषेकांश्च कुर्याद्वा रक्तमोक्षणम्।
स्नेहपानं च कुर्वीत सस्नेहं च विरेचनम्॥अनुवासं ततः कुर्यादथवाऽऽस्थापनं पुनः।
व्रणवच्च क्रियाः सर्वास्तत्र कुर्याद्विचक्षणः॥"
(च.चि. 30/199-201)

3. "न याति च यथा पाकं प्रयतेत् तथा भिषक्। विदग्धैस्तु सिरास्नायुत्वङमांसैः क्षीयते ध्वजः॥
शस्त्रेणोपक्रमेच्चापि पाकमागतमाशु वै। तदाऽपोह्य तिलैः सर्पिक्षौद्रयुक्तैः प्रलेपयेत्॥"
(सु.चि. 19/37-38)

चिकित्सा

I शोधन चिकित्सा

(i) स्नेहन— भूनिम्बाद्य घृत या करञ्जाद्य घृत द्वारा
(ii) स्वेदन
(iii) रक्तमोक्षण— जलौका द्वारा
(iv) वमन कर्म
(v) विरेचन कर्म
(vi) निरुह बस्ति
(vii) व्रण प्रक्षालन हेतु— (वर्ण शोधनार्थ)
- पंचक्षीरी क्वाथ
- भूतघ्न चक्रिका द्राव
- त्रिफला क्वाथ
- भृङ्गंराज स्वरस

II शमन चिकित्सा

1. **व्रण रोपण हेतु— (स्थानिक प्रयोग)**
- त्रिफला मसी (त्रिफला की जली राख)
- जात्यादि तैल
- जात्यादि घृत
- व्रणराक्षस तैल
- आगार धूमाद्य तैल

2. **रस/भस्म/पिष्टी**

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, आर्द्रक स्वरस
(i) त्रिबंग भस्म	: नाग, बंङ्ग, यशद आदि।
(ii) व्याधिहरण रस	: कज्जली, मल्ल, हरताल आदि।
(iii) अष्टमूर्ति रसायन	: कज्जली, हिंगुल, मनःशिला आदि।
(iv) उपदंशगज केशरी रस	: पारद, भल्लातक, यवानी आदि।
(v) रस माणिक्य	: हरताल आदि।
(vi) गंधक रसायन	: शुद्ध आमलासार गंधक।
(vii) अमीर रस	: रस कर्पूर, हिंगुल, सैंधव आदि।
(viii) शुभ्रा भस्म	: शुद्ध फिटकरी
(ix) कासीस भस्म	: शुद्ध कासीस।
(xi गैरिक भस्म	: शुद्ध गैरिक।

(xi) रस कर्पूर	: पारद, शुभ्रा, कासीस आदि।
(xii) प्रवाल पिष्टी	: शु. प्रवाल।

3. **वटी/गुग्गुलु**

मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: सुखोष्ण जल
(i) आरोग्यवर्धिनी वटी	: कज्जली, अभ्रक, ताम्र, कुटकी आदि।
(ii) कैशोर गुग्गुलु	: त्रिफला, गुडुची, गुग्गुलु आदि।
(iii) रस गुग्गुलु	: पारद, घृत, गुग्गुलु आदि।
(iv) वरादि गुग्गुलु	: त्रिफला, निम्ब, खदिर आदि।
(v) रसशेखर वटी	: पारद, अफीम, हिंगुल आदि।

4. **चूर्ण**

मात्रा	: 2-6 ग्राम
अनुपान	: सुखोष्ण जल, मधु, घृत
(i) चोपचीन्यादि चूर्ण	: चोपचीनी, मरिच, अकरकरा आदि।

5. **क्वाथ**

मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: जल
(i) पटोलादि क्वाथ	: पटोल, निम्ब, अमृता आदि।
(ii) उपदंशहर कषाय	: निम्ब, कांचनार, बबूल आदि।

6. **आसव/अरिष्ट**

मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: समभाग जल (भोजनोत्तर)
(i) महामंजिष्ठाद्यरिष्ट	: मंजिष्ठा, निम्ब आदि।
(ii) देवदार्व्याद्यरिष्ट	: देवदारु, वासा, मंजिष्ठा आदि।
(iii) सारिवाद्यासव	: सारिवा, लोध्र, नागरमोथा आदि।

7. **अवलेह**

मात्रा	: 10-20 ग्राम
अनुपान	: दुग्ध, सुखोष्ण जल
(i) सारिवाद्यवलेह	: सारिवा, अमृता, जीवनीय गण आदि।

8. **पाक**

मात्रा	: 20-40 ग्राम
अनुपान	: दुग्ध
(i) चोपचीनी पाक	: चोपचीनी, अकरकरा, शर्करा आदि।

9. घृत/तैल
   मात्रा : यथावश्यक
(i) अन्तःप्रयोगार्थ
   • करञ्जाद्य घृत : करंज, निम्ब, विजयसार आदि।
   • भूनिम्बाद्य घृत : चिरायता, निम्ब, त्रिफला आदि।
(ii) बाह्यः प्रयोगार्थ
   • जात्यादि तैल : जाती पत्र, लोध्र, खदिर आदि।
   • गो जिह्वादि तैल : गोजिह्वा, बिडंग, मुलैठी आदि।
   • आगार धूमाद्य तैल : आगार धूआँ, हरिद्रा आदि।
   • कोशातकी तैल : कोशातकी बीज, शुण्ठी आदि।
10. लेप
   मात्रा : यथावश्यक (बाह्य प्रयोगार्थ)
(i) उपदंशहर मल्हर : कञ्जली, तुलसी, बिडंग आदि।
(ii) उपदंशहर चूर्ण प्रलेप : वराटिका, मुर्दाश्रृङ्ग, कर्पूर आदि।
(iii) गैरिकादि लेप : गैरिक, रसांजन, मंजिष्ठा आदि।
(iv) पूगफल लेप
(v) करवीर जड़ लेप
11. अवचूर्णन
   मात्रा : यथावश्यक (स्थानिक प्रयोगार्थ)
(i) निम्बादि चूर्ण : निम्बत्वक, अर्जुनत्वक, गूलर आदि।
(ii) बबूल पत्र चूर्ण / दाड़िमत्वक चूर्ण / मानव अस्थि चूर्ण अवचूर्णन।
(iii) हीरा कासीस चूर्ण अवचूर्णन
12. प्रक्षालन योग
   मात्रा : यथावश्यक (बाह्य प्रयोगार्थ)
(i) जयन्ती, चमेली, करवीर, अर्क, अमलतास के पत्र का क्वाथ बनाकर मेढ्व्रण प्रक्षालनार्थ प्रयुक्त करें।
(ii) त्रिफला क्वाथ
(iii) भृङ्गराज स्वरस

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जनम्
2. शोधन चिकित्सा
3. व्रण प्रक्षालन व रोपण

4. प्रातः सायम्
   मल्ल सिन्दूर : 125 मि.ग्रा.
   गंधक रसायन : 250 मि.ग्रा.
   प्रवाल पिष्टी : 250 मि.ग्रा.
   मधु से 1×2 मात्रा
5. भोजनोत्तर
   महामंजिष्ठाद्यरिष्ट : 20 मि.ली.
   सारिवाद्यासव : 20 मि.ली.
   समभाग जल से 1×2 मात्रा
6. आरोग्यवर्धिनी वटी : 2 वटी × तीन मात्रा
   कैशोर गुग्गुलु : 2 वटी × तीन मात्रा
   सुखोष्ण जल से
7. विबंध रहने पर रात्रि में
   त्रिफला चूर्ण : 3 ग्रा.
   गर्म जल से 1 मात्रा

पथ्यापथ्य

उपदंश रोगी को युक्तिपूर्वक निम्न पथ्यापथ्य आहार-विहार का सेवन कराना लाभप्रद होता है[1]-

पथ्य

आहार	विहार
जौ (यव), शालि चावल,	वेग निर्गन
जाङ्गल मांस, मुद्ग यूष,	लघु व्यायाम
घृत, मधु, कूप जल, तिल तैल,	चंक्रमण
कारवेल्लक, शिग्रू, पटोल,	ब्रह्मचर्य पालन आदि।
तिक्त-कषाय रस आदि।	

अपथ्य

आहार	विहार
गुरु-अम्ल पदार्थ, लवण सेवन	दिवाशयन, मूत्र वेगधारण,
गुड़, तक्र, दधि, मत्स्य,	मैथुन, परिश्रम, अतिव्यायाम्
उड़द, मद्य, पिष्टान्न सेवन आदि।	आदि।

1. "छर्दिर्विरेको ..... । .....वर्जयेदुपदंश वान्॥"
(पथ्यापथ्य विनिश्चिय:/370-372)

Latest Developments
Chancroid

आयुर्वेदोक्त उपदंश रोग का आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित Venereal disease "Chancroid" नामक रोग से सामञ्जस्य करते हैं। यह रोग Ducrey's Bacillus नामक Gram Negative Strepto-bacillus से उत्पन्न होता है। यह रोग स्त्री व पुरुष दोनों में समान रूप से पाया जाता है। इस रोग में जननेन्द्रिय पर कई व्रण उत्पन्न हो जाते हैं जो कि मृदु होते हैं।

Management : Principles

I. **Locally**— Wash the ulcerated part with Antiseptic solution such as potassium permagnate etc.

II. **Systemic Drugs**— Antibiotics

III. **Treatment of Complications**

i. **Inflammatory Phimosis**—Narrowness of the preputial orifice so that the fore skin can not be pushed back over the glans penis.

Rx - Circumcision.

ii. **Bubo Formation**—Inflammed, swollen or enlarged inguinal gland in groin

Rx - Aspiration of pus

iii. **Phagedena**— A sloughing ulcer that spreads rapidly.

Rx - Broad spectrum Antibiotics

iv. **Prevention**— To use Condom for sexual intercourse.

अध्याय-40

फिरंग रोग
(SYPHILIS)

व्याधि परिचय

फिरंग (Syphilis) एक मैथुनजन्य संक्रामक रोग है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में सर्वप्रथम इसका वर्णन भावप्रकाश कार ने किया है। इस रोग का प्रसार पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में (लगभग 1492 ई. के आसपास) यूरोप से भारत में हुआ। फिरंगियों (विदेशियों) के कारण इस रोग का प्रसार होने से आचार्य भावमिश्र ने इसे 'फिरंग रोग' नाम दिया[1]। यह प्रजनेन्द्रिय का मैथुनजन्य रोग है। इस रोग से पीड़ित स्त्री से यह स्वस्थ पुरुष में एवं पीड़ित पुरुष के सम्पर्क से यह रोग स्वस्थ स्त्री में उत्पन्न हो सकता है[2]। रोगाक्रान्त स्त्री के गर्भ से उत्पन्न नवजात शिशु में जन्म से ही यह रोग उत्पन्न हो सकता है जिसे कुलज फिरंग रोग (Congenital Syphilis) या सहज फिरंग रोग कहा जाता है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. भावप्रकाश, मध्यखण्ड-अध्याय 59
2. भैषज्य रत्नावली-अध्याय 95

निरुक्ति

यह रोग फिरङ्ग नामक देश में अधिकता से उत्पन्न होता है, इसलिये इस रोग को व्याधि विशारदों ने फिरंग रोग कहा है। फिरंगियों के कारण उत्पन्न होने से भी इस रोग को फिरंग रोग कहा जाता है। विदेशियों को फिरंगी कहा जाता है।

परिभाषा

जननेन्द्रिय सम्बंधी वह संक्रामक रोग जिसका प्रसार फिरंगियों के द्वारा भारतवर्ष में हुआ, वह फिरंग रोग कहलाता है।

पर्याय

फिरंग रोग को निम्न पर्यायों से भी जाना जाता है—

1. "फिरङ्गसंज्ञके देशे बाहुल्येनैव यद्भवेत्। तस्मात्फिरङ्ग इत्युक्तो व्याधिर्व्याधिविशारदैः॥" (भा.प्र.मध्यखण्ड 59/1)
2. "गन्धरोगः फिरङ्गोऽयं जायते देहिनां ध्रुवम्। फिरङ्गिणोऽङ्गसंसर्गात्फिरङ्गिण्याः प्रसङ्गतः॥" (भा.प्र. मध्यखण्ड 59/2)

i. आतशक
ii. गरमी
iii. गन्धरोग
iv. कर्कश उपदंश
v. Syphilis
vi. Hard Chancre

निदान

I. फिरंग रोग फिरङ्ग देश के मनुष्यों के अङ्ग संसर्ग तथा फिरंङ्ग देश की युवतियों के साथ प्रसङ्ग करने से उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह रोग आगन्तुक रोग है, इसमें दोष प्रकोप संक्रमण के कुछ समय (7 दिन) पश्चात् होता है[1]।

II. वंश परम्परा से सहज या कुलज फिरंङ्ग रोग उत्पन्न होता है। इसका मुख्य कारण सन्तान उत्पादक बीज (Ovum or Sperm) का फिरंङ्ग के जनक कारणों से संक्रमित होना है।

III. आधुनिक मतानुसार इस रोग का मुख्य कारण (Treponema pallidium) नामक जीवाणु है। यह जीवाणु लम्बा, कुण्डलित व लालकण समान होता है। यह शिश्न की क्षतिग्रस्त त्वचा से शरीर में प्रविष्ट होता है[2]।

सम्प्राप्ति व संक्रमण

आधुनिक मतानुसार फिरंग रोग चिरकालानुबन्धी औपसर्गिक रोग है। इसका संक्रमण 'Treponema pallidium' नामक जीवाणु से होता है। यह संक्रमण निम्न चार प्रकार से हो सकता है—

1. **मैथुन द्वारा**—फिरंग रोग से पीड़ित पुरुष या स्त्री के साथ मैथुन करने से यह रोग स्वस्थ पुरुष में भी उत्पन्न होता है। मैथुन की रगड़ से जननेन्द्रिय की श्लेष्मल कला पर सूक्ष्म क्षत बनते हैं, उनमें से जीवाणु शरीर में प्रवेश करते हैं। संक्रमण का यह मुख्य मार्ग है। मैथुन द्वारा फिरंग रोग (Syphilis) का इतिहास 90-95% रोगियों में मिलता है। इसी कारण यह रोग मैथुनजन्य रोग (Veneral Disease) कहलाता है।

2. **संसर्ग या गात्र स्पर्श जन्य**—जननेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य अंगों का फिरंग दूषित स्थानों से सम्पर्क होने से इसका संक्रमण 5-10% रोगियों में होता है।

1. "गन्ध रोग: फिरङ्गोऽयं..... । ..... प्रसङ्गत: ॥
व्याधिरागन्तुजो ह्येष दोषाणामत्र सङ्क्रम:। भवेत्तं लक्षयेत्तेषां लक्षणैर्भिषजां वर: ॥"
(भा.प्र. मध्य खण्ड 59/2-3)

2. 'स्पाइरो कीटा पैलिडा' कीटा लोहिते विष्टाश्चक्षुषाऽदृष्टा:।
कारणं शस्यमामयस्यास्य कर्षिणी तुल्या रोगिणे शल्या:।
(मा.नि.परिशिष्टम् उपदंश निदानम् /8-9)

यह रोग संक्रमित व्यक्ति के चुम्बन, वस्त्रस्पर्श व यन्त्र-शस्त्रादि से फैलता है। इसका संक्रमण चिकित्सक, परिचारिका को अधिक हो सकता है। इस संक्रमण के मार्ग को बहि: जननेन्द्रिय मार्ग (Extragenital route of Infection) कहते हैं।

3. **रक्तगत मार्ग जन्य**—फिरंग रोग का प्रभाव सार्वदैहिक होने से इसके जीवाणु रक्तधातु में भी उपस्थित रहते हैं। जब फिरंग ग्रस्त आतुर का रक्त किसी अन्य स्वस्थ व्यक्ति में आधान (Blood Transfusion) किया जाता है तो उसमें भी फिरंग रोग उत्पन्न हो जाता है।

4. **सहज मार्ग गत**—फिरंग रोग ग्रस्त माता के रक्त में उपस्थित जीवाणु अपरा (Placenta) के माध्यम से भ्रूण में पहुंच सकते हैं। यदि पिता रोगग्रस्त है तो शुक्रधातुगत जीवाणु बच्चे में इस रोग को उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं। इस मार्ग गत संक्रमण को फिरंग रोग का सहज (Congenital) मार्ग गत संक्रमण कहते हैं।

संचय काल

फिरंग रोग के जीवाणुओं का संचय काल (**Incubation Period**) 2 से 6 सप्ताह होता है।

सम्प्राप्ति

फिरंग जीवाणु शरीर में प्रवेशोपरान्त 24 घण्टे के अन्दर ही लसिका वाहिनियों में गमन करते हैं। तत्पश्चात् लसीका ग्रन्थिओं के माध्यम से लसीका संवहन में व्याप्त होकर शिराओं व धमनियों में जाकर सम्पूर्ण देह में फैल जाते हैं। इसके बाद रक्तवाहिनियों से निकलकर समीप के लसीकामय प्रदेश में रोहण करके शोथ एवं व्रणोत्पत्ति कर देते हैं। यह क्षेत्र सम्पूर्ण शरीर ही होता है। इस संक्रमण से त्वचा, श्लेष्मल कला, हृदय, रक्तवह संस्थान, केन्द्रिय नाड़ी तन्त्र विशेष रूप से प्रभावित होते हैं। सम्प्राप्ति का यह सम्पूर्ण स्वरूप एक साथ घटित नहीं होता है अपितु निम्न चार अवस्थाओं के रूप में परिपूर्ण होता है—

प्रथमावस्था[1]

आचार्य भावमिश्र के अनुसार यह फिरंग के बाह्य भेद की अवस्था है। इस अवस्था में केवल स्थानीय लक्षण ही पाए जाते हैं। फिरंग संक्रमित व्यक्ति से मैथुन के पश्चात् तीसरे सप्ताह में शिश्न (जननेन्द्रिय) पर एक छोटा सा दाना प्रकट होता है। पुरुषों में यह दाना शिश्नमणि या उसकी त्वचा (Prepuce) के भीतरी भाग पर उत्पन्न होता है तथा स्त्रियों

1. "प्रायेण..... । ..... तास्वणुकोष संस्था॥"
(मा.नि.परिशिष्टम् उपदंश निदानम् /10-13)

में वृहद् भगोष्ठ (Labia Majora) के भीतरी अंग पर होता है। कभी-कभी यह संक्रमण ओष्ठ-स्तन-जिह्वा-अंगुलियों पर भी दाने के रूप में उत्पन्न हो सकता है। धीरे-धीरे यह दाना बढ़कर फूटकर व्रण का रूप धारण कर लेता है। यह व्रण आकृति में गोल व स्पर्श में कठिन (Hard chancre) होता है। इस व्रण से केवल लसीका का स्राव होता है जिसमें रोग के जीवाणु उपस्थित रहते हैं। व्रण प्रायः एक ही होता है। व्रण उत्पन्न होने के एक-दो सप्ताह पश्चात् वंक्षण प्रदेश (Inguinal region) की लसिका ग्रन्थियां (Lymph Glands) फूल जाती हैं। इस प्रकार संक्षेप में इस प्रथमावस्था में व्रण उत्पत्ति व लसीका-ग्रन्थि वृद्धि (Lymphadenopathy) मिलती है। यह अवस्था डेढ़ से 2 माह तक रहती है।

द्वितीयावस्था[1]

प्राथमिक व्रणोत्पत्ति के 3 से 4 सप्ताह के भीतर यह अवस्था प्रारम्भ हो जाती है एवं दो वर्ष तक रहती है। इसमें जीवाणु विष समस्त शरीर में प्रवाहित होकर विभिन्न अंगों में विकार उत्पन्न करता है। शरीर की त्वचा पर दाने निकलने लगते हैं। इन दानों में निम्न विशेषताएं होती हैं—

i. सभी दाने वर्ण, आकार व परिमाण में एक समान नहीं होते हैं।
ii. शरीर के दोनों ओर समान स्थानों पर दाने निकलते हैं।
iii. इन दानों में कण्डु व पीड़ा नहीं होती है।
iv. दानों के स्वयं ठीक होने पर कुछ समय तक ताम्रवर्ण या मांसवर्ण के लाल धब्बे उत्पन्न होते हैं।
v. बाह्य त्वचा की भांति ओष्ठ, जिह्वा, तालु, कपोल की श्लेष्मल कला पर भी छाले उत्पन्न होते हैं। ये छाले गोल, सर्पाकार, राख वर्ण के तथा स्वच्छ कटे हुए किनारे वाले उत्तान होते हैं।
vi. जिस स्थान पर त्वचा सदैव आर्द्र रहती है और त्वचा तथा श्लेष्मल कला परस्पर मिलती है (जैसे- गुदा तथा भगौष्ठ) वहाँ भी छाले बन जाते हैं जिसे 'Condyloma' कहते हैं।
vii. कक्षा (Axilla), कुहनी (Elbow), ग्रीवा तथा वंक्षण प्रदेश (Inguinal region) की लसीका ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं।

इन लक्षणों के अतिरिक्त कुछ सार्वदैहिक लक्षण भी फिरंग रोग में मिलते हैं जो निम्न प्रकार हैं—

1. "सप्ताहषट्केन..... । ..... विविच्य॥"
(मा.नि.परिशिष्टम् उपदंश निदानम् /14-16)

(i) ज्वर (Fever)
(ii) पाण्डुता (Anaemia)
(iii) दुर्बलता (Weakness)
(iv) शिरःशूल (Headache)
(v) रात्रि में अस्थि व सन्धि शूल (Arthralgia)
(vi) कनीनिका शोथ (Iritis)
(vii) केशपात/खालित्य (Hair falling)

इस अवस्था में चिकित्सा नहीं करने पर दुर्बल रोगियों में लक्षण भयंकर रूप धारण कर लेते हैं।

तृतीयावस्था[1]

यह अवस्था व्रण अवस्था (Condyloma Stage) के 6 माह से 2 साल के बाद प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में त्वचा, लसीका ग्रन्थि, अस्थ्यावरण, अस्थि, मांसपेशी, यकृत, प्लीहा तथा वृषण ग्रन्थि आदि शरीर के विभिन्न भागों में ग्रन्थियाँ बनने लगती हैं जो गमा (Gumma) कहलाती हैं। इस ग्रन्थि की निम्न विशेषताएं होती हैं—

i. ये ग्रन्थियाँ गाँठदार तथा चपटी होती हैं।
ii. धीरे-धीरे ये सड़कर फोड़े की तरह फूट जाती हैं तथा उनसे गोंद जैसा स्राव निकलता है।
iii. त्वचा में गहरे व्रण बन जाते हैं।
iv. नासिका में होने से नासाभंग (Saddle Nose) हो जाता है।
v. तालु में होने से विदार (Perforated Palate) हो जाता है। खाना-पीना कठिन हो जाता है।
vi. मस्तिष्क व सुषुम्ना प्रदेश में होने से पक्षाघात व पंगुता हो जाती है।
vii. कर्ण व नेत्र में होने से श्रवण शक्ति व दर्शन शक्ति का नाश हो जाता है।
viii. जिह्वा पर होने से जिह्वा फट (Fissuring of Tongue) जाती है।
ix. रक्तवाहिनियों में होने से उसकी दीवार स्थूल हो जाती है एवं रक्तभार (Blood Pressure) बढ़ जाता है।

चतुर्थावस्था

तृतीय अवस्था के पश्चात् जब केन्द्रिय तन्त्रिका संस्थान सम्बन्धी विकृतियाँ होती हैं तो उसे चतुर्थावस्था मानते हैं। कुछ आचार्य इस अवस्था को तृतीय अवस्था ही

1. "श्यान ग्रन्थी मूर्ध्व..... । ..... तृतीया॥"
(मा.नि. परिशिष्टम् उपदंश निदानम् /17-23)

मानकर फिरंग रोग की तीन अवस्थाएं मानते हैं। इस अवस्था में प्रथमावस्था के तीन मास के अन्दर ही या 25-30 वर्ष बाद भी जीवाणु विष का आक्रमण हो सकता है। इस अवस्था में निम्न मस्तिष्कगत विकार मिलते हैं—

(i) नाड़ी संस्थानीय फिरंग (Neuro syphilis)

(ii) फिरंगीय खंजता (Tabes Dorsalis or Locomotor ataxia)

(iii) फिरंगज सर्वाङ्गघात युक्त उन्माद (General Paralysis of Insane-G.P.I.)

उपर्युक्त लक्षण उपेक्षित रोगी के हैं। यदि रोग की प्रारम्भावस्था में निर्दिष्ट औषधियों से चिकित्सा की जाय तो आगे की अवस्थाएं रुक जाती हैं।

सम्प्राप्ति चक्र

फिरंगियों से गात्र संसर्ग
↓
जीवाणु संक्रमण
↓
व्रणोत्पत्ति (Hard Chancre)
↓
ग्रन्थि निर्माण (Gumma)
↓
फिरंग रोग

सम्प्राप्ति घटक

दोष—पित्त प्रधान त्रिदोष

दूष्य—रक्त, लसीका

स्रोतस्—प्रजनन संस्थान (शुक्रवह स्रोतस्)

स्रोतोदुष्टि लक्षण—सिराग्रन्थि

अधिष्ठान—जननेन्द्रिय व समस्त शरीर

सहज फिरंग[1]

फिरंग पीड़ित माता-पिता से उत्पन्न नवजात शिशु में उत्पन्न हुए फिरंग रोग को सहजफिरंग (Congenital Syphilis) कहा जाता है। यह संक्रमण प्राय: गर्भावस्था के उत्तरार्ध (Second Half of Pregnancy) में होता है। जब माता-पिता के रज तथा वीर्य फिरंग जीवाणुओं से दूषित होते हैं तो उस समय दोनों के मैथुन करने से उत्पन्न गर्भ की च्युति (स्राव) या पात (Miscarriage) होने की संभावना रहती है। कभी-कभी

1. "जीवाणुयोग..... । .....भवेधु: ॥"
(मा.नि.परिशिष्टम् सहजोपदंश निदानम् /1-15)

माता-पिता में रोग नवीन होने से गर्भच्युति नहीं हो पाती है तथा जन्म लेने वाले नवजात शिशु में सहज उपदंश (Congenital Syphilis) की उत्पत्ति होती है। यदि गर्भिणी स्त्री को गर्भधारण के पश्चात फिरंग रोग हो जाय तो उसके बच्चे को भी फिरंग रोग उत्पन्न होने पर उसे संसर्गज फिरंग (Contagious Syphilis) कहते हैं।

भेद

आचार्य भावमिश्र ने फिरंग रोग के निम्न तीन भेद वर्णित किये हैं[1]—

1. **बाह्य फिरंग**—इसमें विस्फोट के समान फोड़े निकलते हैं, जिसमें पीड़ा कम होती है व फूटने पर व्रण के समान होता है। यह सुखसाध्य होता है।
2. **आभ्यन्तर फिरंग**—यह फिरंग सन्धिगत होता है। इसमें आमवात रोग के समान पीड़ा व शोथ होता है। यह कष्ट साध्य होता है।
3. **बहिरन्तर्गत फिरंग**—यह फिरंग वाह्य व आभ्यन्तर दोनों स्थानों पर होता है।

आधुनिक आचार्यों ने इसके निम्न भेद भी बतलाए हैं—

I. (अ) सहज या कुलज फिरंग (Congenital Syphilis)
   (ब) जातोत्तर या संसर्गज फिरंग (Acquired or Contagious Syphilis)
II. (अ) प्रारम्भिक फिरंग (Primary Syphilis)
   (ब) द्वितीयक फिरंग (Secondary Syphilis)

सामान्य लक्षण

फिरंग रोग में सामान्यतया निम्न लक्षण समूह पाया जाता है—

(i) जननेन्द्रिय पर कठिन व्रण उत्पत्ति (Hard Chancre)
(ii) समस्त शरीर में श्याम ग्रन्थियाँ (Gumma) बनना
(iii) मन्द स्वरूप का ज्वर (Low Grade Fever)
(iv) कण्ठपाक (Pharyngitis)
(v) रक्ताल्पता (Anaemia)
(vi) इन्द्रलुप्त (Fall of Hair)
(vii) रात्रि में शिर:शूल (Nocturnal Headache)
(viii) अस्थि सन्धि शूल (Arthralgia)
(ix) कनीनिका शोथ (Iritis)
(x) दृष्टिमान्द्य (Diminution of Vision)

1. "फिरङ्गस्त्रिविधो ज्ञेयो बाह्याभ्यन्तरस्तथा। बहिरन्तर्भवश्चापि तेषां लिङ्गानि च ब्रुवे ॥
तत्र बाह्य: फिरङ्ग स्याद्विस्फोटसदृशोऽल्परुक्। स्फुटितो व्रणवद्ज्ञे: सुखसाध्योऽपि स स्मृत: ॥
सन्धिष्वाभ्यन्तर: स स्यादामवात इव व्यथाम्। शोथश्च जनयेदेष कष्टसाध्यो बुधै: स्मृत: ॥"
(भा.प्र. मध्यखण्ड 59/4-6)

(xi) मुख, नासा, ओष्ठ व गुह्य स्थान पर व्रण उत्पत्ति
(xii) स्त्रियों में बार-बार गर्भपात होना
(xiii) अरति (Malaise)
(xiv) लसिका ग्रन्थि शोथ (Lymph Node Enlargement)

सापेक्ष निदान

फिरंग (Hard Chancre) रोग का सापेक्ष निदान उपदंशज व्रण (Soft Chancre) से किया जाता है। इन दोनों के विभेदक लक्षण तालिका रूप में पूर्व में वर्णित 'उपदंश' रोग के वर्णन में बतलाए जा चुके हैं।

कभी-कभी फिरंग के साथ उपदंश का या उपदंश के साथ-साथ फिरंग का संक्रमण भी मिल सकता है। इसलिये व्रण में दोनों के मिश्रित लक्षण मिलते हैं।

प्रयोगशालीय परीक्षण

(i) **प्राथमिक व्रण** के 2-3 सप्ताह के पश्चात् वाशरमैन प्रतिक्रिया (**Wasserman Reaction**) के द्वारा रोग निदान किया जाता है। इसका आजकल प्रयोग सीमित हो गया है।
(ii) **सूक्ष्मदर्शीय परीक्षा** (**Microscopic Study**)-इसमें व्रणस्राव में उपस्थित Spirochetes का Dark Field Demonstration किया जाता है।
(iii) **ऊतक परीक्षा** (**Biopsy**) में Cerebrospinal Fluid का परीक्षण किया जाता है।
(iv) **Serological test for Syphilis (S.T.S.)**-इसमें रक्त एवं सुषुम्ना द्रव (Spinal Fluid) का परीक्षण करते हैं।
(v) Veneral Disease Research Laboratory (**V.D.R.L.**) Test.
(vi) Microhaeagglutination assay for antibody to T. pallidium immobilization (**MAA-TP**) Test.
(vii) Fluorescent treponemal antibody absored test (**FTA-Abs**)
(viii) Rapid Plasma Reagin test (**RPR**)

साध्यासाध्यता[1]

(i) बाह्य प्रकार का नवीन तथा उपद्रव रहित फिरंग साध्य है।
(ii) आभ्यन्तर प्रकार का फिरंग कष्ट साध्य होता है।
(iii) बाह्य व आभ्यन्तर दोनों प्रकार (उभय मिश्रित), पुराना, दुर्बलक्षीण रोगी होने पर उपद्रवों से युक्त सर्व शरीर गत फिरंग रोग असाध्य होता है।

1. "बहिर्भवो भवेत्साध्यो नवीनो निरुपद्रवः। आभ्यन्तरस्तु कष्टेन साध्यः स्याद् यमामयः॥
बहिरन्तर्भवो जीर्णः क्षीणस्योपद्रवैर्युतः। व्याप्तो व्याधिरसाध्योऽयमित्याहुर्मुनयः पुरा॥"
(भा.प्र.मध्य खण्ड 59/8-9)

उपद्रव—आचार्य भाव मिश्र ने फिरंग रोग के निम्न उपद्रव वर्णित किए हैं[1]—

(i) कृशता (Lean and thin body)
(ii) बलक्षय (Loss of Immunity / Strength)
(iii) नासाभङ्ग (Saddle Nose)
(iv) अग्निमांद्य (Dyspepsia)
(v) अस्थिशोष (Depleted Bone Marrow)
(vi) अस्थि वक्रता (Rickets)

अन्य उपद्रवों में पक्षाघात, उन्माद, मूर्च्छा, फुफ्फुस-यकृत-प्लीहा संकोच भी पाए जाते हैं।

सहज फिरंग रोग में मूकता (Deafness) व दन्तवक्रता (Hutchinsons teeth) भी पाया जाता है।

चिकित्सा सूत्र

(i) बलवान रोगी में संशोधन कराना लाभप्रद रहता है।
(ii) रक्तमोक्षण एवं जलौकावचारण से भी लाभ होता है।
(iii) रक्तशोधक द्रव्यौषधों का प्रयोग कराना चाहिये।
(iv) व्रण का स्थानिक उपचार यथा-प्रक्षालन, लेपन, रोधन, रोपण एवं धूपन करावें।

चिकित्सा

I शोधन चिकित्सा

फिरंग रोग (Syphilis) की चिकित्सा हेतु रोगी का संशोधन (रोगी की प्रकृति के अनुसार) करवाया जाना उचित रहता है। यथा—

- रक्तमोक्षण व जलौकावचारण
- व्रण शोधन— स्फटिका चूर्ण या
  त्रिफला क्वाथ या
  भृङ्गराज स्वरस या
  निम्ब पत्र क्वाथ से

व्रण प्रक्षालन कर व्रण पर शोधन-रोपण लेप लगावें।

यथा— त्रिफला मसी
व्रणघ्न मलहर (यो.र.)
पारदादि लेप वटी (यो.र.)

1. "कार्श्यं बलक्षयो नासाभङ्गो वह्नेश्च मन्दता। अस्थिशोषोऽस्थिवक्रत्वं फिरङ्गोपद्रवा अमी॥"
(भा.प्र. मध्य खण्ड 59/7)

II शमन चिकित्सा

फिरंग रोग के शमनार्थ निम्न औषधियों का युक्तिपूर्वक प्रयोग लाभदायक रहता है—

1. **रस/भस्म**

मात्रा	: 125–250 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, जल
(i) रसमाणिक्य	: शुद्ध हरताल आदि।
(ii) रसकर्पूर (विशेष विधि से)	: पारद, स्फटिका, सैंधव, कासीस आदि।
(iii) व्याधि हरण रस	: कज्जली, मल्ल, हरताल आदि।
(iv) मल्ल सिन्दूर	: पारद, गंधक, मल्ल आदि।

2. **वटी**

मात्रा	: 250–500 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, ताम्बूल स्वरस
(i) आरोग्यवर्धिनी वटी	: कज्जली, ताम्र, लौह, कुटकी आदि।
(ii) सप्तशालि वटी	: पारद, खदिर, अकरकरा।
(iii) मल्लादि वटी	: सोमल, खदिर आदि।

3. **चूर्ण**

मात्रा	: 2–6 ग्राम
अनुपान	: जल, मधु
(i) चोपचीनी चूर्ण (यो.र.)	: चोपचीनी, अकरकरा, विडंग आदि।
(ii) निम्बादि चूर्ण (भा.प्र.)	: निम्ब, हरड़, आमलकी आदि।
(iii) पंचनिम्ब चूर्ण	: निम्ब पञ्चाङ्ग, लौह, हरड़ आदि।

4. **क्वाथ**

मात्रा	: 20–40 मि.लि.
अनुपान	: त्रिफला चूर्ण
(i) पटोलादि क्वाथ	: पटोल, निम्ब, गुडुची आदि।
(ii) लघु मंजिष्ठादि क्वाथ (शा.स.)	: मंजिष्ठा, कुटकी आदि।
(iii) वृहद् मंजिष्ठादि क्वाथ	: मंजिष्ठा, कुटज, निम्ब आदि।

5. **आसव/अरिष्ट**

मात्रा	: 20–40 मि.ली.
अनुपान	: समभाग जल (भोजनोत्तर)
(i) खदिरारिष्ट	: खदिर, देवदारु, बाकुची आदि।
(ii) सारिवाद्यासव	: सारिवा, नागरमोथा, लोध्र आदि।
(iii) देवदार्वाद्यरिष्ट	: देवदारु, वासा, मंजिष्ठा आदि।

6. **धूपन द्रव्य**

पारद, गन्धक व चावल की गोलियाँ बनाकर इसका धूपन करने से लाभ होता है। (भा.प्र.)

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जनम
2. संशोधन व रक्तमोक्षण (यथावश्यक)
3. शोधन व रोपण (स्थानिक व्रण हेतु)
4. प्रातः सायम्

रस कर्पूर	: 250 मि.ग्रा.
रसमाणिक्य	: 120 मि.ग्रा.
अमृता सत्व	: 500 मि.ग्रा.
प्रवाल पिष्टी	: 250 मि.ग्रा.
मधु या ताम्बूल स्वरस से	1×2 मात्रा

5. भोजनोत्तर

सारिवाद्यासव	: 20 मि.ली.
खदिरारिष्ट	: 20 मि.ली.
समभाग जल से	1×2 मात्रा

6. आरोग्यवर्धिनी वटी : 2 वटी × तीन मात्रा
   जल से
7. रात्रि में विबन्ध रहने पर

त्रिफला चूर्ण	: 3 ग्राम
जल से	एक मात्रा

पथ्यापथ्य

फिरंग (Syphilis) रोगी को निम्न पथ्यापथ्य का सेवन करना लाभप्रद रहता है[1]–

पथ्य

आहार	विहार
पटोल, कारवेल्लक, दाड़िम, शिग्रु, हरिद्रा, आमलकी, मधु, शालि चावल, गेहुँ, दुग्ध, मूंग आदि।	ब्रह्मचर्य पालन व्रण बन्धन / प्रक्षालन आदि।

1. "पथ्यापथ्य कुष्ठ व उपदंश रोग अनुसार प्रयुक्त करें।"

अपथ्य

आहार	विहार
अम्ल-लवण रस, विदाही अन्न, अभिष्यन्दी भोजन, विबन्ध कारक अन्न, तक्र-गुड़ आदि।	मैथुन, आतप सेवन, परिश्रम, वेगधारण, भ्रम-क्रोध, दिवाशयन आदि।

Latest Developments

Syphilis

फिरंग रोग का वर्णन आयुर्वेदीय साहित्य में आधुनिक काल के ग्रंथों में 16वीं सदी पश्चात् ही प्राप्त होता है। आधुनिक मतानुसार—

Syphilis is an infectious, chronic, veneral disease marked by lesions that may involve any organ or tissue. Cutaneous manifestations usually occur, relapses are frequent, and the disease may exist without symptoms for years.

Classification of Syphilis— Two types

a. Acquired syphilis
b. Congenital syphilis
a. **Acquired Syphilis**— Two types
   i. **Early syphilis**— Primary syphilis, secondary syphilis, early latent syphilis
   ii. **Late Syphilis**— Late latent syphilis, Benign tertiary syphilis, cardiovascular syphilis, Neuro syphilis

Management : Principles

i. Preventive methods
ii. Supportive counceling
iii. Avoid sexual contacts
iv. Drug of choice— Antibiotics (Penicillin, Oxytetracyclines, Doxycyclines are also useful).

अध्याय-41

पूयमेह
(GONORRHOEA)

व्याधि परिचय

पूयमेह का वर्णन वृहत्त्रयी व लघुत्रयी के ग्रन्थों में नहीं मिलता है। भैषज्य रत्नावली में इसे 'औपसर्गिक मेह' के नाम से वर्णित किया गया है। लोक भाषा में इस रोग को 'सूजाक' रोग के नाम से जाना जाता है। यह रोग मैथुन जन्य व मूत्र मार्ग का तीव्र औपसर्गिक रोग है जिसमें मूत्रभाग में शोथ होकर पूय का निष्कासन होता है। तत्पश्चात् मूत्र प्रजनन संस्थान (Urogenital System) के तथा शरीर के अन्य संस्थानों के विभिन्न अंगों में शोथ उत्पन्न होता है। स्त्रियों में भी योनि तथा मूत्रमार्ग में शोथ उत्पन्न होकर लसीका स्राव उत्पन्न होता है। इस रोग का मुख्य कारण 'Gonococcus' नामक जीवाणु माना गया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में पूयमेह रोग के लिये 'Gonorrhoea' नामक शब्द का प्रयोग किया जाता है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

(i) भैषज्य रत्नावली-अध्याय 89

निरूक्ति/व्युत्पत्ति

i. "उपसर्गात् जातः औपसर्गिकः"- अर्थात् पूयमेह रोग से पीड़ित स्त्री के साथ मैथुन करने से पुरुष को तथा पूयमेह ग्रस्त पुरुष के साथ मैथुन करने से स्त्री को इस रोग का उपसर्ग (संक्रमण) हो जाता है। अतः इसे 'औपसर्गिक मेह' कहा जाता है।
ii. "पूयं मेहयतीत्यतः पूयमेहः" अर्थात् मूत्रमार्ग द्वारा 'पूयस्राव' होने से इसे "पूयमेह" कहते हैं।
iii. "व्रणवत् तस्य लक्षणोपचारौ भवत इति व्रणमेहः" अर्थात् इसका लक्षण व उपचार व्रणवत् किया जाता है। इसलिये इसे "व्रणमेह" भी कहते हैं।
iv. "बाह्यैः कारणविशेषैः प्राप्नोतीत्यागन्तुकः" अर्थात् यह संक्रमित जीवाणु

आदि बाहरी कारणों से उत्पन्न होता है इसलिये इसे "आगन्तुक मेह" भी कहा जाता है।

परिभाषा

जिस यौन संक्रमित रोग में मूत्रमार्ग व प्रजनन मार्ग से स्त्री व पुरुषों दोनों में पूयस्राव होता है उसे 'पूयमेह' रोग कहा जाता है।

Gonorrhoea is an infectious disease caused by the Gonococcus neisseria gonorrhoeas. In the male the disease is most often an anterior Urethritis, where as in a female it is a Cervicitis. In Both sexes it may give rise to complications.

पर्याय

पूयमेह रोग निम्न अन्य पर्यायों से भी जाना जाता है[1]—

i.	औपसर्गिक मेह	ii.	व्रणमेह
iii.	आगन्तुक मेह	iv.	सूजाक
v.	भृशोष्णवात	vi.	उष्णवात
vii.	गोनोरिया (Gonorrhoea)		

निदान

पूयमेह (Gonorrhoea) रोग का मुख्य कारण 'Gonococcus neisseria gonorrhoeas' नामक जीवाणु होता है।

It is a gram-negative intracellular diplococcus that tends to occur in pairs. This bacteria may be found in or on the genitals and in blood, joints, heart, eyes, urine, faeces and boils.

यह जीवाणु निम्न कारणों से आतुर के शरीर में प्रविष्ट होता है[2]—

i. स्त्री की योनि का अनेक रोगों से क्लिन्न व कण्डु युक्त होना।
ii. रजस्वला स्त्री का अनेक पुरुषों से संभोग करना।
iii. पूयमेह ग्रस्त पुरुष द्वारा स्त्री के साथ मैथुन करने से स्त्री भी पूयमेह रोग से ग्रस्त हो जाती है।
iv. संभोग क्रिया में कॉन्डिशन आवरक (Condom) प्रयोग नहीं करना।

---

1. "औपसर्गिकमेहाख्यो गदो यः स भिषग्वरैः। पूयमेहो व्रणमेह आगन्तुमेह उच्यते॥" (भै.र. 89/1)
2. "रजस्वलायां बहुभुक्तवत्यां तथाऽऽर्द्रयोनौमदनादरो यः।
प्रयातु मोहाद् यदि कोऽपि तर्हि ध्रुवं गदं दारुणमेतमेतु॥" (भै.र. 89/2)

अतः आयुर्वेद मतानुसार जीवाणुजन्य कारण 'आगन्तुक कारण' होता है। इसके संक्रमण के सात दिन पश्चात दोष प्रकोप होकर रोग 'निज स्वरूप' का हो जाता है।

सम्प्राप्ति व संक्रमण

आयुर्वेदीय ग्रन्थों में इस रोग की सम्प्राप्ति का स्पष्टतः वर्णन प्राप्त नहीं होता है। आधुनिक मतानुसार इस रोग की संक्रमणजन्य सम्प्राप्ति निम्नानुसार है—

i. **संक्रमण**—पूयमेह ग्रस्त रोगी के साथ संभोग करने से, पूयमेही बालक के साथ गुदमैथुन (अप्राकृतिक मैथुन) व पूयमेही के साथ उठने-बैठने-शयन करने से इस रोग का संक्रमण होता है।

ii. **संचय काल**—पूयमेही के साथ सम्पर्क के पश्चात् जब पूयमेह नामक रोग की प्रथम लक्षणोत्पत्ति होती है तो इस काल मर्यादा को पूयमेह का संचय काल (Incubation Period) कहा जाता है जो सात दिन का होता है।

iii. **सम्प्राप्ति**

पूर्व वर्णित निदान सेवन
↓
जीवाणु का मूत्रमार्ग में प्रवेश
↓
मूत्र मार्ग गत श्लेष्मल कला (Epithelium) शोथ
↓
मूत्रमार्ग गत Submucous कला शोथ
↓
व्रणोत्पत्ति
↓
तत्पश्चात् वृषण, अधिवृषण, बस्ति, शुक्राशय,
अष्ठीला, गवीनी, योनि, गर्भाशय, बीजवाहिनी व
उदरावरण कला में भी शोथोत्पत्ति
↓
पाकोपरान्त व्रणोत्पत्ति
↓
मूत्रमार्गगत पूयस्राव
↓
पूयमेह रोग

सम्प्राप्ति घटक

दोष—पित्त प्रधान त्रिदोष

दूष्य—रक्त

स्रोतस—मूत्रवह स्रोतस्

अधिष्ठान—लिङ्ग, वृषण, वस्ति आदि

लक्षण

पूयमेह रोग में निम्न लक्षण व चिन्ह पाए जाते हैं[1]—

(i) मूत्रमार्गगत लालिमा व शोथ (Redness and Inflammation of Urethra)
(ii) मूत्र त्याग में वेदना (मूत्रकृच्छ्र) व दाह (Burning Micturition)
(iii) लिङ्ग के अग्र भाग में कण्डु (Itching)
(iv) बार-बार लिङ्गोत्थान (Frequent errection of Penis)
(v) लिङ्ग के आकार में वृद्धि (Increased size of penis)
(vi) मुष्क (अण्ड) प्रदेश में वेदना (Pain in scrotum)
(vii) मूत्रमार्ग गत पूयस्राव (Pyuria)
(viii) पुन:पुन: मूत्रवेग आना (↑Frequency of Micturition)
(ix) मूत्रमार्ग गत रक्तस्राव (Haematuria)
(x) कभी-कभी पूयशुष्कता से मूत्रमार्गावरोध (Retention of Urine)
(xi) कदाचित शिश्नोत्थान होकर वीर्यस्खलन (Seminal Discharge)
(xii) स्त्रियों में योनिगत स्राव (Vaginal discharge)
(xiii) अधोजठर शूल (Pain in Lower abdomen)
(xiv) नवजात शिशु में औपसर्गिक नेत्राभिष्यन्द (Ophthalmia neonatorum)
(xv) श्रोणिगत शोथ (Acute Pelvic Inflammatory Diseases-PID)

प्रयोग शालीय परीक्षण

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में पूयमेह रोग के निदान (Diagnosis) हेतु निम्न प्रयोग शालीय परीक्षण व्यवहार में प्रयुक्त होते हैं—

1. Smear stained by Grams stain of the urethral discharge is almost 100% accurate in diagnosing in Gonorrhoea in men. In women, the material should be obtained from multiple sites including the cervix, vaginal vault and urethra.

1. "प्राय: स्त्री सङ्कदिष्टं..... । ..... लक्ष्म चेति ॥" (भै.र. 89/4-8)

2. Culture of the organism-Enriched media is used like 'Chocolate agar'.
3. Gonococcal complement fixation test usually used for complicated cases.
4. Fluorescent antibody test.
5. Evaluate the patient for the presence of other co-existing sexually transmitted disease including Syphilis and Chlamydia.

उपद्रव

मूत्रमार्ग में प्रविष्ट हुए, जीवाणु शरीर में पूयमेह उत्पन्न कर कुछ समय में ही रोग को कृच्छ्रसाध्य बना देते हैं। रोग के पुराने होने पर निम्न उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं[1]—

i. आमवात
ii. औपसर्गिक नेत्राभिष्यन्द

आधुनिक मतानुसार पूयमेह रोग में निम्न उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं—

(I) पुरुषों में

(i) मूत्रमार्ग सन्निरोध (Urethral Stricture)
(ii) अष्ठीला शोथ (Prostatitis)
(iii) वृषण शोथ (Orchitis)
(iv) बस्ति शोथ (Cystitis)
(v) गवीनी शोथ (Epididymitis)
(vi) शुक्राशय शोथ (Vesiculitis)
(vii) अन्त: हृदय शोथ (Endocarditis)
(viii) आमवात (Arthritis)

(II) स्त्रियों में

(i) मूत्रमार्ग शोथ (Urethritis)
(ii) गर्भाशयग्रीवा शोथ (Cervicitis)
(iii) योनि शोथ (Vaginitis)
(iv) गर्भाशय शोथ (Endometritis)
(v) बीज वाहिनी व बीज ग्रन्थि शोथ (Salpingo-oopheritis)
(vi) उदरावरण कला शोथ (Peritonitis)
(vii) बन्ध्यता (Sterility)

1. "व्रणमेहे विनिर्दिष्टा आमनेत्रयादिका: । उपद्रवा विरोधेन नाशनीया भिषग्वरै: ॥" (भै.र. 89/10)

Metastatic Complications (In Both Males & Females)

(i) Arthritis (ii) Iritis
(iii) Conjunctivitis (iv) Meningitis
(v) Endocarditis

चिकित्सा सूत्र

आचार्य गोविन्द दास ने भैषज्य-रत्नावली नामक ग्रन्थ में 'पूयमेह' रोग के निम्न चिकित्सा सिद्धान्त वर्णित किए हैं[1]—

i. निदान परिवर्जनम्
ii. मैथुन का त्याग
iii. वेश्या गमन निषेध
iv. शोथनाशक-व्रणनाशक-वातानुलोमक-मूत्रल-रक्तशोधक औषध व अन्नपान सेवन
v. उग्र उपाय निषेध
vi. शिश्न प्रक्षालन (Urethral Wash)
vii. उत्तर बस्ति प्रयोग (Administration of drugs by Urethral routes)
viii. सुखशय्या प्रयोग (Bed Rest)
ix. कामोत्तेजक विषय दर्शन, श्रवण, पाठन, चिन्तन का पूर्ण परित्याग (Avoidance of Sexual Stimulants)
x. एकान्तवास (Isolation Ward)

चिकित्सा

पूयमेह के रोगी में निम्न शोधन चिकित्सा लाभकारी रहती है—

I. **शोधन चिकित्सा**

(i) **वातानुलोमन**

i) एरण्ड तैल 20-30 मि.ली. दुग्ध से
अथवा
ii) पंचसकार चूर्ण 3-5 ग्राम उष्णोदक से

(ii) **मूत्रल योग**

i) तृण पंचमूल क्वाथ ii) श्वेत पर्पटी
iii) यवक्षार iv) गोक्षुरादि गुग्गुलु प्रयोग

1. "प्रथमं मैथुनं त्याज्यमौपसर्गिकमेहिभिः। यतस्ततु प्रधानं हि निमित्तं रोगसम्भवे॥
अतः सुखार्थिभिर्जातु न कार्या पांशुला रतिः। श्वयथुघ्नं व्रणघ्नं वा तथा वातानुलोमनम्।
मूत्रलं चान्नपानं यद् भेषजं सेव्यमेव तत्। न कदाचित् क्रियायुग्मां विदध्यादत कांचन॥"
(भै.र. 89/11-13)

(iii) **उत्तर बस्ति प्रयोग**[1]

i) त्रिफला, बबूल, पिप्पली, क्वाथ 5-10 मि.ली.
ii) त्रिफला, दधि, तुत्थ, हिंगुल, मृद्वारश्रृङ्गं क्वाथ 5-10 मि.ली.

(iv) **शिश्न/योनि प्रक्षालन**

i) निम्बपत्र क्वाथ
ii) फिटकरी जल
iii) पंचवल्कल क्वाथ से

II. **शमन चिकित्सा**

पूयमेह के रोगी में रोग शमनार्थ निम्न शमन योगों का प्रयोग युक्तिपूर्वक किया जाना लाभकारी रहता है—

1. **रस/भस्म/पर्पटी**

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: बबूल क्वाथ, मुध
(i) प्रवाल पिष्टी	: शुद्ध प्रवाल
(ii) त्रिवंङ्ग भस्म	: नाग, वङ्ग, यशद आदि
(iii) स्वर्णवङ्ग भस्म	: कज्जली, कलमी शोरा, सेंधव आदि
(iv) पूर्णचन्द्र रस	: कज्जली, स्वर्ण, अभ्रक आदि
(v) श्वेत पर्पटी	: स्फटिका, नरसार, सूर्यक्षार आदि
(vi) कन्दर्प रस	: कज्जली, स्वर्ण, प्रवाल आदि
(vii) रस कर्पूर	: पारद, स्फटिका, सैंधव आदि
(viii) रस माणिक्य	: शुद्ध हरताल
(ix) गंधक रसायन	: शुद्ध गन्धक, चतुर्जात, गुडुची आदि

2. **वटी/गुग्गुलु**

मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: त्रिफला क्वाथ, उष्ण जल
(i) चन्द्रप्रभा वटी	: विडंग, व्योष, त्रिफला, शिलाजतु आदि
(ii) आरोग्यवर्धिनी वटी	: कज्जली, लौह, अभ्रक, कुटकी आदि
(iii) गोक्षुरादि गुग्गुलु	: त्रिफला, त्रिकटु, मुस्तक आदि
(iv) शिलाजत्वादि वटी	: शिलाजीत, पाषाणभेद, त्रिफला आदि
(v) महाभ्रवटिका	: अभ्रक, गंधक, पारद आदि
(vi) पूयमेहहरगुटिका	: हिंगुल, कुन्दुरु, गुग्गुलु आदि

1. "कणावरा.....।.....संशयः॥"
(भै.र. 89/19-21)

3. **चूर्ण**
   - मात्रा : 2-6 ग्राम
   - अनुपान : उष्ण जल, लस्सी
   - (i) स्फटिकादि चूर्ण : फिटकरी, कलमी शोरा, नागकेशर आदि
   - (ii) पूयमेहारि चूर्ण (उष्णवातघ्न चूर्ण) : फिटकरी, जीरा, राल आदि
   - (iii) पुनर्नवा चूर्ण : पुनर्नवा, हरीतकी, पाठा आदि

4. **क्वाथ**
   - मात्रा : 20-30 मि.ली.
   - अनुपान : जल, शर्करा, क्षीर
   - (i) तृणपंचमूल क्वाथ : कुश, काश, नल आदि
   - (ii) मंजिष्ठादि क्वाथ : मंजिष्ठा, शाल्मली, मूर्वा आदि
   - (iii) सारिवायुगलादि क्वाथ (भै.र.) : सारिवा, कृष्ण सारिवा, कुटकी, गोक्षुर आदि
   - (iv) नरसारक्षार आदि (भै.र.) : अनन्तमूल, नवसादर, यवक्षार आदि
   - (v) बब्बूल निर्यास (भै.र.) : बबूलत्वक्, यवक्षार आदि

5. **आसव/अरिष्ट**
   - मात्रा : 20-40 मि.ली.
   - अनुपान : समभाग जल
   - (i) चन्दनासव : चन्दन, मंजिष्ठा, रास्ना आदि
   - (ii) विडंगारिष्ट : विडंग, पिप्पलीमूल, रास्ना आदि

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जनम्
2. प्रातः सायम्
   - स्वर्णवङ्ग भस्म : 65 मि.ग्रा.
   - श्वेत पर्पटी : 250 मि.ग्रा.
   - गंधक रसायन : 500 मि.ग्रा.
   - प्रवाल पिष्टी : 250 मि.ग्रा.
   - मधु से 1×2 मात्रा
3. चन्द्रप्रभा वटी : 2 वटी × तीन मात्रा
   आरोग्यवर्धिनी वटी : 2 वटी × तीन मात्रा
   उष्ण जल से
4. स्फटिकादि चूर्ण : 3 ग्राम
   लस्सी से 1×2 मात्रा

5. भोजनोत्तर
   चन्दनासव : 20 मि.ली.
   समभाग जल से 1×2 मात्रा
6. पथ्यापथ्य आहार-विहार निर्देशानुसार

पथ्यापथ्य

पूयमेह रोगी में पूर्व वर्णित उपदंश-फिरंग रोगानुसार ही युक्तिपूर्वक पथ्यापथ्य का पालन किया जाना लाभप्रद रहता है-

पथ्य

आहार	विहार
नारिकेल जल, निम्बू शर्बत, दूध की लस्सी, शाली चावल, मूंगदाल, जौ, मधु शीतल चीनी, मिश्री, पेठा आदि।	ब्रह्मचर्य पालन, शारीरिक शुद्धि आदि।

अपथ्य

आहार	विहार
उष्ण, विदाही, अम्ल आहार, सिरका, कांजी, इमली, अचार, मत्स्य (मछली) मद्य, चाय-कॉफी आदि।	मैथुन, दिवाशयन, परिश्रम, वाहन परिचालन आदि।

Latest Developments

Gonorrhoea

आधुनिक मतानुसार पूयमेह (Gonorrhoea) 'Gonococcus Neisseria gonorrhoea' नामक जीवाणु द्वारा उत्पन्न होने वाला विशिष्ट, मैथुनजन्य यौन संक्रमित रोग है। इस रोग में स्त्री व पुरुष के मूत्रप्रजनन संस्थानगत समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गों में शोथ उत्पन्न होता है। इसकी चिकित्सा निम्नानुसार है—

I. Prophylactic Treatment

(i) Use of condom during sexual activities.
(ii) Avoidance of contact with infected persons.
(iii) Following contact, penicillin should be administered.
(iv) All newborn infants should receive one drop of 1% silver nitrate in the conjunctival sac of each eye to prevent ophthalmia neonatorum.

II. Curative Treatment

Antibiotics (Penicillin) is the drug of choice.

अध्याय-42

अर्जित व्याधिक्षमत्व क्षयजन्य रोग समूह

अथवा

ओजक्षय
(ACQUIRED IMMUNO DEFICIENCY SYNDROME-AIDS)

व्याधि परिचय

ओजक्षय (AIDS) आधुनिक युग की महाव्याधि है। यह बाहरी आगन्तुक कारण (विषाणु) से उत्पन्न, रोग प्रतिरोधक क्षमता (Immunity) का क्षय होने पर उत्पन्न होने वाला रोग समूह (Syndrome) है। इस व्याधि के प्रसार का सर्वाधिक सक्षम कारण मैथुन सम्बन्धी दुराचरण ही है। इस व्याधि में शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता नष्ट हो जाती है और रोगी की उन रोगों से भी मृत्यु हो सकती है जो सामान्यत: स्वत: या आसानी से ठीक हो जाने वाले रोग होते हैं।

यह रोग लगभग समस्त विश्व में फैल चुका है। इसका इतिहास 25 वर्षों का ही है। सन् 1981 में सर्वप्रथम संयुक्त राज्य अमेरिका (U.S.A.) में यह रोग पहचाना गया एवं 1983 में इसके हेतु HIV (Human Immunodeficiency Virus) को फ्रांस के वैज्ञानिकों ने खोज निकाला। वैज्ञानिकों का मानना है कि इस रोग का अस्तित्व बहुत पहले से था परन्तु एक घातक रोग के रूप में इसका पता नहीं लग पाया था। यह रोग सबसे पहले मध्य अफ्रीका में प्रारम्भ हुआ व युगाण्डा, तंजानिया सहित अफ्रीका के अन्य देशों में तेजी से फैल रहा है। अफ्रीका से यह रोग यूरोप और अमरीका सहित विश्व के अनेक देशों में फैल चुका है। विषाणु (Virus) जन्य इस रोग का वाहक मध्य अफ्रीका में पाया जाने वाला एक विशेष जाति का बन्दर 'ग्रीन मंकी' है। यहाँ लगभग 70% बन्दरों के खून में एड्स के विषाणु पाये जाते हैं, परन्तु वे स्वस्थ रहते हैं। मध्य अफ्रीका के लोग इन बन्दरों को पालते हैं। असावधानी के कारण बन्दर के काटने से अथवा रोगग्रस्त बन्दर का मांस खाने से मनुष्यों में एड्स नामक रोग होने की संभावना रहती है।

जून 1995 में विश्व स्वास्थ्य संगठन (W.H.O.) ने अनुमान लगाया था कि विश्वभर में लगभग 2 करोड़ 40 लाख से अधिक वयस्क लोग H.I.V. ग्रस्त (एच.आइ.वी. पोजिटिव) हैं। प्रत्येक दिन लगभग 8 हजार से अधिक लोगों को एच.आइ.वी./एड्स का संक्रमण हो रहा है। लगभग हर 15 सेकेंड में एक व्यक्ति एड्स का शिकार हो जाता है।

भारतवर्ष में एड्स के रोगी की सबसे पहले पहचान सन 1986 में हुई। सन् 1995 तक 19 लाख लोग एच.आइ.वी./एड्स पीड़ित थे। भारतवर्ष में जिन राज्यों में एड्स आतुर सबसे अधिक संख्या में पाए गए वे राज्य हैं— महाराष्ट्र, तमिलनाडु और मणिपुर। एड्स के मरीज व एच.आइ.वी. पोजिटिव व्यक्ति में यही अन्तर है कि इस बीमारी की पहली अवस्था को एच.आय.वी. पोजिटिव व आखिरी अवस्था को एड्स कहते हैं। एच.आय.वी. पोजिटिव व्यक्ति एड्स के मरीज के मुकाबले अधिक खतरनाक स्थिति में होता है, क्योंकि ऊपरी तौर पर उसके शरीर में कोई लक्षण दिखाई नहीं देते, लेकिन भीतर ही भीतर उसमें एच.आय.वी. का विषाणु फैल रहा होता है। एड्स के समस्त आतुर शुरुआती तौर पर एच.आय.वी. पोजिटिव होते हैं।

आयुर्वेदीय चिकित्सा विज्ञान में सर्वधातुओं के सार 'ओज' की कल्पना अत्यन्त मौलिक व वैज्ञानिक है। 'ओज' ही 'बल' व 'श्लेष्मा' है। यह ओज व्याधिक्षमत्व (Immunity) का आधार कहा गया है। ओज ही शरीर में धातुसाम्य (Homeostasis) तथा आरोग्य बनाए रखने के लिये उत्तरदायी है। अनागत व्याधि का प्रतिरोध (Prophylaxis) तथा आगत व्याधि के बल का विरोध (Curative Effects) ही व्याधि क्षमत्व है। अत: विश्व व्यापी संक्रामक रोग एड्स (AIDS) भी एक विशेष प्रकार का ओज:क्षय ही है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता, सूत्र स्थान-अध्याय 17, 18
2. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 1, 2
3. सुश्रुत संहिता, सूत्र स्थान-अध्याय 15
4. डेविडसन प्रिन्सिपल एन्ड प्रेक्टिस ऑफ मेडिसिन 18th एडिशन

परिभाषा

विषाणु जनित वह संक्रमित रोग समूह (Syndrome) जिसमें शरीर की अर्जित व्याधिक्षमता (Acquired Immunity) या ओज का ह्रास हो जाता है उसे ओज क्षय कहते है। आधुनिक मतानुसार ओजक्षय को AIDS के समकक्ष व्याधि माना जा सकता है।

आधुनिक मतानुसार

AIDS (Acquired Immunodeficiency Syndrome) is the combination of specific clinical conditions and CD4+ T Lymphocytes counts designated by the centres for disease control & prevention (C.D.C.) as the final stage of infection by the human immunodeficiency virus (HIV).

Approximately 70% of HIV infected individuals develop AIDS within 10 years. Although there is no evidence that persons infected with AIDS have been cured, some of those infected, have survived for a number of years and many of those survivors are asymptomatic.

निदान (हेतु)

'HIV' विषाणु शरीर में निम्न कारणों से फैल सकता है—

i. **संक्रमित व्यक्ति के साथ संभोग करना—** HIV विषाणु का संचरण पुरुष से पुरुष (समलैङ्गिकता), स्त्री से स्त्री (समलैङ्गिकता), पुरुष से स्त्री व स्त्री से पुरुष में होता है। उस स्थिति में विषाणु का संचरण और आसानी से होता है जब दो में से एक यौन साथी किसी अन्य यौन संचरित रोग (e.g. Syphilis, Gonorrhoea, Herpes, Chancroid, Moniliasis, Trichomoniasis etc.) से युक्त हो।

ii. एक से अधिक साथियों से यौन सम्बन्ध रखने, वेश्यागमन, गुदमैथुन, मुखमैथुन आदि से।

iii. किसी ऐसे व्यक्ति से रक्ताधान (Corpuscles, Platelets, Plasma or Serum) जिसे एच.आय.वी. पोजिटिव/एड्स हो। हीमोफिलिया ग्रस्त रोगी जिसे बार-बार रक्ताधान की आवश्यकता होती है, में एड्स होने की सम्भावना अपेक्षाकृत अधिक होती है।

iv. एच.आय.वी. पोजिटिव/एड्स वाले व्यक्ति के द्वारा इस्तेमाल की गई सुई (Needle), सिंरिज, यन्त्र व शस्त्र को बिना उबाले (Unsterlized) स्वस्थ व्यक्ति में प्रयुक्त करना।

v. एच.आय.वी. पोजिटिव/एड्स संक्रमित गर्भवती महिला से उसके होने वाले नवजात को पैदा होने के पहले, दौरान या इसके तुरन्त बाद एड्स होने का खतरा रहता है।

vi. कृत्रिम गर्भाधान में प्रयुक्त वीर्य यदि एच.आय.वी. पोजिटिव व्यक्ति का हो तो संक्रमण का खतरा रहता है।

vii. विकृति विज्ञानीय प्रयोगशाला (Pathological Laboratory) में कार्य करने वाले व्यक्ति जो कि विभिन्न Specimen (e.g. Blood, Seminal Fluid, Vaginal Fluid etc.) को वहन करते है, को एच.आय.वी. संक्रमण होने की सम्भावना अधिक रहती है।

विशेष

एड्स रोगी के साथ हाथ मिलाने से, साथ में बैठने से, श्वास मार्ग द्वारा अथवा चुम्बन द्वारा यह रोग नहीं फैलता है। मच्छरों एवं खटमलों के काटने से भी यह रोग नहीं फैलता है।

एड्स रोग 15 से 50 वर्ष की आयु के लोगों में अधिक होने की संभावना रहती है। इसे ही ज्यादा जोखिम समूह (High Risk Group) कहते हैं। एड्स विषाणु एच.आय.वी. पोजिटिव व्यक्ति के रक्त, प्लाज्मा, सीरम, अस्थि मज्जा (Bone Marrow), लार (Saliva), Seminal Fluid, Cervical Smear, Vaginal Fluid, Breast Milk, यकृत, प्लीहा आदि में भी उपस्थित रहता है। नाई के उस्तरे द्वारा, नाक-कान छिदवाने के दौरान, शरीर पर गुदना गुदाने (Tattooing) में प्रयुक्त संक्रमित सुई के द्वारा भी यह रोग एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में फैल सकता है।

सम्प्राप्ति (Pathogenesis)

पूर्व वर्णित हेतुओं के सेवन से HIV विषाणु मानव कोशिकाओं में प्रवेश कर स्वयं के RNA (Ribonucleic Acid) जीनोम को रिवर्स ट्रान्सक्रिप्टेज एन्जाइम की सहायता से DNA (Deoxyribonucleic Acid) में बदल देता है। यह DNA गोलाकार हो जाता है और आदिविषाणु (Provirus) के रूप में पोषक कोशिका के DNA में समाकलित हो जाता है। इसके पश्चात् वह आदिविषाणु DNA अन्य विषाणु कणों का निर्माण करने के लिये वांछित प्रोटीन का निर्माण करता है। अन्त में कोशिका झिल्ली से मुकुलित (Rupture) होकर परिपक्व विषाणुकण बाहर निकलते हैं। ये परिपक्व HIV कण अन्य स्वस्थ कोशिकाओं को संक्रमित करते हैं। जैसे ही विषाणु परिपक्व होता है और कोशिका आवरण से बाहर की ओर उसमें मुकुलन होता है वैसे ही रक्त में उपस्थित विशिष्ट एन्टीबोडीज विषाणु को शरीर से बाहर करने के प्रयास में विषाणु से जाकर जुड़ जाती है। व्याधिक्षमत्व एन्टीबोडीज के साथ-साथ कोशिका मध्यस्थ प्रतिरक्षा (Cell Mediated Immunity) का भी अत्यधिक महत्व है। रक्त परिसंचरण में जाये बिना ही (जहाँ एन्टीबोडीज विषाणुओं को निष्क्रिय कर सकते हैं) कोशिका से कोशिका तक HIV विषाणु का प्रसार हो सकता है। इसलिये सम्बन्धित प्रक्रिया को सतर्क करके कोशिका मध्यस्थ प्रतिरक्षा प्रणाली (CMI) का क्रियाशील होना आवश्यक होता है।

जीवाणु, विषाणु तथा विभिन्न प्रकार के अनचाहे सूक्ष्म जीवों के शरीर के अन्दर प्रवेश होने पर उन्हें नष्ट करने के लिए शरीर की प्रतिरक्षा प्रणाली (Immune System) में मेक्रोफेजेस, लिम्फोसाइट्स (बी. कोशिकायें व टी. कोशिकायें) आदि प्रमुख भूमिका निभाती हैं। HIV विषाणु कोशिका प्रतिरक्षा (CMI) को अधिक प्रभावित करता है या यह कह सकते हैं कि टी.कोशिकाएं (T.Cells) इस विषाणु से मुख्यत: संक्रमित होती हैं। इन्हें T. Lymphocytes भी कहते हैं। टी. लिम्फोसाइट्स में प्रवेश के बाद विषाणु अपना घर बना लेता है तथा एड्स विषाणु का कारखाना बन जाता है। यहाँ से निकल कर एड्स विषाणु नये-नये T. Lymphocytes को अपना घर बनाता है। यह सिलसिला जारी रहता है। एड्स विषाणु इन T. Lymphocytes को हमेशा के लिए नष्ट करता जाता

है। एच.आय.वी/एड्स ग्रस्त या संक्रमित व्यक्ति का रोग प्रतिरोधक तन्त्र (Immune System) धीरे-धीरे किसी भी व्याधि के संक्रमण से लड़ने में अक्षम हो जाता है।

इन T. Lymphocytes के दो प्रमुख उपसमूह होते हैं जो कोशिका सतह प्रोटीन का वहन करते हैं, उन्हें CD-4 कोशिकायें कहते हैं। इन्हें सहायक या प्रेरक टी. कोशिकायें कहा जाता है। दूसरे प्रकार की टी. कोशिकाएं वे होती है जो CD-8 चिन्हकों की धारक होती हैं। इन्हें कोशिका विषी या संदमक टी कोशिकाएं कहा जाता है।

CD-4 टी कोशिका प्रतिरक्षा प्रणाली की अकेली सबसे महत्वपूर्ण घटक होती है। वास्तव में यह प्रतिरक्षा प्रणाली की अन्य कोशिकाओं की क्रियात्मक क्षमताओं को प्रेरित करती है। ऐसी जटिल प्रणाली में लसिका कोशिकाओं द्वारा उत्पन्न घुलनशील संदेश वाहक (Cytokines) एवं प्रतिरक्षा प्रक्रिया के सभी घटकों के बीच उपयुक्त तालमेल आवश्यक होता है। दुःखद स्थिति यह है कि एड्स में यह सन्तुलन बिल्कुल बिखर जाता है। ऐसा लगता है कि एच.आय.वी. विषाणु इस कार्य में प्रमुख खलनायक है एवं सहकारक इसमें सहयोग देते हैं।

एड्स रोगी में CD-4 कोशिकाओं के विनाश के अतिरिक्त वैज्ञानिकों द्वारा शरीर में सैनिकों की तरह कार्य करने वाली कोशिकाओं को शत्रु की तरह कार्य करते देखा गया है। यह देखा गया है कि संक्रमित व्यक्तियों की बी.कोशिकायें न केवल 'गैर' विषाणु प्रोटीनों के विरुद्ध एन्टीबोडीज तैयार करती हैं बल्कि स्वयं परपोषी के कोशिकीय एन्टीजन के विरुद्ध भी एन्टीबोडीज तैयार करती हैं। स्वयं के एन्टीजन के विरुद्ध उत्पन्न इन एन्टीबोडीज को स्वंप्रतिपिण्ड (Autoantibodies) कहते हैं। एड्स रोगियों में न केवल लसीका कोशिकाएं बल्कि Histocompatibility antigens के विरुद्ध भी एन्टीबोडोज पाई जाती हैं। HIV के बाह्य आवरण के एन्टीजनों के एक हिस्से तथा मानव HLA (Human Leucocyte Antigens) के एक टुकड़े के बीच समानता को इसके लिये उत्तरदायी माना गया है। इस प्रकार व्याधिक्षमत्व अत्यधिक क्षीण हो जाने पर अवसरवादी संक्रमण द्वारा कैंसर, एड्स एवं अन्य रोगों से शरीर ग्रस्त हो सकता है।

संचय काल

जीवाणु संक्रमण से लेकर एड्स रोगोत्पत्ति तक के काल को एड्स रोग का संचय काल (Incubation Period) कहते है जो 3-8 सप्ताह होता है।

Flow Diagram of Pathogenesis of AIDS

HIV विषाणु से प्रारम्भिक सम्पर्क

संचयकाल (3-8 सप्ताह) पश्चात

अलाक्षणिक HIV संक्रमण

at 6th week
Seroconversion illness

Pre AIDS Syndrome
(Generalised-

(Fever, Rashes, Diarrhoea-Splenomegaly)

Lymphadenopathy, Fever, Weight loss)

↓

सतत सामान्य लसीकाग्रन्थि वृद्धि
(Lymphadenopathy)

↓

एड्स से सम्बन्धित जटिलताएं
(ARC-AIDS Related Complex)

↓

पूर्ण विकिसित एड्स रोग

↓

लगभग 10 वर्ष पश्चात् मृत्यु की आंशका

सम्भावित आयुर्वेदीय सम्प्राप्ति

एड्स निदान

HIV संक्रमण

मिथ्या आहार-विहार

↓

दोष प्रकोप

↓

अग्निमांद्य

↓

आम दोष निर्माण

↓

साम दोष

↓

स्रोतोरोध

↓

धातुक्षय

↓

व्याधिक्षमत्व ह्रास

↓

एड्स के लक्षणों की उत्पत्ति

↓

एड्स रोग

संभावित सम्प्राप्ति घटक

दोष—त्रिदोष
दूष्य—सप्तधातु, लसीका (विशेषकर रस, रक्त, मांस)
स्रोतस—सर्वस्रोतस् (विशेषकर रसवह, रक्तवह एवं मनोवाही स्रोतस्)
स्रोतोदुष्टि लक्षण—संग, अतिप्रवृत्ति
अधिष्ठान—सर्वशरीर
व्याधि स्वरूप—चिरकारी
व्याधि स्वभाव—दारुण, जटिल, कष्टप्रद

साध्यासाध्यता

(i) नवीन, उपद्रवरहित-कृच्छ्रसाध्य
(ii) जीर्ण उपद्रव युक्त-असाध्य

एड्स विषाणु भेद—एड्स विषाणु की बनावट के आधार पर यह दो प्रकार के होते हैं—
(A) HIV-1 Virus—ये अधिकतर यूरोप व अमेरिका में पाए जाते हैं।
(B) HIV-2 Virus— यह सिर्फ अमेरिका में पाए जाते हैं।
भारतवर्ष में उक्त दोनों प्रकार के विषाणु पाए जाते हैं।

सामान्य लक्षण व चिन्ह

HIV संक्रमण विभिन्न प्रकार के तथा व्यापक महत्व के चिकित्सकीय परिदृश्य उत्पन्न करता है जिसके एक सिरे पर हल्के 'फ्लू' जैसी व्याधि होती है तो दूसरी ओर पूर्ण विकसित एड्स रोग होता है। इस विषाणु (HIV) के शरीर में प्रवेशोपरान्त कुछ ही सप्ताह में 'फ्लू' जैसे निम्न लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं—

i. ज्वर (Unexplained Fever)
ii. सर्व शरीर शूल (Bodyche)
iii. शिर:शूल (Headache)
iv. थकावट (Fatigue)
v. अरति (Lethargy/Malaise)
vi. पिड़िका उत्पत्ति (Rashes)
vii. संधिशूल (Myalgia-Arthralgia)
viii. लसीका ग्रन्थि वृद्धि (Lymphadenopathy)

प्रत्येक प्रभावित व्यक्ति में यह लक्षण उत्पन्न हों ऐसा आवश्यक नहीं हैं। कुछ समय पश्चात ये लक्षण समाप्त हो जाते हैं। इसके बाद 3 से 12 वर्ष का लम्बा अन्तराल होता है जिसमें कोई लक्षण प्रकट नहीं होते। इस अवस्था में रोग की पहचान ऊपरी तौर पर नहीं

हो पाती। इसके बाद जब व्यक्ति की रोग प्रतिरोधक क्षमता (Immunity) व रोग प्रतिरोधक तन्त्र (Immune-System) नष्ट होना शुरू होता है तब उत्पन्न अवस्था को 'एड्स' कहते हैं। इसके प्रारम्भिक लक्षण निम्नानुसार होते हैं—

i. सतत अतिसार (Diarrhoea for a period of more than 7 days)
ii. सतत ज्वर (Continuous Low grade fever)
iii. भारक्षय (Body weight loss)
iv. क्षुधानाश (Loss of Appetite)
v. वमन (Nausea/Vomiting)
vi. कास (Cough/Pharyngitis)
vii. रात्रि स्वेद (Night Sweats)
viii. लसीका ग्रन्थि वृद्धि (Lymph node enlargement)
ix. परिसरणीय तन्त्रिका विकार (Peripheral Neuropathy)

इसके पश्चात् एच.आय.वी. पोजिटिव व्यक्ति को अपने आसपास व्याप्त निम्न संक्रमण प्रभावित कर सकता है—

i. राजयक्ष्मा (Tuberculosis-Pulmonary & Extrapulmonary Infection)
ii. मुखपाक (Oral Candidiasis, Oral Hairy Leucoplakia, Fungal infection)
iii. नेत्र संक्रमण (CMV-Cytomegalo Virus infection-Retinitis, loss of Vision)
iv. निमोनिया (Pneumococcal Pneumocystitis carinii Pneumonia)
v. मस्तिष्क संक्रमण (Toxoplasmosis of Brain)
vi. प्लीहावृद्धि (Splenomegaly)
vii. Perianal herpes simplex infection-an infection of the genitals, anorectal skin and mucosa by herpes simplex virus type-2.
viii. Bacterial Septicaemia.-The presence of pathogenic bacteria in the blood.
ix. Kaposis Sarcoma- A vascular malignancy that is often first apparent in the skin or mucous membrane but may involve the viscera due to immuno suppression.
x. Non-Hodgkin's Lymphoma (Immunoblastoma)-A group of malignant solid tumours of lymphoid tissues.

उपर्युक्त क्रम पूर्वक लक्षणों की गंभीरता का सामञ्जस्य आयुर्वेद में वर्णित 'ओजक्षय' से किया जा सकता है। एड्स की भाँति सुश्रुत सूत्र स्थान में ओजक्षय के निम्न दो प्रकार बतलाऐ गए हैं—

(i) **ओजविस्रंस**[1]—इसमें संधि विश्लेष, संधिशूल, दोषों का स्वस्थान से च्यु हो जाना, श्रम (थकावट) एवं शारीरिक मानसिक-वाचिक क्रियाओं का सम्यक् प्रकार से सम्पन्न नहीं हो पाना आदि लक्षण पाए जाते हैं।

(ii) **ओजव्यापद्**[2]—इसमें गौरवता, अंगों में स्तब्धता, ग्लानि, वर्णभेद, तन्द्रा, निद्रा एवं वातिक शोफ आदि लक्षण मिलते हैं।

(iii) **ओजक्षय**[3]—इसमें मूर्च्छा, मांसक्षय, मोह, प्रलाप, अज्ञान, पूर्ववर्णित विस्रंस व व्यापद के अतिवृद्ध लक्षण एवं मृत्यु होना आदि लक्षण प्राप्त हो सकते है।

निम्नलिखित रोगों में भी 'ओजक्षय' एक लक्षण के रूप में मिलता है—

i. अभिन्यास ज्वर
ii. पाण्डु
iii. राजयक्ष्मा
iv. शोष
v. प्रमेह
vi. उन्माद
vii. मदात्यय
viii. आवृत वात आदि

प्रयोगशालीय परीक्षण (Investigations)

शरीर में प्रवेश के पश्चात् HIV विषाणु को एन्टीबोडीज उत्पन्न करने में 2 से 24 सप्ताह लग जाते है इसे 'विन्डो पीरियड' कहा जाता है। इस अवस्था में व्यक्ति HIV संक्रमित होता है तथा किसी अन्य को भी संक्रमित कर सकता है, लेकिन एन्टीबोडीज का पता लगाने के लिये की जाने वाली जाँच में वह निगेटिव आता है। किसी व्यक्ति को HIV का संक्रमण उत्पन्न हुआ है या नहीं इस बात का ठीक पता लगाने के लिये किसी सम्पर्क, रक्ताधान या घटना के 6 महीने बाद दुबारा जाँच कराते है। अत: HIV संक्रण के निदान हेतु प्रचलित विधि द्वारा Plasma या Serum में HIV एन्टीबोडीज की पहचान करना है जो निम्न परीक्षण द्वारा किया जाता है-

I. स्क्रीनिंग टेस्ट (Screening Test)

i) ELISA (Enzyme Linked Immuno Sorbent Assays)— यह कम समय में सम्पन्न होने वाली सस्ती विधि है। इस विधि का प्रयोग प्रचलन में अधिक है।

1. "तस्य विस्रंसो व्यापत् क्षय इति त्रयो दोषाः लिङ्गानि भवन्ति संन्धिविश्लेषो गात्राणां सदनं दोषच्यवनं क्रियासन्निरोधश्च विस्रंसे॥" (सु.सू. 15/24)
2. "स्तब्धगुरुगात्रता वातशोफौ वर्णभेदोग्लानिस्तन्द्रा निद्रा च व्यापन्ने॥" (सु.सू. 15/24)
3. "मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापो मरामिति च क्षये॥" (सु.सू. 15/24)

ii) PAT (Particle Agglutination Test)

iii) SPOT Test

iv) Immunocomb Test

II. पुष्टिकारक (Validation/Confirmed Test)

i) Western blot Test—इस विधि का प्रयोग बहुत ज्यादा किया जाता है।

ii) Fluorescent Antibody Technique (FAT)

iii) Polymer Chain Reaction (PCR)

iv) Radio Immuno Assay (RIA)

विशेष

A CD4+ T.cell count of less than 200/mm³ and the presence of any one of 25 clinical conditions are now used to diagnose AIDS.

चिकित्सा सूत्र

आज के परिपेक्ष्य में 'एड्स' रोग का कोई सम्पूर्ण उपचार उपलब्ध नहीं है। अत: इससे बचाव ही इस रोग से दूर रहने का एक मात्र सफल उपाय है। एड्स एक आगन्तुक व्याधि है। आगन्तुक एवं मानस रोगों से बचने के लिये आयुर्वेद 'प्रज्ञापराध' के त्याग को महत्व देता है। रोगों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में आचार्य चरक ने स्पष्ट किया है कि भूत, विष, वायु, अग्नि तथा आघात आदि से उत्पन्न आगन्तुज रोग प्रज्ञापराध से ही उत्पन्न होते हैं[1]। अत: प्रज्ञापराध का त्याग करना, इन्द्रियों को वश में रखना, स्मृति, देश, काल, विज्ञान, अध्यात्म से युक्त रहना, सद्वृत्त का पालन करना इत्यादि ये सभी आगन्तुक रोगों को उत्पन्न नहीं होने देने के उपाय है[2]। अत: एड्स रोग के बचाव व चिकित्सा के लिए निम्न चिकित्सा सूत्र अपनाना चाहियें—

(i) निदान परिवर्जनम् (Prevention)

(ii) दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, सद्वृत्त का सम्यक पालन।

(iii) व्यक्तिगत (Personal) एवं सामाजिक (Social) स्वास्थ्य को बनाए रखना।

(iv) आचार रसायन (आजस्रिक) सेवन

(v) ओजोवर्धक चिकित्सा

1. "ये भूतविषवायग्निसंप्रहारादिसंभवाः। नृणामागन्तवो रोगाः प्रज्ञा तेष्वपराध्यति॥" (च.सू. 7/51)
2. "त्यागाः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः। देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम्॥ आगन्तूनामनुत्पत्तावेष मार्गो निदर्शितः। प्राज्ञः प्रागेव तत् कुर्याद्रितं विद्याद्यदात्मनः।" (च.सू. 7/53-54)

(vi) नैमित्तिक रसायन सेवन

(vii) सम्प्राप्ति विघटन करना

(viii) लाक्षणिक चिकित्सा व्यवस्था करना आदि

उपर्युक्त चिकित्सा सिद्धान्तों में से प्रमुख निम्न हैं—

(i) निदान परिवर्जनम (Avoidance of cause as preventive medicine)

एड्स विषाणु का संक्रमण, जिन-जिन कारणों से हो सकता है उनकी जानकारी एवं विवेकपूर्वक उनसे बचाव के साधनों को अपनाना चाहिये। जैसे—

(i) सुरक्षित सम्भोग-समलैङ्गिता, पशु मैथुन, गुद मैथुन, वेश्या गमन को रोकना। शिश्न आवरक (कन्डोम) के प्रयोग को बढ़ावा देना। एक ही साथी से यौन सम्बन्ध रखना।

(ii) रक्त, प्लाज्मा, सीरम, फेक्टर-8, इम्यूनो-ग्लोबिन्स, इन्टरफेरान आदि के आदान-प्रदान के पूर्व एच.आय.वी. की जाँच करना।

(iii) सूचि (Needle), सिरिंज, शल्य उपकरणों, प्रयोगशालीय उपकरणों का प्रयोग पूर्व विसंक्रमित करना।

(iv) एड्स संक्रमित माता को जहाँ तक सम्भव हो गर्भधारण नहीं करना चाहिये।

(ii) दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, सद्वृत्त एवं आचार रसायन का सेवन (Social-medicine)

आयुर्वेदीय शास्त्रों में वर्णित दिनचर्या (Daily regimens), रात्रिचर्या (Night regimens), ऋतुचर्या (Seasonal regimens) का सम्यक् रूप से पालन करना चाहिये।

आयुर्वेद विज्ञान में द्रव्यों के रसायन (नैमित्तिक व श्रीकाम्य रसायन) के रूप में प्रयोग के साथ ही व्यक्तिगत आदर्श आचरण के पालन से भी रसायन तुल्य प्रभाव की उत्पत्ति को स्वीकार किया गया है। आचार्यों ने आचार रसायन के अन्तर्गत निम्न शारीरिक व मानसिक विशिष्ट आचरणों का उल्लेख किया है जिनके पालन से मनुष्य में रसायन प्रभाव उत्पन्न हो सकते हैं—

(i) सत्यभाषण, अक्रोध सेवन

(ii) मद्य-मैथुन का युक्तिपूर्वक सेवन

(iii) अहिंसा, शान्तचित्त, प्रियवचन सेवन

(iv) आहार-निद्रा-ब्रह्मचर्य का उचित पालन

(v) नित्य-प्रतिदिन दुग्ध व घृत का सेवन

(vi) सात्विक, शाकाहारी आहार-विहार सेवन

(vii) आस्तिक, जितात्मा व अहंकार रहित होना[1]।

(iii) ओजोवर्धक चिकित्सा (Immunomodulation)

आयुर्वेद मतानुसार जीवनीय, बृहंणीय, ब. य, रसायन औषधियों का प्रयोग ओजक्षय में लाभप्रद होता है। नित्य क्षीर, घृत, मांस रस का अभ्यास भी ओजोवर्धक है। इन सभी उपायों, औषधियों से 'व्याधिक्षमत्व' क्षमता में वृद्धि होती है। रसायन प्रयोग से उत्तम व श्रेष्ठ रसादि धातुओं की प्राप्ति होकर ओजो वर्धन होता है। उत्तम स्वरूप की व्याधि प्रतिरोधक क्षमता (Immunity) होने से मनुष्य एड्स सदृश्य रोगों के आक्रमण से बचा रह सकता है।

(iv) नैमित्तिक रसायन सेवन

इस रसायन का प्रयोग स्वस्थ व्यक्ति में ओज, आयु व मेधा वृद्धि के लिये तथा व्याधि ग्रस्त व्यक्ति के विशिष्ट रोग निवारण के लिये किया जाता है। एड्स रोग एक लक्षण समूह रोग (Syndrome) है। अत: इस रोग के विभिन्न लक्षणों को प्रधानता के अनुसार नैमित्तिक रसायन प्रयोग से दूर किया जा सकता है। जैसे—

त्वकरोग	: बाकुची, विडंग, गंधक आदि
ग्रन्थि	: पिप्पली, भल्लातक आदि
राजयक्ष्मा	: नागबला, रसोन, भल्लातक आदि
पाण्डु	: लौह, मण्डूर
प्राणवहस्रोतोदुष्टि (श्वास, निमोनिया)	: अगस्त रसायन, च्यवनप्राश आदि
मानस दुर्बलता	: ब्राह्मरसायन, मेध्य रसायन आदि

चिकित्सा

(1) **शोधन चिकित्सा**—एड्स रोग क्षय जन्य (अपतर्पण जन्य) रोग है। अत: इसकी चिकित्सा में बृहंणीय चिकित्सा ही सर्वोपरि है। इसमें शोधन चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।

(2) **शमन चिकित्सा**—एड्स के रोगी में निम्न शामक औषध योगों का प्रयोग करने पर वांछित सफलता प्राप्त की जा सकती है—

1. "सत्यवादिनमक्रोधं..... । ..... स समश्नुते॥" (च.चि. 1-4/30-35)

1. रस/भस्म/लौह

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, दुग्ध
(i) राजमृगाङ्क रस	: रस सिन्दूर, स्वर्ण, ताम्र आदि
(ii) मृगाङ्क रस	: पारद, स्वर्ण, मुक्ता आदि
(iii) स्वर्ण मालिनी वसन्त	: स्वर्ण, मोती, हिंगुल आदि
(iv) मकरध्वज	: स्वर्ण, पारद, गंधक आदि
(v) आनन्दभैरव रस	: हिंगुल, वत्सनाभ, टंकण आदि
(vi) मुक्ता पंचामृत	: मुक्ता, प्रवाल, वङ्ग आदि
(vii) शृङ्गाराभ्र	: अभ्रक, कज्जली, कर्पूर आदि
(viii) शिलाजत्वादि लौह	: शुद्ध शिलाजतु, त्रिकटु आदि

2. वटी

मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: जल, मधु
(i) शिवा गुटिका	: त्रिफला, शिलाज़तु आदि
(ii) चन्द्र प्रभा वटी	: विडंग, चित्रक, त्रिकटु आदि
(iii) संजीवनी वटी	: भल्लातक, वत्सनाभ, त्रिफला आदि
(iv) आरोग्यवर्धिनी वटी	: कज्जली, ताम्र, कुटकी आदि

3. चूर्ण

मात्रा	: 2-6 ग्राम
अनुपान	: मधु, दुग्ध
(i) सितोपलादि चूर्ण	: पिप्पली, एला, सिता आदि
(ii) आमलकी रसायन चूर्ण	: आमलकी, मधु आदि
(iii) अश्वगन्धादि चूर्ण	: अश्वगन्धा आदि
(iv) चतुषष्टि पिप्पली	: क्षार भवित पिप्पली चूर्ण
(v) अमृता सत्व	: अमृता सत्

4. आसव/अरिष्ट

मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: जल
(i) द्राक्षारिष्ट	: मुनक्का, गुड़, दालचीनी आदि
(ii) बलारिष्ट	: बला, अश्वगन्धा, गुड़ आदि
(iii) अश्वगन्धारिष्ट	: अश्वगन्धा, मूसली, हरिद्रा आदि

5. अवलेह

मात्रा	: 10-20 ग्राम
अनुपान	: क्षीर, दुग्ध
(i) च्यवनप्राश	: दशमूल, अष्टवर्ग, काकड़ाश्रृङ्गी, द्राक्षा आदि
(ii) ब्रह्मरसायन	: पंच पंचमूल, हरीतकी, स्वर्ण आदि

6. घृत

मात्रा	: 10-20 मि.ली.
अनुपान	: दुग्ध
(i) अश्वगंधा घृत	: अश्वगन्धा, काकोली, घृत आदि
(ii) जीवनीय घृत	: अष्टवर्ग, माषपर्णी, मुलैठी आदि
(iii) दशमूल घृत	: बिल्व, अग्निमंथ, श्योनाक आदि

7. रसायन

मात्रा : आवश्यकतानुसार

(i) च्यवनप्राश
(ii) ब्रह्म रसायन
(iii) पिप्पली वर्धमान रसायन
(iv) नागबला रसायन
(v) अमृता रसायन
(vi) शिलाजतु रसायन
(vii) स्वर्ण भस्म (रसायन)
(viii) आमलकी रसायन
(ix) अश्वगन्धा रसायन आदि

8. एकल द्रव्य—कासनी, बला, तुलसी, अमृता, मुलैठी, भूमिआमलकी, आमलकी, हरिद्रा, शतावरी, भारङ्गी, पुष्करमूल, कंटकारी, अश्वगन्धा आदि।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. प्रातः सायम्

शिलाजत्वादि लौह	: 250 मि.ग्रा.
चतुषष्टि पिप्पली	: 500 मि.ग्रा.
अमृता सत्व	: 500 मि.ग्रा.
प्रवाल पंचामृत	: 500 मि.ग्रा.
मधु से	1×2 मात्रा

3. चन्द्रप्रभा वटी : 2 वटी × तीन मात्रा
   संजीवनी वटी : 2 वटी × तीन मात्रा
   जल से
4. भोजनोत्तर
   अश्वगन्धारिष्ट : 20 मि.ली.
   बलारिष्ट : 20 मि.ली.
   समभाग जल से 1×2 मात्रा
5. च्यवनप्राश अवलेह : 20 ग्राम
   दूध से 1×2 मात्रा
6. पौष्टिक-सात्विक आहार
7. प्राणायाम-योगासन निर्देशानुसार

पथ्यापथ्य

एड्स रोगी में युक्ति पूर्वक निम्न पथ्यापथ्य आहार-विहार का प्रयोग कराना लाभप्रद रहता है-

पथ्य

आहार	विहार
मधुर-स्निग्ध-गुरु आहार, नित्य क्षीर-घृत मांस रस, खर्जूर, द्राक्षा, लशुन, हरिद्रा आदि।	विश्राम, सद्वृत्त पालन, आचार रसायन सेवन, ब्रह्मचर्य पालन आदि।

अपथ्य

आहार	विहार
कटु-तिक्त-कषाय रस, माष (उड़द) वाजीकरण आहार आदि।	मैथुन, क्रोध, शोक, चिन्ता, वेग धारण, स्वेदन, रात्रि जागरण (प्रजागर) आदि।

Latest Developments
AIDS

यह आधुनिक काल का कष्टसाध्य/असाध्य यौन संक्रमित रोग है। आयुर्वेदीय साहित्य में इसका स्पष्टतः उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इस रोग की निम्न दो प्रकार की चिकित्सा वर्णित है-

I. Preventive Measures

II. Curative Measures

I. Preventive Measures

Measures adopted include

i. Health education.
ii. Modification of Risk behaviour through councelling.
iii. Use of condoms for penetrative sex.
iv. Screening of blood units.
v. Rational use of blood.
vi. Biosafely methods in the health care setting.

II. Curative Measures

Pharmacologic Approach has four main goals-

i. Treat the HIV infection with antiretroviral drugs.
ii. Immune Reconstruction.
iii. Treatment of opportinistic-infections.
iv. Arrest of epidemiological infections with vaccines

Vaccines

(i) Therapeutic-To increase the immune response, thus delaying onset of AIDS.
(ii) Preventive-To arrest the spread of infection in population.

Anti Retroviral therapy includes

(a) Nucleoside analogue reverse transcriptase.
(b) Protease inhibitors
(c) Non-nucleoside reverse transcriptase inhibitors.

Prognosis

Despite an increased understanding of the ways in which HIV destroys the immune system, only limited progress has been made in extending the lives of those with AIDS. Life expectancy remains about 10-15 years after initial infection.

अध्याय-43

रतिजन्य वंक्षणीय कणिकार्बुद
(GRANULOMA INGUINALE VENERUM)

व्याधि परिचय

यह यौन संक्रमित रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक पाया जाता है। इस रोग में शिश्न के ऊपर धान्य के अंकुर के समान मासांकुर उत्पन्न हो जाते हैं। यह अंकुर एक-दूसरे के ऊपर बढ़ते हुए स्थिर हो जाते है। अंकुरों के कारण प्रवर्धित मांस शिश्नमणि के छिद्र के पास अथवा सम्पूर्ण छिद्र (Urethra) पर मुर्गे की चोटी के समान वर्ति उत्पन्न करता है। इस को 'लिङ्गार्श' या 'लिङ्ग वर्ति' भी कहते हैं[1]।

स्त्री के भगोष्ठ, भगशिश्निका तथा योनिमार्ग में भी धान्यांकुर समान अंकुर निकलते हैं। इन्हें 'योन्यार्श' कहते हैं। इन अंकुरों से बदबूदार स्राव निकलता है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सुश्रुत संहिता, निदान स्थान-अध्याय 2
2. माधव निदान-अध्याय 47

पर्याय[2]

(i)	लिंगवर्ति	(ii)	लिंगार्श (स्त्रियों में योन्यार्श)
(iii)	कामजन्य कणिकार्बुद	(iv)	Papilloma
(v)	Granuloma	(vi)	Polypus etc.

निदान

इस रोग का मुख्य कारण Donovan body उत्पन्न करने वाला Klebsiella granulomatis नामक दण्डाणु है। इसे Donovania grannlomatis भी कहते हैं। यह Gram negative जीवाणु है।

---

1. "अङ्कुरैरिव सङ्घातैरूपर्युपरि संस्थितैः। क्रमेण जायते वर्तिस्ताम्रचूडशिखोपमा॥" (मा.नि. 47/6)
2. "लिङ्गवर्तिरभिख्याता लिङ्गार्श इति चापरे।' (मा.नि. 47/7)

संचय काल

इस रोग का संचय काल (Incubation period) कुछ दिनों से लेकर 12 सप्ताह पर्यन्त तक होता है।

सम्प्राप्ति व लक्षण

सर्वप्रथम जीवाणु के प्रवेशोपरान्त शिश्न, भगोष्ठ, आदि अंगों की एक स्थान की त्वचा पर छोटा सा गोल ग्रन्थि वाला उभार पैदा हो जाता है। इसके ऊपर की त्वचा अत्यन्त मृदु व गुलाबी वर्ण की होती है। यह त्वचा शीघ्र ही क्षतयुक्त हो जाती है तथा उसमें से दुर्गन्ध युक्त पूय (Pus) निकलने लगता है। यह व्रण धीरे-धीरे चारों तरफ फैल जाता है। यह व्रण भगोष्ठ, योनि, वृषण, भगशिश्निका, योनिमार्ग (Vagina) आदि अंगों पर पाया जाता है। मल-मूत्र व प्रजनन मार्ग में व्रण होने से रोगी को कष्ट व बैचेनी होती है। मल-मूत्र एवं अपानपायु त्याग करने में असुविधा होती है।

सम्प्राप्ति चक्र

निदान सेवन
↓
दोष प्रकोप
↓
मेढ्र व योनि प्रदेश में आश्रय
↓
मांस व रक्त प्रकोप
↓
कण्डू
↓
व्रणोत्पत्ति
↓
पूयस्राव
↓
शिश्न नाश व आर्तव नाश
↓
बन्ध्यता

साध्यासाध्यता

यह रोग चिरकालानुबन्धी व कृच्छ्रसाध्य है। रोग प्रतिकार न होने पर रोगी को जीवन पर्यन्त बना रहता है। यह रोग, रोगी के गुप्ताङ्गों को विकृत कर देता है।

उपद्रव

रतिजन्य वंक्षणीय कणिकार्बुद की उपेक्षा करने पर रोगी में निम्न उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं—

(i) नाड़ीव्रण
(ii) गज चर्मता
(iii) मूत्रमार्ग संकोच
(iv) शिश्नक्षय
(v) आर्तवक्षय
(vi) ध्वजभंग
(vii) बस्तिशोथ
(viii) बन्ध्यता आदि।

चिकित्सा

(i) पूर्ण विश्राम
(ii) स्थानिक व्रण उपचार
(iii) अंकुरों पर क्षार पातन
(iv) रक्तशोधक उपचार
(v) पूर्व वर्णित उपदंश-फिरंग रोग वत अन्य उपचार करें।

क्षारपातनार्थ योग

(i) स्वर्जिकाक्षारादि चूर्ण— सज्जीखार, तूतिया, रसोंत, मन:शिला, हरताल आदि का मांसाकुंर पर लेपन।
(ii) घृतकुमारी के पत्रों को मन्दोष्ण करके लिङ्ग पर बन्धनार्थ।
(iii) गुंजामूल को बैल के मूत्र में पीसकर लेपन।

नोट—यौन संक्रमित रोगों में वर्णित अन्य औषधियों व पथ्यापथ्य का भी युक्तिपूर्वक प्रयोग किया जा सकता है।

अध्याय-44

वंक्षण सन्धि लसकणिकार्बुद
(LYMPHO GRANULOMA VENERUM INGUINALE)

व्याधि परिचय

यह रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक पाया जाता है। यह भी यौन संक्रमित विषाणुजन्य रोग है। पुरुषों में संक्रमण का प्रसार स्त्रियाँ अधिक करती हैं। इस रोग में वंक्षण सन्धि (Inguinal fold) की लसिका ग्रन्थियों में शोथ उत्पन्न होकर पूय उत्पत्ति होती है। पुरुषों में प्राथमिक व्रण शीघ्र रोपित हो जाता है। स्त्रियों में व्रण उत्पत्ति योनि प्रदेश में होती है। व्रण योनि के अन्दर की ओर भी उत्पन्न हो जाते हैं जो दीर्घकाल तक स्थित रहते हैं। अत: इनकी औपसर्गिकता भी अधिक काल तक बनी रहती है। स्त्री योनि में विषाणु दीर्घकाल तक परजीवी के रूप में सुरक्षित रहते हैं तथा मैथुन के समय पुरुष में संक्रमित होते हैं।

निदान

यह रोग उष्ण कटिबन्धनीय देशों में अधिकता से पाया जाता है। इसका मुख्य कारण "Chlamydia trachomatic" नामक विषाणु है।

संचय काल

इस रोग के विषाणु शरीर में प्रवेशोपरान्त 7 से 21 दिन के अन्दर लक्षण प्रकट करते हैं।

सम्प्राप्ति व लक्षण

पुरुषों में विषाणु उपसर्ग के पश्चात् 'वंक्षण संधि लसकणिकार्बुद' की निम्न चार अवस्थाएं होती हैं—

(i) ग्रन्थि वृद्धि (Bubo)
(ii) शोथोत्पत्ति
(iii) पूयोत्पत्ति
(iv) नाड़ीव्रण की उत्पत्ति

इसके अतिरिक्त रोगी के शरीर में निम्न सार्वदैहिक लक्षण भी पाए जाते हैं—

(i) ज्वर
(ii) शूल (अधोउदर प्रदेश में)
(iii) अङ्गसाद
(iv) मूत्रदाह

(v) अग्निमांद्य
(vi) अरुचि
(vii) दौर्बल्य
(viii) सन्धिशूल
(ix) विबन्ध
(x) प्लीहावृद्धि
(xi) भारक्षय आदि

उपद्रव

व्रण के उत्पन्न होने के पश्चात् कभी-कभी रोगी में नाड़ीव्रण (Sinuses) उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी नाड़ीव्रण के द्वारा गुदा का सम्बन्ध बस्ति, योनि आदि अंगों के साथ हो जाता है। पुरुष व स्त्री में जननाङ्गों में गजचर्मता (Elephantiasis of the Genitalia) उत्पन्न हो जाती है। स्त्रियों में गुद संकोच (Rectal Stricture) उत्पन्न हो सकता है।

चिकित्सा

(i) पूर्ण विश्राम
(ii) कोष्ठ शुद्धि
(iii) स्थानिक व्रणशोधक, रोपक उपचार
(iv) औषध व्यवस्था

1. प्रातः सायम्

मल्लसिन्दूर	: 125 मि.ग्रा.
आरोग्य वर्धिनी वटी	: 250 मि.ग्रा.
शुद्धगंधक	: 250 मि.ग्रा.
अमृता सत्व	: 500 मि.ग्रा.
प्रवाल पिष्टी	: 250 मि.ग्रा.
मधु से	1×2 मात्रा

2. भोजनोत्तर

खदिरारिष्ट	: 20 मि.ली.
सारिवाद्यासव	: 20 मि.ली.
समभाग जल से	1×2 मात्रा

नोट— यौन संक्रमित रोगों में वर्णित अन्य औषधियों व पथ्यापथ्य का युक्तिपूर्वक प्रयोग भी लाभकारी रहता है।

अध्याय-45

यौनमनोगत विकार
(PSYCHO SEXUAL DISORDERS)

परिचय

आयुर्वेदीय चिकित्सा विज्ञान में मनोदैहिक विकारों (Psychosomatic disorders) की तरह ही यौन मनोगत विकारों (Psychosexual disorders) का भी वर्णन मिलता है। मन के विकारों का शरीर के साथ-साथ अन्तः स्रावी व जनन ग्रन्थियों पर भी प्रभाव देखा गया है। अतः सुखद, निरापद यौनजीवन (Sexual Life) व्यतीत करने के लिए तथा स्वस्थ सन्तान प्राप्ति हेतु यौन मनोगत विकारों को दूर करना आवश्यक है। आचार्यों ने निम्न यौन मनोगत विकार वर्णित किए हैं—

1. योषापस्मार (अपतन्त्रक) (Hysteria)
2. स्मरोन्माद (कामोन्माद)
3. बलात्कार (Rape)
4. अप्राकृतिक मैथुन
   (i) गुद मैथुन (Sodomy)
   (ii) हस्तमैथुन (Masturbation)
   (iii) स्त्री समलैङ्गिकता (Lesbianism)
   (iv) पुरुष समलैङ्गिकता (Homosexuality)
   (v) पशु मैथुन (Bestiality)
   (vi) मुख मैथुन (Oral Sex)
5. अन्य यौनमनोगत विकार

   यौन रूप से वह व्यक्ति स्वस्थ होता है जो प्रायः किन्हीं असामान्य अथवा विकृत मनोवृत्तियों पर नियन्त्रण रखता है। मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में शारीरिक स्वास्थ्य की अपेक्षा एक बड़ी सीमा तक स्वाभाविक परिस्थितियों का दायरा बहुत व्यापक होता है।

उपर्युक्त यौनमनोगत विकारों का क्रमानुसार विस्तृत वर्णन निम्नानुसार है—

योषापस्मार (अपतन्त्रक)
(HYSTERIA)

व्याधि परिचय

आयुर्वेदीय ग्रन्थों में योषापस्मार रोग का स्वतन्त्र उल्लेख नहीं है। अपतन्त्रक नामक रोग में ही इसको समाहित करते हैं। इस रोग से आक्रान्त स्त्री जिस रोग का मन से ध्यान करती हैं उसे भ्रमवश वही रोग हुआ प्रतीत होता है। योषा (स्त्री) में अधिकता से होने से इसे योषापस्मार कहते हैं। विशेष रूप से गर्भाशय (Hystero/Hyster/Uterus) सम्बन्धी विकृतियों या अतृप्त कामेच्छा एवं मानसिक उत्पीड़न के कारण स्त्रियों में इसकी उत्पत्ति अधिक होती है। किन्तु स्त्रियों की भाँति कोमल प्रकृति वाले व क्लेशादि सहन न कर सकने वाले (अल्प सत्व युक्त) पुरुषों में भी यह रोग दिखाई देता है। अतः यह एक यौनमनोगत दैहिक विकार है। इस रोग में कभी हँसना, कभी रोना, कभी बेहोशी आना ये प्रधान लक्षण होते हैं[1]।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता, सिद्धि स्थान-अध्याय 9/12-20
2. सुश्रुत संहित, निदान स्थान-अध्याय 1/64-66
3. सुश्रुत संहिता, चिकित्सा-स्थान अध्याय 5
4. माधव निदान-परिशिष्टम योषापस्मार निदानम्

निदान

योषापस्मार (अपतन्त्रक) रोग के कारणों को निम्न दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है[2]—

I. शारीरिक कारण

II. मानसिक कारण

1. "सम्बन्धो..... । ..... मदः क्वचित्॥"
(मा.नि.परिशिष्टम् योषापस्मार निदानम् /1-5)

2. "रक्तक्षयाद्वा..... । ..... हि कालः॥"
(मा.नि.परिशिष्टम् योषापस्मार निदानम् /6-9)

I. शारीरिक कारण

(i) अत्यधिक रक्तक्षय (पाण्डु रोग)
(ii) अजीर्ण रहना
(iii) विबन्ध बने रहना
(iv) रजःक्षय/रजोऽवरोध
(v) कामेच्छा की अपूर्ति
(vi) गर्भाशय विकार
(vii) अप्राकृतिक मैथुन
(viii) अनिद्रा आदि

II. मानसिक कारण

(i) निरन्तर शोक, निराशा, चिन्ता, भय, उपेक्षा व तिरस्कार से ग्रस्त रहना
(ii) इच्छा का विघात होना
(iii) मानसिक द्वन्द्व रहना
(iv) यौन सुख की अतृप्ति
(v) परिवार के सदस्यों से निष्ठुर व्यवहार, प्रताड़ना मिलना
(vi) पति के द्वारा विवाहिता की उपेक्षा
(vii) युवावस्था में विधवा हो जाना
(viii) सन्तान प्राप्ति नहीं होना
(ix) यथा समय विवाह न होना
(x) कामशास्त्र, कामुक साहित्य पढ़ना, चलचित्र दर्शन आदि

सम्प्राप्ति

पूर्व वर्णित निदानों के सेवन से कुपित वायु अपने स्थान पक्वाशय से ऊपर की ओर जाकर हृदय, शिर (मस्तिष्क) व शंख प्रदेश को पीड़ित करती हुई शरीर को मोड़कर आक्षेप उत्पन्न करती है। रोगी के नेत्र बन्द हो जाते हैं। कबूतर के शब्द के समान गले में अस्पष्ट एवं अव्यक्त शब्द उत्पन्न होता है। ज्ञान नष्ट हो जाता है, मोह उत्पन्न होता है। इस प्रकार अपतन्त्रक रोग की सम्प्राप्ति निर्मित होकर योषापस्मार रोग उत्पन्न होता है[1]। इस रोग में वायु दोष के साथ कफ दोष का संसर्ग रहता है। अतः यह वायु की प्रधानता से होने वाला मानसिक विकार है।

1. i) "क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुः स्थानादूर्ध्वं प्रपद्यते। पीडयन् हृदयं गत्वा शिरःशङ्खौ च पीडयन्॥ धनुर्वन्नमयेद्गात्राण्याक्षिपेन्मोहयेत्तथा। कृच्छ्रेण चाप्युच्छ्वसिति स्तब्धाक्षोऽधोन्मीलकः॥ कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः।" (च.सि. 9/12-14)
ii) "वायुरुर्ध्व..... । .....सोऽपतन्त्रकः॥"
(सु.नि. 01/64-66)

सामान्य लक्षण

यह रोग प्राय: 12 से 50 वर्ष की स्त्रियों में अधिक पाया जाता है। पुरुषों में यह रोग बहुत कम देखा गया है। इसके लक्षणों को निम्न दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं[1]—

I. शारीरिक लक्षण
II. मानसिक लक्षण

I. शारीरिक लक्षण

i. श्वास कृच्छ्रता (Dyspnoea)
ii. शिर:शूल (Headache)
iii. अरुचि (Anorexia)
iv. मलावरोध (Constipation)
v. मूकता (Aphonia)
vi. अचानक चिल्लाना एवं हँसना (Laughing & Crying episodes)
vii. निद्रागमन (Sleep walking)
viii. उदर प्रदेश में मिथ्या गुल्म प्रतीति (Feeling of ball like round-structure in Abdomen)
ix. ज्ञान शून्यता (Sensory disturbances)
x. उदर शूल (Abdominal pain)
xi. पक्षाघात (Paralysis)

II. मानसिक लक्षण

i. स्मृतिनाश (Amnesia)
ii. भावनात्मक अस्थिरता (Emotional-instability)
iii. प्रलाप (Delirium)
iv. मूर्च्छा (Syncope)
v. मोह (Confusion)
vi. बुद्धिभ्रंश (Regressed idea, emotions & goals)
vii. उद्वेग (Anxiety neurosis)

सापेक्ष निदान

योषापस्मार (अपतन्त्रक) एवं अपस्मार रोग में विभेदक निदान किया जाता है। अपतन्त्रक में केवल मूर्च्छा होती है, जिह्वा कटती नहीं है, मुख से झाग नहीं आते हैं।

1. "चिह्नान्यकेकानि..... । ..... एव लोके॥"
(मा.नि. परिशिष्टम् योषापस्मारनिदानम्)

अपस्मार के दौरे एकान्त में आ सकते हैं। योषापस्मार के दौरे एकान्त में नहीं आते हैं, बार-बार होते हैं व नेत्र, गर्दन आदि टेढ़ी नहीं होती है। अत: अपस्मार व योषापस्मार में निम्न विभेदक लक्षणों के आधार पर भेद किया जा सकता है—

	योषापस्मार (Hysteria)		अपस्मार (Epilepsy)
1.	इसका दौरा बड़े तीव्र वेग से नहीं होता है जिससे रोगी अपने को संभाल लेता है।	1.	दौरा बड़े तीव्र वेग से होता है और रोगी अपने को संभाल नहीं पाता है।
2.	इसका दौरा निद्रा के दौरान नहीं आता है।	2.	इसका दौरा निद्रा के समय भी आ सकता है।
3.	दौरा एकान्त में न आकर समूह या भीड़भाड़ में आता है।	3.	दौरा (वेग) एकान्त या समूह की अपेक्षा नहीं करता है।
4.	दौरे के दौरान नेत्र व गर्दन वक्र नहीं होते है।	4.	दौरे के दौरान नेत्र व गर्दन वक्र हो जाती है।
5.	दौरे के दौरान जिह्वा नहीं कटती है।	5.	कभी-कभी दाँतो से जिह्वा कट जाती है।
6.	अनैच्छिक मल-मूत्र त्याग कभी नहीं होता है।	6.	अनैच्छिक मल-मूत्र त्याग होने लगता है।
7.	बेहोशी शीघ्र ही दूर होकर होश आ जाता है।	7.	मूर्च्छा या बेहोशी के पश्चात् निद्रा आती है।
8.	गर्भाशय से सम्बन्ध रहता है।	8.	गर्भाशय से सम्बन्ध नहीं रहता है।

चिकित्सा सूत्र

i. निदान परिवर्जनम्
ii. सत्वाजय चिकित्सा-आश्वासन-सान्त्वना चिकित्सा
iii. दैवव्यपाश्रय चिकित्सा
iv. युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा[1]
   (अ) तीक्ष्ण प्रधमन नस्य (शिरो विरेचन)
   (ब) क्वाथ चिकित्सा
   (स) सिद्ध घृत प्रयोग
   (द) कोष्ठ शुद्धि (मल विरेचन)
   (इ) वात-कफ शामक अन्य चिकित्सा

1. "श्वसनं कफवाताभ्यां रुद्धं तस्य विशोधयेत्। तीक्ष्णैः प्रधमनैः संज्ञां लभते मुक्तासु विन्दति॥"
(च.चि. 9/16)

अपतन्त्रक रोगी को लंघन, वमन, आस्थापन व अनुवासन बस्ति नहीं देना चाहिये[1]।

v. अग्निदीपन चिकित्सा
vi. सात्विक आहार-विहार
vii. शिरोधारा, शिरोबस्ति कर्म चिकित्सा
viii. गर्भाशय विकार की चिकित्सा
ix. मानसिक एवं शारीरिक विश्राम
x. वेग कालीन आत्ययिक चिकित्सा

चिकित्सा

योषापस्मार/अपतन्त्रक के रोगी में निम्न संशोधन व संशमन चिकित्सा सावधानी पूर्वक दी जानी चाहिये—

I. शोधन चिकित्सा

(i) **शिरोविरेचन**—मरिच, शिग्रू बीज, विडंग, फणिज्झक के समभाग चूर्ण को प्रधमन नस्य के रूप में देने से मूर्च्छा दूर होती है।

(ii) **कोष्ठशुद्धि (मल विरेचन)**—त्रिफला चूर्ण या तरुणी कुसुमाकर चूर्ण आदि के देने से कोष्ठशुद्धि होती है।

II. शमन चिकित्सा

योषापस्मार/अपतन्त्रक के रोगी में निम्न शमन चिकित्सा युक्तिपूर्वक प्रयोग करने से आशानुकूल लाभ प्राप्त होता है—

1. **रस/भस्म/लौह**

	मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
	अनुपान	: मधु, क्षीर
(i)	भूत भैरव रस वृहद् (भै.र.)	: स्वर्ण, मुक्ता आदि
(ii)	स्मृतिसागर रस	: कज्जली, हरताल, ताम्र, ब्राम्ही आदि
(iii)	वात कुलान्तक रस	: कस्तूरी, मन:शिला, कज्जली आदि
(iv)	बृहत् वातचिन्तामणि रस	: स्वर्ण, रजत, अभ्रक आदि
(v)	कृष्ण चतुर्मख रस	: कज्जली, अभ्रक, स्वर्ण आदि
(vi)	प्रदरान्तक लौह	: लौह, ताम्र, वङ्ग आदि
(vii)	त्रिवंङ्ग भस्म	: नाग, वंङ्ग, यशद आदि
(viii)	शिलाजत्वादि लौह	: शुद्ध शिलाजतु, मुलैठी चूर्ण, त्रिकटु आदि
(ix)	प्रवाल पिष्टी	: गुलाब जल भावित प्रवाल भस्म

1. "अपतन्त्रकातुरं नापतर्पयेत् वमनानुवासनास्थापनानि न निषेवेत्।" (सु.चि. 5/21)

2. **वटी/गुग्गुलु**

	मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
	अनुपान	: मधु
(i)	अपतन्त्रकारि वटी	: जटामांसी, खुरासानी अजवाइन आदि
(ii)	अमर सुन्दरी वटी	: कज्जली, लौह, वत्सनाभ आदि
(iii)	ब्राह्मी वटी	: रस सिन्दूर, ब्राह्मी, अभ्रक आदि
(iv)	हिस्टीरियानाशक वटी	: गांजा, कर्पूर, वचा आदि
(v)	महायोगराज गुग्गुलु	: नाग, वंङ्ग, रजत, हिंगु आदि

3. **चूर्ण**

	मात्रा	: 2-6 ग्राम
	अनुपान	: यवमण्ड
(i)	अपतन्त्रक हर चूर्ण	: हरड़, हिंगु, सैंधव आदि

4. **क्वाथ**

	मात्रा	: 20-40 मि.ली.
	अनुपान	: जल
(i)	मांस्यादि क्वाथ	: जटामांसी, अश्वगन्धा आदि
(ii)	दशमूल क्वाथ	: बिल्व, श्योनाक, गोक्षुर आदि

5. **आसव/अरिष्ट**

	मात्रा	: 20-40 मि.ली.
	अनुपान	: समभाग जल से भोजनोत्तर
(i)	दशमूलारिष्ट	: दशमूल, चित्रक, पुष्कर मूल आदि
(ii)	सारस्वतारिष्ट	: ब्राह्मी, शतावरी, स्वर्ण आदि
(iii)	मृगमदासव	: मृतसंजीवनी सुरा, मरिच आदि
(iv)	अश्वगन्धारिष्ट	: अश्वगन्धा, मुसली, वचा आदि

6. **घृत**

	मात्रा	: 10-20 मि.ली.
	अनुपान	: दुग्ध, उष्ण जल
(i)	कल्याणक घृत	: इन्द्रायण, त्रिफला, देवदारु आदि
(ii)	महाचैतस घृत	: शणबीज, निशोथ, एरण्ड मूल आदि
(iii)	अपतन्त्रकनाशक घृत	: हरड़, पिप्पली, सौवर्चल आदि

7. **रसायन प्रयोग**

मात्रा	:	10-20 ग्राम
अनुपान	:	दुग्ध
(i) ब्राह्य रसायन	:	पंचपंचमूल, हरीतकी, स्वर्ण आदि
(ii) मेध्य रसायन	:	अमृता, शंखपुष्पी आदि

8. **सात्विक**—आहार-विहार
9. **सत्वाजय**—आश्वासनादि चिकित्सा
10. **दैव व्यपाश्रय**—चिकित्सा

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जनम्
2. **वेगकालीन चिकित्सा**— (i) तीक्ष्ण, प्रधमन नस्य
   (ii) सर्वाङ्ग अभ्यंग/स्वेदन
   (iii) शीत जल सिंचन
   (iv) कोष्ठ शुद्धि

3 **वेग गमन के पश्चात् : शमन चिकित्सा**

(i) प्रातः सायम्

वातकुलान्तक रस	: 125 मि.ग्रा.
प्रवाल पिष्टी	: 250 मि.ग्रा.
वचा चूर्ण	: 500 मि.ग्रा.
मधु से	1×2 मात्रा

(ii) भोजनोत्तर

सारस्वतारिष्ट	: 20 मि.ली.
अश्वगन्धारिष्ट	: 20 मि.ली.
समभाग जल से	1×2 मात्रा
(iii) ब्राह्मी वटी (सादा)	: 2 वटी × तीन मात्रा
(iv) ब्राह्य रसायन	: 20 ग्राम
दूध से	1×2 मात्रा

(v) रात्रि

पंचसकार चूर्ण	: 2 ग्राम
कोष्ण जल से	एक मात्रा

(vi) सात्विक आहार-विहार
(vi) सत्वाजय-आश्वासन आदि चिकित्सा
(vi) दैवव्यपाश्रय चिकित्सा

पथ्यापथ्य

योषापस्मार के रोगी में युक्ति पूर्वक निम्न पथ्यापथ्य का प्रयोग कराना हितकर है-

पथ्य

आहार	विहार
गेहूँ, शाली चावल, मूंग, मोंठ, मुनक्का, अनार, नारियल, पेठा, पटोल (परवल) शिग्रू (सहजन) आदि।	चंक्रमण, रमणीय स्थान गमन, मनोविनोदकर भाव, सहानुभूतिपूर्ण माहौल, मधुर वचन आदि।

अपथ्य

आहार	विहार
गुरु-अम्ल-तीक्ष्ण पदार्थ, उष्ण पदार्थ, अभिष्यन्दी पदार्थ, विदाही, विबन्ध-कारक पदार्थ आदि।	कामुक चल चित्र-साहित्य, वेग धारण आदि।

Latest Developments
Hysteria

Hysteria is a mental disorder, usually temporary presenting with somatic symptoms, simultating almost any type of physical disease symptoms include emotional instability, various sensory disturbances, and a marked craving for sympathy which some times leads to fraud.

The causes of this disorders are variable, but may be related to emotional and physical stress.

Management : Principles

(1) The patient should be put in a quiet place devoid of spectators.
(ii) Cold applications over the head, face and neck are helpful.
(iii) Quiet, firm suggestions are important.
(iv) Sedatives are to be used, only under the direction of a qualified physician.

अध्याय-46

स्मरोन्माद (कामोन्माद)
(SEXUAL INSANITY)

व्याधि परिचय

जब दोष उन्मार्गगामी होकर मनोविभ्रम को उत्पन्न करते हैं तब इस कामजन्य उन्माद को कामोन्माद कहा जाता है। सत्व गुण की कमी व रज-तम दोष की अधिकता से मानस व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। जब किसी इच्छित स्त्री से संभोग की तीव्र लालसा का विघात हो जाता है तो इस स्थिति को कामातुर व्यक्ति सहन नहीं कर पाता है जिसके परिणामस्वरूप वह भय, लज्जा, शील व सदाचार को छोड़कर पागलपन का शिकार हो जाता है जिसे स्मरोन्माद कहते हैं।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. माधव निदान परिशिष्टम् अथ स्मरोन्मादनिदानम्।

निदान[1]—स्मरोन्माद (कामोन्माद) के प्रमुख कारण निम्नानुसार हैं—

(i) पुरुषों को प्रेयसी स्त्री की अप्राप्ति
(ii) स्त्रियों को प्रेमी की अप्राप्ति
(iii) शुक्रदोष
(iv) रजो दोष
(v) मूत्रेन्द्रिय दोष-जननेन्द्रिय दोष
(vi) वायु प्रकोप

लक्षण[2]—स्मरोन्माद रोग से पीड़ित स्त्री व पुरुष में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—

i. स्तब्धता
ii. प्रलाप
iii. कम्पन
iv. श्वासकृच्छ्रता
v. शरीर का पाण्डु वर्ण होना

1. "यश्चोन्मादः प्रायशः पुरुषस्याप्राप्तेः प्रेयस्याश्च रेतोविकारात्।
किंवोपस्थस्येन्द्रियस्यापि दोषाद् वैगुण्याद्धा मारुतस्यात्र वैरस्यात्॥
अनेन प्रकारेण नार्या यदि स्यादवाप्तेरभावात् प्रियस्यापि पुसः।
अथोन्माद एभिर्निमित्तैः पुरोक्तैः स एवोदितोऽत्रस्मरोन्मादरोगः॥"
(मा.नि.परिशिष्टम् स्मरोन्माद निदानम/1-2)

2. "स्मरोन्मादरोगे भवेत्स्तब्धताऽथ प्रलापस्तथा कम्पनं श्वास एव।
तनौ पाण्ड्,ा रोदनं चाप्यधैर्य परं चिन्तनं प्रेयसो वा प्रियायाः॥"
(मा.नि.परिशिष्टम् स्मरोन्मादनिदानम/3)

vi. रोदन
vii. अधीरता
viii. प्रेयसी/प्रियतम चिन्तन
ix. कामातुर
x. चंचल मन
xi. अश्लील चेष्टायें
xii. अनिद्रा
xiii. नेत्र रक्त वर्ण

स्मरोन्माद की दश दशाएं[1]

माधवनिदान नामक ग्रन्थ में स्मरोन्माद की निम्न दश अवस्थाओं का वर्णन किया गया है—

प्रथम—नेत्रों द्वारा प्रेम होना।
द्वितीय—प्रेमी/प्रेमिका की ओर चित्त की आसक्ति।
तृतीय—प्रेमी/प्रेमिका के बारे में संकल्प-विकल्प आना।
चतुर्थ—निद्रानाश
पंचम—कृशता (धातुक्षय)
षष्टम्—प्रत्येक इन्द्रिय की अपने-अपने विषयों के भोग करने से निवृत्ति।
सप्तम्—लज्जानाश
अष्टम—उन्माद
नवम—मूर्च्छा
दशम—मृत्यु

इन दशाओं से वे ही लोग आक्रान्त होते है जो हीन सत्व तथा दुर्बल चित्त वाले होते हैं।

चिकित्सा सूत्र

i. निदान परिवर्जनम्
ii. जिस कारण से स्मरोन्माद रोग उत्पन्न हुआ हो उसके प्रति मन में द्वेष उत्पन्न करा देना अथवा
iii. प्रेमी का प्रेमिका का साहचर्य करा देना
vi. शुक्र व रजो दोष की चिकित्सा
v. वातशामक चिकित्सा

1. "आदौ चक्षुः प्रीतिरुक्ता ततः स्याच्चिन्ताऽऽसक्तिश्चाथ संकल्प एव।
निद्राच्छेदः काश्यताऽथो निवृत्तिर्भोगात्सर्वस्मात्सदैवेन्द्रियाणाम्॥
लज्जानाशोन्माद मूर्च्छाश्च मृत्युर्हृताः संख्यातादशास्तु स्मरस्य।
आक्राम्यन्ते चाभिरत्यल्पसत्वा लोका अस्मिन् दुर्बलात्मान एव॥"
(मा.नि.परिशिष्टम् स्मरोन्मादनिदानम्/4-5)

चिकित्सा

I. **औषध योग**

(i) प्रातः सायंम्

बृहद् वङ्गेश्वर रस	: 125 मि.ग्रा.
अथवा	
प्रवाल भस्म	: 250 मि.ग्रा.
स्वर्णवङ्ग भस्म	: 125 मि.ग्रा.
अश्वगंधा चूर्ण	: 1 ग्राम
मधु से	1×2 मात्रा

(ii) शिलाजत्वादि वटी : 2 वटी × तीन मात्रा

(iii) मदनान्द मोदक : 2 ग्राम
दुग्ध से 1×2 मात्र

II. **आश्वासन चिकित्सा**

III. **सत्वाजय चिकित्सा**

IV. **पथ्यापथ्य चिकित्सा**

पथ्य—लघु-सुपाच्य व वातानुलोमक सात्विक आहार

अपथ्य—भर्त्सना, मनोऽभिघात, तीक्ष्ण, अम्ल, लवण, कटु द्रव्य तामसिक, मांसाहारी आहार।

अध्याय-47

बलात्कार
(RAPE)

परिचय

बल पूर्वक जबरदस्ती किसी का अत्कार करना ही बलात्कार कहलाता है। भारतीय दण्ड संहिता के अनुसार निम्न अवस्थाओं में मैथुन 'बलात्कार' माना गया है–

i. पुरुष की स्वपत्नि जिसकी उम्र 15 वर्ष से कम हो।
ii. किसी भी लड़की से यदि उसकी उम्र 16 वर्ष से कम है।
iii. 16 वर्ष से अधिक की स्त्री से उसकी इच्छा के विरुद्ध मैथुन
iv. वेश्या की सहमति के विना मैथुन करना

RAPE

Hetrosexual or Homosexual intercourse against the will of the victim. Rape trauma syndrome develops from rape or attempted rape of a male or female. Symptoms are

I. **Acute Phase**—Fear, shame, humiliation, self blame, anger, desire to revenge etc.
II. **Long term (Chronic) Phase**—Nightmares, chronic suspicion, anxiety neurosis, aversion to men/women, avoidance of sex, depression, phobias etc.

Management

(i) The medical care of the rape victim must include appropriate antibiotic prophylactic treatment for sexually transmitted diseases (STD).
(ii) Prophylaxis against Hepatitis B within 24 hours of exposure.
(iii) HIV testing at monthy intervals for atleast 6 months should be stressed.
(iv) Medication to prevent pregnancy may be given e.g. Pill 72. Emargency goli.
(v) Psychological, supportive treatment may be given.
(vi) Positive self-perception and self esteem are promped and supported.

अध्याय-48

अप्राकृतिक मैथुन
(UNNATURAL SEX)

परिचय

यौन सम्बन्धी अपराध अन्तर्गत अप्राकृतिक मैथुन में निम्न मैथुन का समावेश किया जाता है—

(i) **गुद मैथुन (Sodomy)**

जब एक पुरुष किसी दूसरे पुरुष, स्त्री अथवा बच्चे के साथ गुदा प्रदेश में लिङ्ग प्रवेश करता है तो इसे गुद मैथुन कहा जाता हैं। इसमें प्रवेश करने वाला (सक्रिय) तथा प्रवेश कराने वाला (निष्क्रिय) दोनों ही अपराधी हैं। यह मैथुन पश्चिमी देशों में अधिक प्रचलित है।

(ii) **हस्त मैथुन (Masturbation)**

यह अप्राकृतिक मैथुन न्यायालय द्वारा दण्डनीय नहीं है। हस्तमैथुन का आशय यौन उत्तेजना प्राप्त करने के लिये कर्त्ता का खुद अपने हस्त की सहायता लेना है। यह आदत बाल्यावस्था में गलत संगति में लग जाती है। कौमारावस्था में गलत-कामुक साहित्य व चलचित्र (टीवी, सिनेमा, इन्टरनेट आदि) दर्शन इसके कारण हैं। हस्त मैथुन से ग्रस्त व्यक्ति में निम्न लक्षण पाए जाते हैं—

i. मानसिक व्यथा (Mental Disturbances)
ii. पागलपन (Insanity)
iii. अपस्मार (Epilepsy)
vi. मूर्च्छा (Syncope)
v. अल्प बुद्धि (Low I.Q.)
vi. स्मृति नाश (Weak Memory)
vii. असन्तोष (Unsatisfaction)
viii. अवसाद (Depression)
ix. शर्म-ग्लानि (Shame)

x. एकान्त प्रियता (Loneliness)
xi. झेंपुपन (Phobias)
xii. चिड़चिड़ापन (Irritability)
xiii. बार-बार मूत्र प्रवृत्ति (Increased frequency of micturition)
xiv. नेत्रों का अन्दर धँसना व चारों ओर कालिमा होना आदि (Sunken eyes and dark circles around eyes) etc.

(iii) **स्त्री समलैङ्गिकता (Lesbianism)**

यह भी एक प्रकार का अप्राकृतिक मैथुन जन्य यौनमनोगत विकार है। इसमें दो स्त्रियाँ कामेच्छा की संतुष्टि के लिये शारीरिक आलिङ्गन के द्वारा अपनी जननेन्द्रिय परस्पर रगड़ती हैं।

Lesbianism

Sexual desire of women for one of their own sex. It was named for the Island of Lesbos, where the practice of lesbianism was reputed to have been wide spread in ancient days.

(iv) **पुरुष समलैङ्गिकता (Homosexuality)**

जब एक पुरुष किसी दूसरे पुरुष के जननाङ्गों पर अपने जननाङ्गों का घर्षण कर कामेच्छा पूर्ति करता है तो इसे 'समलैङ्गिकता' कहते है। इसे 'यौन विपरीतता' भी कहा जाता है। पाश्चात्य देशों में दो पुरुषों के बीच विवाह करना सामान्य सा हो गया है। कम उम्र के व्यक्तियों व उच्चवर्गीय बुद्धि जीवियों जैसे-चिकित्सक, वैज्ञानिक, साहित्यकार, कलाकार, नाटककार, संगीत-प्रेमियों में यह विकृति अधिक पाई जाती है।

Homosexuality

A condition in which the libido is directed toward one of the same sex.

(v) **पशु मैथुन (Bestiality)**

मनुष्य द्वारा जानवरों (यथा-बकरी, घोड़ी, कुत्ती, गाय, गधी आदि) की योनि में मैथुन करना 'पशुमैथुन' कहलाता है। यदि स्त्री द्वारा पशु मैथुन किया जाता है तो वह प्रायः कुत्ते, बन्दर का प्रयोग करती है।

Bestiality

The use of animals for the purpose of sexual enjoyment.

(vi) **मुख मैथुन (Oral Sex)**

पुरुष या स्त्री द्वारा अपने मुख से बिपरीत लिङ्ग के व्यक्तियों के जननाङ्गों को रगड़ना ही मुख मैथुन है। यह भी एक प्रकार का यौनमनोगत विकार है।

'अन्य यौनमनोगत विकार'

उपर्युक्त यौनमनोगत विकारों के अतिरिक्त अन्य यौन मनोगत विकार निम्नानुसार है—

i. Gender Identity Disorder
ii. Trans Sexualism
iii. Paraphilia

i. Gender Identity Disorder

A disorder marked by a strong cross-gender identification and a persistent discomfort with the biologically assigned sex. Generally, adults with the disorder are preoccupied with the wish to live as a member of the other sex; This often impairs the social occupational or other type of functioning.

ii. Trans Sexualism

The condition of being of a certain definite sex (i.e. male or female) but feeling and acting as if a member of the opposite sex. Such inviduals to seek medical and surgical assistance to alter their anatomical characteristics so that their anatomy would more nearly match their feelings about their true sexuality.

iii. Paraphilia

A Psychosexual disorder in which unusual or bizarre imaginary (काल्पनिक) or acts are necessary for realization of sexual excitement. Included in this disorder are—

a) Bestiality
b) Fetishism
c) Transvestism
d) Zoophilia
e) Pedophilia
f) Exhibitionism
g) Voyeurism
h) Sexual Masochism
i) Sexual Sadism

a) **Bestiality**—The use of animals for the purpose of sexual enjoyment.

b) **Fetishism**—Erotic stimulation or sexually arousing fantasies involving contact with nonliving objects such as article of dress or a braid of hair.

c) **Transvestism**—The desire to dress in the clothes of and be accepted as a member of the opposite sex.

d) **Zoophilia**—The preference for obtaining sexual gratification by having intercourse or other sexual activity with animals.

e) **Pedophilia**—An unnatural desire for sexual relationship with children.

f) **Exhibitionism**—A psychoneurosis manifesting itself in an abnormal impulse that causes one to expose the genitals to a person of either sex but usually of the opposite sex.

g) **Voyeurism**—The experiencing of sexual gratification by observing nude persons or the sexual activity of others.

h) **Sexual Masochism**—Sexual excitement produced in an individual by being humiliated or hurt by another.

i) **Sexual Sadism**—Conscious or unconscious sexual pleasure desired from inflicting mental or physical pain on others.

अप्राकृतिक मैथुन एवं अन्य यौन मनोगतविकारों की सामान्य चिकित्सा सूत्र

1. रोगी को सम्बन्धित विषय की सम्पूर्ण जानकारी देना (Education/ Councelling of the Patient)
2. आश्वासन चिकित्सा (Assurance Therapy)
3. सत्वाजय चिकित्सा
4. भावनात्मक परिवर्तन
5. नियमित व्यायाम
6. योगाभ्यास
7. प्राणायाम
8. सात्विक आहार-विहार आदि

सप्तम खण्ड

मूत्रवह स्त्रोतस् की व्याधियां

परिचय

अन्न व शरीर के द्रव किट्ट भाग (मूत्र) को शरीर से बाहर निकालने वाल स्त्रोतस् को मूत्रवह स्त्रोतस् कहा जाता है। आहार का सार भाग रस बन जाता है और सार रहित भाग द्रव रूपीय मल होता है, उस द्रवरूपीय मल का जलीय भाग सिराओं के द्वारा बस्ति में पहुंचाया जाता है अर्थात् बस्ति में द्रवरूपीय मल भाग की 'मूत्र' संज्ञा होती है[1]।

व्यान वायु के द्वारा रस धातु का बड़ा अंश निरन्तर वृक्कों में पहुंचता रहता है तथा मूत्र का निर्माण होता रहता है[2] जिसे अपान वायु द्वारा समय समय पर निकाला जाता है[3]। अत: मूत्रवह स्त्रोतस् से मुख्यत: मुख्य रूप से वृक्कों की मूत्र निर्माण इकाईयों (Nephrons) का ग्रहण किया जाना उचित होगा।

मूत्रवह स्त्रोतस् के मूल[4]

आचार्य चरक ने मूत्रवह स्त्रोतस् का मूल बस्ति और वंक्षण कहा है-तथा आचार्य सुश्रुत ने मूत्रवह स्त्रोतस् के मूल बस्ति एवं मेढ्र प्रदेश को कहा है[5]।

बस्ति का अर्थ वहां वृक्क (Kidneys), गवीनियां (Ureters), मूत्राशय (Urinary bladder) लिया जाना उचित प्रतीत होता है। मेढ्र से तात्पर्य मूत्रेन्द्रिय (Penis) से लिया जाता है।

मूत्रवह स्त्रोतो दुष्टि के हेतु[6]

मूत्रवह स्त्रोतस के दुष्टि हेतु निम्न प्रकार हैं-

1. मूत्र के वेग रोककर अतिमात्रा में जल पीने से।
2. वेग उपस्थित होने पर भोजन करना।
3. अतिमैथुन करने से एवं मूत्र वेग उपस्थित होने पर मैथुन करने से।

1. "आहारस्य रस: सार: सारहीनो मल द्रव:। सिराभिस्तज्जलं नीतं बस्तौ मूत्रत्वमाप्नुयात्॥" (शा.स. पूर्वखण्ड 6/6)
2. "व्योनन रसधातुर्हि विक्षेपोचित कर्मणा।" (च.चि. 15/36)
3. "अपानस्थानमन्त्रस्थ: शुक्रमूत्रशकृन्ति च॥" (च.चि. 28/10)
4. "मूत्रवहानां स्त्रोतसां बस्तिर्मूलं वंक्षणौ च।" (च.वि. 5/8)
5. "मूत्रवहे द्वे तयोर्मूलं बस्तिं मेढ्रं च।" (सु.शा. 9)
6. "मूत्रितोदक भक्ष्य स्त्रीसेवनान्मूत्रनिग्रहात्। मूत्रवाहिनी दूष्यन्ति क्षीणस्याभिक्षतस्य च॥" (च.वि. 5/20)

4. शरीर के क्षीण होने पर।
5. मूत्रावाही स्त्रोतस् पर आघात लगने या क्षत होने से।

मूत्रवह स्त्रोतो दुष्टि के लक्षण[1]-मूत्रवह स्त्रोतस् के दुष्ट होने होने पर निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं-

1. कठिनता से थाड़े-थोड़े मूत्र का बार-बार त्याग।
2. मूत्र त्याग के समय वेदना (Painful micturition)
3. शिश्न, गुदा, वंक्षण, बस्ति एवं नाभि प्रदेश में शूल (Pain in penis, anus & lower abdomen)

आचार्य सुश्रुत ने भी उपरोक्त लक्षणों का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त बस्ति एवं मूत्राशय फूला रहना भी बताया है[2]।

मूत्रवह स्त्रोतो दुष्टि जन्य व्याधियां-मूत्रवह स्त्रोतो दुष्टि जन्य व्याधियां निम्न हैं-

1. मूत्र कृच्छ्र
2. मूत्राघात
3. मूत्राश्मरी या अश्मरी

इन व्याधियों का वर्णन आगे सविस्तार किया जा रहा है।

1. "प्रदुष्टनां तु खल्वेषामिदं विशेषज्ञानं भवति। तद्यथा अतिसृष्टमतिबद्धं प्रकुपितमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा बहलं सशूलं मूत्रयन्तं दृष्ट्वा मूत्रवहन्यस्य स्त्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्।" (च.वि. 5/7)
2. "मूत्रस्य वेगेऽभिहते नरस्तु कृच्छ्रेण मूत्रं कुरुतेऽल्पमल्पम्।
मेढ्रे गुदेवक्षंणबस्तिमुष्कनाभि प्रदेशेष्वथवाऽपि मूर्ध्नि॥
आनद्धवस्तिश्च भवन्ति तीव्रा: शूलाश्च शूलैरिव भिन्नमूर्ते॥" (सु.उ. 55/9-10)

अध्याय-49

मूत्रकृच्छ्र
(DYSURIA)

व्याधि परिचय

"मूत्रस्य कृच्छ्रेण महता दुखेन प्रवृत्तिः।" (मधुकोश) अर्थात् जिस रोग में मूत्र की अत्यन्त कष्ट के साथ प्रवृत्ति होती है उसे मूत्रकृच्छ्र कहते हैं। यह लक्षण अनेक रोगों में मिलता है। आचार्य चरक ने त्रिमर्मीय चिकित्सा अध्याय में मूत्रकृच्छ्र एवं मूत्राघात का वर्णन किया है। मूत्रकृच्छ में कृच्छता के साथ मूत्र विबन्धता (Obstruction) भी होती है तथा मूत्राघात में केवल मूत्रविबन्धता होती है। आचार्य वागभट्ट ने मूत्रकृच्छ्र व मूत्राघात का वर्णन एक साथ ही किया है।

निरुक्ति/व्युत्पत्ति

1. "यत्र रोगे कृच्छ्रेण मूत्रयते, तत् मूत्रकृच्छ्रम्।" अर्थात् मूत्र का अत्यंत पीड़ा के साथ प्रवृत्त होना मूत्रकृच्छ्र है।
2. "मूत्रे कृच्छ्रमत्र, इति मूत्रकृच्छम्।" (अमर रामाश्रमी 2/6/56)

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 26
2. सुश्रुत संहिता, उत्तर तंत्र-अध्याय 59
3. अष्टांग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 59
4. अष्टांग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 11
5. माधव निदान-अध्याय 30
6. भाव प्रकाश-अध्याय 35

निदान

मूत्रकृच्छ्र के सामान्य निदान निम्न प्रकार हैं-

1. व्यायाम
2. तीक्ष्णौषध का सेवन
3. रूक्ष मद्य का सेवन
4. शीघ्र गति वाले घोड़े या यान की सवारी

5. आनूप मांस का अधिक सेवन
6. अध्यशन
7. अजीर्ण
8. अभिघात (Trauma)[1]

सम्प्राप्ति[2]

उपर्युक्त निदानों के सेवन से प्रकुपित दोष मूत्रमार्ग में स्थान संश्रय कर मूत्रप्रवृत्ति में बाधा उत्पन्न करते हैं। मूत्रवह स्रोतस् अर्थात् वस्ति एवं मूत्र पथ में दोषों के द्वारा विकृति उत्पन्न होने से मूत्र त्याग के समय कष्ट होता है।

सम्प्राप्ति चक्र

निदान सेवन
↓
वातादि दोष प्रकोप (वातप्रधान)
↓
मूत्रवह स्रोतस् में स्थान संश्रय
↓
मूत्रमार्ग में क्षोभ
↓
मूत्रकृच्छ्र

सम्प्राप्ति घटक

दोष - त्रिदोष (वात प्रधान)
दूष्य - मूत्र, जल
स्रोतस् - मूत्रवह स्रोतस
अधिष्ठान - बस्ति, मूत्रमार्ग
स्रोतोदुष्टि - संग
स्वभाव - आशुकारी
साध्यासाध्यता - साध्य

मूत्रकृच्छ के भेद

आचार्यों ने मूत्रकृच्छ के निम्न आठ प्रकार वर्णित किये हैं-

1. वातज मूत्रकृच्छ्र
2. पित्तज मूत्रकृच्छ्र
3. कफज मूत्रकृच्छ्र
4. सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र
5. अभिघातज मूत्रकृच्छ्र
6. शकृतज मूत्रकृच्छ्र

---

1. "व्यायामती क्षौषधरूक्षमद्य प्रसङ्गनित्यद्रुत प्रष्ठयानात्।
आनूपमत्स्याध्यशनादजीर्णात् स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणामिहाष्टौ॥" (च.चि. 26/32)
2. "पृथक् मलाः स्वैः कुपिता निदानैः सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य बस्तौ।
मूत्रमार्गं परिपीड्यन्ति यदा तदा मूत्रयतीह कृच्छ्रात्॥" (च.चि. 26/33)

7. अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र 8. शर्कराज मूत्रकृच्छ्र

आचार्य चरक ने शकृतज मूत्रकृच्छ्र के बदले में शुक्रज मूत्रकृच्छ्र का उल्लेख किया है तथा शकृतज मूत्रकृच्छ्र को वातज मूत्रकृच्छ्र में समाविष्ट किया है। आचार्य सुश्रुत ने अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र में शुक्रज मूत्रकृच्छ्र का समावेश किया है। आचार्य माधवकर ने शर्कराज मूत्रकृच्छ्र का अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र में समावेश किया है।

सामान्य लक्षण[1]

मूत्रकृच्छ्र का सामान्य लक्षण अत्यन्त कष्ट के साथ रुक-रुक कर बार-बार मूत्र की प्रवृत्ति होना है।

मूत्रकृच्छ्र के भेदानुसार विशिष्ट लक्षण

मूत्रकृच्छ्र के विभिन्न भेदों के विशिष्ट लक्षण निम्नानुसार हैं-

1. वातिक मूत्रकृच्छ के लक्षण[2]

1. वंक्षण, वस्ति एवं मेढ्र में तीव्र वेदना। (Acute pain in lower abdomen and penis)
2. बार-बार अल्पमात्रा में मूत्र त्याग। (Increased frequency & decreased quantity of urine)
3. रोगी वृषण, वस्ति एवं शिश्न को दबाता है।

2. पैत्तिक मूत्रकृच्छ के लक्षण[3]

1. मूत्रेन्द्रिय एवं वस्ति में दाह (Burning in bladder & penis)
2. बार-बार पीत, हरित, रक्त वर्ण का मूत्र अल्पमात्रा में त्याग।
3. रुजा के साथ मूत्र प्रवृति (Painful micturition)
4. दाह युक्त अति ऊष्ण मूत्र प्रवृत्ति (Burning micturition)

3. कफज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण[4]

1. वस्ति, अण्डकोष एवं मूत्रेन्द्रिय में भारीपन (Heaviness in bladder, testis & penis)
2. वस्ति, अण्डकोष एवं मूत्रेन्द्रिय में शोथ (Swelling over bladder, testis & penis)
3. पिच्छिल-स्निग्ध, शुक्लवर्ण का शीत मूत्र त्याग (Oily, sticky, white

1. "मूत्रस्य कृच्छ्रेण महता दुःखेन प्रवृत्ति।" (मधुकोश)
2. "तीव्रार्तिरुग्वंक्षणबस्ति मेढ्रे स्वल्पं मुर्हुमूत्रयतीह वातात्।" (च.चि. 26/34)
3. "पीतं सरक्तं सरुजं सदाहं कृच्छ्रं मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात्।" (च.चि. 26/34)
4. "वस्ते सलिङ्गस्य गुरुत्वशोथो मूत्रं सपिच्छं कफमूत्रकृच्छे।"

coloured & cold Urine)
4. रोमहर्ष (Horripilation)
5. सकष्ट मूत्र त्याग (Painful micturition)

4. सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण[1]

तीनों दोषों के मिश्रित लक्षण मिलते हैं-

1. सर्वांग दाह (Burning in body)
2. शीत प्रतीति (Rigors)
3. वेदना (Pain in lower abdomen)
4. तमःप्रवेश (Darkness in front of eyes)
5. बार-बार विविध वर्ण का मूत्र त्याग (Multi coloured urine & increased frequency)
6. कष्ट पूर्वक मूत्र प्रवृत्ति (Painful micturition)

5. अभिघातज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण[2]

मूत्रवाही स्रोतों में आभ्यन्तर शल्य से अथवा बाह्य आघात लगने से क्षत होने पर भयंकर मूत्रकृच्छ्र होता है। इसके लक्षण वातिक मूत्रकृच्छ के समान होते हैं जो निम्न प्रकार हैं-

1. वस्ति में तीव्र वेदना (Acute pain in bladder)
2. वस्ति का फूलना (Distention of bladder)
3. वस्ति प्रदेश में भारीपन (Heaviness in bladder)

6. शकृतज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण[3]

मल के वेग को रोकने से वायु विलोम होकर शकृतज मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न करती है। इसके निम्न लक्षण हैं-

1. आध्मान (Flatulence)
2. उदर शूल (Pain in abdomen)
3. मूत्रावरोध (Obstruction of urine)

7. अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण[4]

जिस मूत्रकृच्छ का कारण अश्मरी होती है उसे अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र कहते हैं। अश्मरी जब मूत्रमार्ग में गति करती है तब बहुत वेदना होती है। इसके निम्न लक्षण वर्णित हैं-

1. "सर्वाणि रुपाणि तु सान्निपाताद् भवन्ति तत्कृच्छ्रतमं हि कृच्छ्रम्॥" (च.चि. 26/35)
2. "मूत्रवाहिषु शल्येन क्षतेष्वभिहतेषु वा। मूत्रकृच्छ्रं तदाघाताज्जायते भृशदारुणम्॥ वातकृच्छ्रेण तुल्यानि तस्य लिङ्गानि निर्दिशेत्॥" (मा.नि. 30/5)
3. "शकृतस्तु प्रतीघाताद्वायु विगुणितां गतः। आध्मानं वातशूलं च मूत्रसङ्गं करोति च॥" (मा.नि. 30/6)
4. "अश्मरी हेतु तत्पूर्व मूत्रकृच्छ्रमुदाहरेत्।"

1. हृद् शूल (Chest pain)
2. कुक्षि एवं बस्ति प्रदेश में शूल (Pain in Lumbar region & Hypogastric region)
3. हस्तपाद कम्प (Tremors in Hands and Feet)
4. मंदाग्नि (Indigestion)

8. शुक्रज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण(Stagnation of semen)

अपने स्थान से च्युत हुआ शुक्र जब दोषों के प्रकोप से अवरूद्ध होकर मूत्रमार्ग में रुक जाता है तब निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं-

1. शुक्र सहित मूत्र त्याग (Semen mixed urine)
2. कष्टदायक मूत्र त्याग (Painful micturition)
3. बस्ति एवं मेढ्र में पीड़ा (Pain in bladder & penis)
4. वृषण में स्तब्धता (Stiffness in testis)
5. वृषण शोथ (Oedema over testis)

चिकित्सा के सिद्धान्त

मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा के प्रमुख सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं-

1. वातज मूत्रकृच्छ्र में वातनाशक तैलों का अभ्यंग स्नेह एवं निरूह वस्ति, उपनाह, उत्तरवस्ति, कटि प्रदेश पर वात नाशक तैलों या क्वाथ का परिषेक करना चाहिये[1]।
2. पित्तज मूत्रकृच्छ्र में शीतल द्रव्यों के क्वाथ से परिषेक, अवगाह, प्रदेह एवं ग्रीष्म ऋतुचर्या का पालन करना चाहिये। साथ ही वस्ति, क्षीरपान एवं विरेचन का प्रयोग कराना चाहिये[2]।
3. कफज मूत्रकृच्छ्र में क्षार, ऊष्ण, तीक्ष्ण एवं कटु रस वाले अन्नपान का सेवन, स्वेदन का प्रयोग, जौ के बने भक्ष्य पदार्थ का सेवन, निरूह वस्ति, तक्र प्रयोग एवं तिक्त द्रव्यों से सिद्ध तैल का अभ्यंग एवं पान हितकर है[3]।
4. त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र में वात के स्थान का विचार करते हुए चिकित्सा करना चाहिये। यदि कफाधिक्य हो तो वमन, पित्ताधिक्य हो तो विरेचन एवं वाताधिक्य हो तो वस्ति का प्रयोग करना चाहिये[4]।

1. "अभ्यङ्गनस्नेहनिरूहबस्तिस्नेहोपानाहोत्तरवस्तिसेकान्।
स्थिरादिभिर्वातहरैश्च सिद्धान् दद्याद्रसांश्चानिल मूत्रकृच्छ्रे॥" (च.चि. 26/45)
2. "सेकावगाहाः शिशिराः प्रदेहा ग्रेष्मो विधिर्बस्ति पयोविरेकाः।
द्राक्षाविदारीक्षुरसैर्घृतैश्च कृच्छ्रेषु पित्तप्रभवेषु कार्याः॥" (च.चि. 26/49)
3. "क्षारोष्णतीक्ष्णौषधमन्नपानं स्वेदो यवान्नंवमनं निरुहाः।
तक्रं सतिक्तौषधसिद्ध तैलमभ्यङ्गपानं कफमूत्रकृच्छ्रे॥" (च.चि. 26/54)
4. "सर्वत्रिदोषप्रभवे तु वायोः स्थानानुपूर्व्या प्रसमीक्ष्य कार्यम्।
त्रिभ्योऽधिके प्राग्वमनं कफे स्यात् पित्ते विरेकः पवने तु वस्तिः॥" (च.चि. 26/58)

5. अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र में अश्मरी भेदन व पातन करने के लिए चिकित्सा करने के साथ कफ एवं वायु से होने वाले मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा करना चाहिये[1]।
6. शुक्रजन्य मूत्रकृच्छ्र में दोष प्राधान्य के अनुसार चिकित्सा करना चाहिये[2]।
7. अभिघातजन्य या क्षतज मूत्रकृच्छ्र में मधुर वर्ग के द्रव्यों से सिद्ध क्वाथ में मधु एवं मिश्री मिलाकर पीने देंवें साथ ही इक्षु रस का सेवन कराना हितकर है[3]।

चिकित्सा

मुत्रकृच्छ्र की चिकित्सा में प्रयुक्त संशोधन एवं संशमन चिकित्सा निम्नानुसार है-

1. संशोधन चिकित्सा

(i) स्नेहपान
(ii) स्वेदन (अवगाह, परिषेक स्वेद)
(iii) वमन
(iv) विरेचन
(v) वस्ति एवं उत्तरवस्ति

2. संशमन चिकित्सा

मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा में प्रयुक्त संशमन योगों का वर्णन निम्न अनुसार है-

1. रस/भस्म/पिष्टी-मात्रा - 125 - 250 मि.ग्रा.

अनुपान - जल/शहद

(i) चन्द्रकला रस-रक्तपित्तोक्त।
(ii) श्वेत पर्पटी-नौसादर, कलमीसोरा, फिटकरी।
(iii) मूत्रकृच्छ्रान्तक रस-पारद, गंधक, नौसादर, स्वर्णभस्म, वैक्रान्त भस्म।
(iv) तारकेश्वर रस-पारद, गंधक, लौह, वंग, अभ्रक, यवक्षार।
(v) यवक्षार- यवक्षार।

2. वटी-मात्रा - 250 - 500 मि.ग्रा.

अनुपान - जल

(i) चन्द्रप्रभा वटी-त्रिफला, त्रिमद, षडूषण, शिलाजीत, लौहभस्म, गुग्गुलु, द्विक्षार, त्रिलवण।
(ii) वृक्कशूलान्तक वटी-कलमी सोरा, हिंगु, अकरकरा, पिपरमेण्ट।
(iii) गोक्षुरादि गुग्गुल-गोक्षुर, यवक्षार, गुग्गुल, पुनर्नवा।
(iv) हिग्वादि वटी-हींग, अजमोद, काला नमक।

1. "क्रिया हिता साऽश्मरी शर्कराभ्यां कृच्छे यथेवह कफानिलाभ्यां।" (च.चि. 26/59)
2. "रेतोऽभिघातप्रभवे तु कृच्छ्रे समीक्ष्य दोषं प्रतिकर्म कुर्यात्।" (च.चि. 26/68)
3. "पिबेत् सिताक्षौद्रयुतानि खादेदिक्षुं विदारी त्रपुपाणि चैव।" (च.चि. 26/73)

3. चूर्ण-मात्रा - 3 - 6 ग्राम

अनुपान - कोष्ण जल

(i) एलादि चूर्ण- एला, पाषाणभेद, पिप्पली, शिलाजीत।

(ii) यवक्षार चूर्ण- यवक्षार+शहद।

(iii) यवक्षार कण्टकारी चूर्ण-यवक्षार, शर्करा का कण्टकारी स्वरस से पान।

(iv) एर्वारुबीज योग-ककड़ी के बीज, मुलैठी चूर्ण, दारुहरिद्रा।

(v) व्योषादि चूर्ण-त्रिकटु।

(vi) हिंगुद्विरुत्तरादि चूर्ण-आनाहोक्त।

4. क्वाथ/आसव-अरिष्ट-मात्रा - 20 - 30 मि.ली.

अनुपान - जल

(i) गोक्षुरादि क्वाथ-गोक्षुर।

(ii) पुनर्नवादि क्वाथ-पुनर्नवा, गुडुची, गोक्षुर, एरण्ड।

(iii) धात्र्यादि क्वाथ-धात्री, पाषाणभेद।

(iv) अमृतादि क्वाथ-लोध्र, शुण्ठी, आंवला, असगंध।

(v) शतावर्य्यादि क्वाथ-शतावर, कुश, काश, गोक्षुर।

(vi) पंचतृणमूलादि क्वाथ-कुश, काश, शर, दर्भ, काण्डेक्षु।

(vii) त्रिकण्टकादि क्वाथ-गोक्षुर, अमलतास, दर्भ, कास, जवासा, पाषाणभेद।

(viii) पाषाणभेदादि क्वाथ- पाषाणभेद, मुलैठी, अडूसा, गोक्षुर।

(ix) दुरालभादि क्वाथ-जवासा, पाषाणभेद, हरड़, कण्टकारी, मुलैठी, धनिया।

(x) पुनर्नवासव-पुनर्नवा, गोक्षुर, एरण्ड।

(xi) चन्दनासव-रक्तपित्तोक्त।

(xii) मधुकासव-महुआ, त्रिकटु, एरण्ड।

5. घृत-मात्रा - 10 - 30 मि.ली.

अनुपान - ऊष्ण जल, दुग्ध

(i) श्वदंष्ट्रा घृत-गोक्षुर, घृत।

(ii) शतावरादि घृत-शतावर, कुश, काश, गोक्षुर, घृत।

(iii) सुकुमार कुमार घृत-पुनर्नवा, शतावरी, दशमूल।

(iv) त्रिकण्टकाद्य घृत-गोखरु, एरण्ड, तृणपंचमूल घृत।

आदर्श व्यवस्था पत्र

1. पर्याप्त मात्रा में जल सेवन कराएं।
2. प्रातः सांयम्
   मूत्रकृच्छ्रान्तक रस- 250 मि.ग्रा.
   श्वेत पर्पटी - 500 मि.ग्रा.
   यवक्षार - 2 ग्राम
   मधु से 1 × 2 मात्रा
3. भोजनोत्तर
   गोक्षुरादिगुग्गुलु - 2 वटी × तीन मात्रा
   पुनर्नवारिष्ट - 20 मि.लि.
   जल से 1 × 2 समभाग
4. दशमूल तैल से उत्तर बस्ति- 15 दिन
   मात्रा - 20 - 40 मि.लि./वस्ति

पैत्तिक एवं रक्तज मूत्रकृच्छ

1. प्रातः सांयम्
   चन्द्रकला रस- 250 मि.ग्रा.
   श्वेत पर्पटी - 500 मि.ग्रा.
   एर्वारुबीज चूर्ण - 2 ग्राम
   मधु से 1 × 2 मात्रा
2. भोजनोत्तर
   चन्द्रप्रभा वटी- 2 वटी × तीन मात्रा
   चन्दनासव - 20 मि.लि.
   जल से 1 × 2 मात्रा
3. रात्रि में
   अविपत्तिकर चूर्ण - 3 ग्राम
   गर्म जल से एक मात्रा
4. इक्षु रस का सेवन कराना चाहिये।
5. इक्षु रस से उत्तर बस्ति देना चाहिये।

शकृतज मूत्रकृच्छ

1. प्रातः सांयम्
   मूत्रकृच्छान्तक रस-250 मि.ग्रा.
   यवक्षार- 500 मि.ग्रा.
   जल से 1 × 2 मात्रा

2. भोजनोत्तर
   हिंगुद्विरुत्तर चूर्ण - 3 ग्राम
   कोष्ण जल से 1 × 2 मात्रा
3. रात्रि में
   एरण्ड स्नेह - 20 मि.लि.
   ऊष्ण जल से एक मात्रा

शुक्रज मूत्रकृच्छ्र

1. प्रात: सांयम्
   श्वेत पर्पटी- 500 मि.ग्रा.
   शु. शिलाजीत- 500 मि.ग्रा.
   एलादि चूर्ण- 3 ग्राम
   मधु से 1 × 2 मात्रा
2. भोजनोत्तर
   शतावर्यादि क्वाथ - 20 मि.लि.
   सम जल से 1 × 2 मात्रा
3. रात्रि में
   चन्द्रप्रभा वटी - 2 वटी
   जल से एक मात्रा
4. स्त्री संभोग।

पथ्य एवं अपथ्य

पथ्य

आहार	विहार
पुराणशालि, जांगल मांस रस, मुद्ग, शक्कर, मिश्री, मठ्ठा, गोदुग्ध, पेठा, परवल, ककड़ी, खरबूजा, तरबूज, खजूर, नारियल, चौलाई, आंवला, पुनर्नवा, घी, कपूर आदि।	स्वेदन, विरेचन, वस्ति, उत्तर वस्ति, अति अम्बुपान, लिगेंद्रिय पर कूर्पर पूरण आदि ।

अपथ्य

आहार	विहार
ऊष्ण, तीक्ष्ण, विदाही, मिर्चमसालेदार पदार्थ, विषम भोजन, ताम्बूल, मछली, नमक, अदरक, तिल, उड़द, खटाई, एवं बिष्टम्भ कारक पदार्थ आदि।	मद्यपान, परिश्रम, मैथुनत्याग, हाथी-घोड़े की सवारी, ऊँट की सवारी, अति धूप सेवन आदि।

Latest Developments
Dysuria

आधुनिक मतानुसार मूत्रकृच्छ्र से Dysuria का ग्रहण किया जा सकता है। इसे एक स्वतन्त्र व्याधि के रुप में न मानकर व्याधि के लक्षण के रुप में माना गया है। मुख्यत: Dysuria, Upper & Lower Urinary tract infection में मिलता है- जिसमें Painful micturition & burning micturition मुख्य लक्षण होते हैं। Acute sterile Urinary colic, subacute Urinary colic, Urinary calculosis, & Stagnation of semen में भी Dysuria main symptom होता है।

Causes

1. Acute & chronic UTI.
2. Stones, atonic bladder, Indwelling catheters.
3. Any congenital abnormality.

Management : Principles

1. To treat the main cause of Dysuria.
2. Increase intake of water.
3. Appropiate antibiotics.
4. Simple bland normal diet with Vitamin supplements.

अध्याय-50

मूत्राघात
(RETENTION OF URINE)

व्याधि परिचय

सामान्यतः मूत्राघात 13 प्रकार के मूत्र-अप्रवृत्तिज रोगों के समूह का नाम है। इनमें मूत्र विबन्धत्व प्रधान लक्षण है। आचार्य चरक एवं सुश्रुत ने केवल मूत्रसाद तथा मूत्रावरोध सम्बन्धी रोगों को 'मूत्राघात' में सम्मिलित किया है, परन्तु आचार्य वागभट्ट ने मूत्र कृच्छ्र एवं मूत्राघात को एक साथ ही वर्णित किया है।

जिस रोग में मूत्र त्याग करने में रुकावट तथा अवरोध उत्पन्न होता हो उसे मूत्राघात कहते हैं। इसमें मूत्रत्याग करने में कष्ट नहीं होता, किन्तु मूत्राघात में मूत्र का विबन्ध अधिक होता है। मूत्र कृच्छ्र में मूत्रत्याग में कष्ट अधिक होता है एवं कष्ट के साथ रुक-रुक कर मूत्र त्याग होता है, विबन्ध अल्प या नहीं होता है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता, सिद्धि स्थान-अध्याय 9
2. सुश्रुत संहिता, उत्तर स्थान-अध्याय 58
3. अष्टाङ्ग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 9
4. अष्टाङ्ग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 11
5. माधव निदान-अध्याय 31
6. भाव प्रकाश-अध्याय 36
7. योगरत्नाकर (मूत्राघात चिकित्सा)

निदान[1]

मूत्राघात के सामान्य निदान निम्न हैं-

1. मल-मूत्र व अपान वायु का वेग रोकना।
2. पुरीष एवं शुक्र के वेग को रोकना।
3. तीक्ष्ण औषध व अन्नपान सेवन।

1. "जायन्ते कुपितैर्दोषैर्मूत्राघातस्त्रयोदशः। प्रायो मूत्र विघाताद्यैर्वात कुण्डलिकादयः॥"
(मा.नि. 31/1)

4. रूक्ष पदार्थों का सेवन।
5. वात प्रकोपक आहार-विहार का सेवन।

सम्प्राप्ति[1]

उपरोक्त निदानों के सेवन से कुपित हुए त्रिदोष मुख्यतया वात दोष, बस्ति प्रदेश में जाकर तेरह प्रकार के मूत्राघातों को उत्पन्न करते हैं।

सम्प्राप्ति चक्र

निदान सेवन
↓
त्रिदोष (मुख्यतः वात) प्रकोप
↓
वस्तिप्रदेश में विकृति
↓
13 प्रकार के मूत्राघात

सम्प्राप्ति घटक

दोष—त्रिदोष, वात प्रधान
दूष्य—मूत्र
स्रोतस्—मूत्रवह स्रोतस्
अधिष्ठान—बस्ति
स्रोतोदुष्टि प्रकार—संग
स्वभाव—चिरकारी
साध्यासाध्यता—साध्य

भेद

आचार्य चरक ने 13 प्रकार के मूत्राघात, आचार्य सुश्रुत ने 12 प्रकार के मूत्राघात तथा आचार्य वाग्भट्ट ने 20 प्रकार के मूत्राघात वर्णित किए हैं जो निम्न प्रकार हैं—

1. मूत्रसाद (Oligouria)
2. मूत्र जठर (Distended Bladder)
3. वात कुण्डलिका (Spasmodic Stricture)
4. अष्ठीला (Enlarged Prostate)
5. वात वस्ति (Retention of Urine)
6. मूत्रातीत (Incontinence of Urine)

1. "मूत्रोकसादो जठरः कृच्छ्रमुत्सङ्गसंक्षयौ। मूत्रातीतोऽनिलाष्ठीला वात वस्त्युष्णमारुतौ॥ वातकुण्डलिका ग्रन्थिर्विड्विघातो बस्तिकुण्डलम्॥ त्रयोदशैते मूत्रस्य दोषास्तान्निबोधतः शृणु॥"
(च.सि. 9/25-26)

7. मूत्रोत्सङ्ग (Stricture of Urethra)
8. मूत्रक्षय (Anuria)
9. मूत्रग्रंथि (Stone obstructing the neck of Bladder)
10. मूत्र शुक्र (Stagnation of Semen)
11. उष्णवात (Urinary Infection)
12. विड्विघात (Retention of Urine due to constipation)
13. वस्ति कुण्डल (Atonic Condition of Bladder)

आचार्य सुश्रुत एवं वाग्भट्ट ने बस्तिकुण्डल मानक मूत्राघात नहीं माना है।

मूत्र कृच्छ्र-मूत्राघात की संख्या गणना निम्न प्रकार है—

(i) **चरक**—8 मूत्र कृच्छ्र+13 मूत्राघात+4 अश्मरी=25

(ii) **सुश्रुत**—8 मूत्रकृच्छ्र+12 मूत्राघात+4 अश्मरी=24

(iii) **वाग्भट्ट**—20 मूत्राघात (4 मूत्रकृच्छ्र+4 अश्मरी+12 मूत्राघात)=20

सामान्य लक्षण

मूत्राघात का सामान्य लक्षण मूत्र का विवन्ध (रुकना) है अर्थात् मूत्र का अवरोध होना परन्तु इसमें मूत्रकृच्छ्र भी थोड़ा बहुत अवश्य होता है।

मूत्राघात के भेदानुसार विशिष्ट लक्षण—

तेरह प्रकार के मूत्राघातों का वर्णन निम्न है-

(1) मूत्रसाद का लक्षण[1]—

वस्ति प्रदेश में वायु द्वारा पित्त या कफ अथवा पित्त-कफ दोनों का संघात होता है तब रक्त या पीले वर्ण का गाढ़ा मूत्र निकलता है इसे मूत्रोकसाद या मूत्रसाद कहते है। इसके लक्षण निम्न हैं-

1. श्वेत वर्ण का गाढ़ा मूत्र (White & Thick Urine)
2. गोरोचन तथा शंखभस्म के वर्ण का मूत्र (Whitish Urine)
3. अल्पमात्रा में दाहयुक्त मूत्रत्याग (Burning micturition)
4. मूत्र में जल की अल्प मात्रा (Oliguria)

(2) मूत्रजठर के लक्षण[2]

मूत्र का वेग रोकने से, मूत्रवेग निरोधज उदावर्त के कारण अपान वायु प्रकुपित होकर उदर को फुला देती है जिससे निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं-

1. नाभि के नीचे पेट का फूलना (Distension below Umblicus)
2. आध्मान (Tympanitis)
3. तीव्र वेदना (Pain)
4. अपक्ति (Indigestion)

1. "सदाहं श्वेत सांद्र वा सवैर्वा लक्षणैर्युतम्। मूत्रोकसादं तं विद्यात् पित्तश्लेष्महरैर्जयेत्॥" (च.सि. 9/28)
2. "मूत्रस्य वेगाभिघ्ते तदुदावर्तहेतुकः। अपानः कुपितो वायुरुदरं पूरयेद् भृशम्॥ नाभेरधस्ताध्मानं जनयेतीव्रवेदनम्। तन्मूत्रजठरं विद्यादधोवस्तिनिरोधनम्॥" (सु.उ. 58)

5. मल-मूत्र अवरोध (Retension of urine & stool)

(3) मूत्रकृच्छ्र के लक्षण[1]

मूत्र का वेग आने पर जो व्यक्ति बिना मूत्र त्याग किए मैथुन में प्रवृत्त हो जाता है तब बढ़ी हुई वायु के द्वारा अपने स्थान से शुक्र मूत्र के पहले या बाद में निकलता है। इसके निम्न लक्षण होते हैं-

1. मूत्र त्याग के साथ शुक्र प्रवृत्ति (Micturition with Semen)
2. मूत्र का वर्ण भस्मोदक के समान होना (Grey coloured Urine)

(4) मूत्रोत्सङ्ग का लक्षण[2]

मूत्रवाही स्रोतों की विकृति या वायु से मूत्र के खींचें जाने के कारण कुछ मूत्र मूत्रेन्द्रिय के छिद्र में ही रुक जाता है। रुका हुआ मूत्र कुछ समय बाद बिना वेदना या अधिक वेदना के साथ निकलता है। इसके निम्न लक्षण हैं-

1. मूत्रेन्द्रिय में गुरुता (Heaviness in Penis)
2. मूत्र की धारा टूट कर आना (Obstructed Urinary Flow)
3. वेदना या बिन वेदना के थोड़े से मूत्र की प्रवृत्ति (Painful or Painless Micturition)

(5) मूत्र क्षय का लक्षण[3]

वायु के द्वारा जब मूत्र का शोषण हो जाता है तो इसे मूत्र क्षय कहा जाता है इसके निम्न लक्षण हैं—

1. वस्ति में तोद (Pain in Bladder)
2. अल्पमूत्रता (Oliguria)
3. सदाह एवं सवेदना मूत्र प्रवृत्ति (Painful burning Micturition)

(6) मूत्रातीत का लक्षण[4]

आए हुये मूत्र के वेग को बलात् देर तक रोके रहने पर पुनः मूत्र त्याग करते समय मूत्र का वेग शीघ्रता से नहीं निकलता। जब मूत्र में प्रवाहरण किया जाता है तब मन्द-मन्द

1. "मूत्रितस्य व्यवायात्तं रेतो वायोर्द्धतं च्युतम्। पूर्वं मूत्रस्य पश्चाद्वा स्रवेत् कृच्छ्रं तदुच्यते॥" (च.सि. 9/32)
2. "खवैगुण्यानिलाक्षेपैः किञ्चिमूत्रं च तिष्ठति। मणिसंधौ स्रवेत. पश्चात्तदरुग्वाऽथ चातिरुक्॥ मूत्रोत्संङ्ग स विच्छिन्नमुच्छेष गुरुशेफसः।" (च.सि. 9/33)
3. "मूत्रक्षये मूत्रकृच्छ्रे मूत्रवैवर्ण्यमेव च। पिपासा बाधते चास्य मुखं च परिशुष्यति॥" (च.सू. 17)
4. "चिरं धारयतो मूत्रं त्वरया न प्रवर्तते। मेहमानस्य मंदं वा मूत्रातीतः स उच्यते॥" (च.सि. 9/35)

धारा से मूत्र निकलता है। इसे मूत्रातीत कहते हैं। इसका निम्न लक्षण है-

1. प्रवाहण के साथ मूत्र त्याग करने पर मन्द वेग से मूत्र प्रवृत्ति होती है। (Slow passage of Urine after forceful exertion)
2. वस्ति प्रदेश में वेदना होती है। (Pan in Bladder)

(7) वाताष्ठीला का लक्षण[1]

प्रकुपित वायु जब वस्ति एवं गुदा को रोककर आध्मान उत्पन्न करती हुई चल, उन्नत तीव्रवेदना युक्त अष्ठीला रोग को उत्पन्न करती है तो उस अवस्था को वाताष्ठीला कहते हैं।

1. मूत्र व मल मार्गों में रुकावट (Obstruction of Urine & feaces)
2. आध्मान (Tympanitis)
3. तीव्र वेदना (Acute Pain)

(8) वात वस्ति का लक्षण[2]

मूत्र के वेग को रोकने का अभ्यास जिन व्यक्तियों को होता है उनमें वस्ति प्रदेश में कुपित वायु वातवस्ति रोग को उत्पन्न करती है। इसके निम्न लक्षण हैं-

1. मूत्र में रुकावट (Obstruction of Urine)
2. वेदना (Pain)
3. कण्डू (Itching)

(9) ऊष्ण वात का लक्षण[3]

पित्त के साथ कुपित वायु पित्त की ऊष्मा से मूत्र का शोषण करती हुई कठिनता से रक्त या पीतवर्ण का मूत्र त्याग कराती है। इसे ऊष्णवात कहते हैं। इसके निम्न लक्षण हैं-

1. रक्त या पीतवर्ण का मूत्र त्याग (Reddish-Yellow Urine)
2. मूत्रेन्द्रिय व वस्ति में दाह (Burning in bladder & Penis)
3. मूत्रकृच्छ्र (Dysuria)

(10) वातकुण्डलिका का लक्षण[4]

मूत्र की गति में रुकावट होने से विगुण वायु की गति ऊपर हो जाने से विगुणित वायु मूत्रमार्ग व मूत्रस्थान में कुण्डली के समान होकर चलते हुए मूत्र की रुकावट कर देती है, उसे वातकुण्डलिका कहा है। इसके निम्न लक्षण है[5]-

1. "आध्मापयन बस्तिगुदं रुद्धवा वायुश्चलोत्रताम्। कुर्यात्तीव्रार्ति अष्ठीलां मूत्रविण्मार्गरोधिनाम्॥" (च.सि. 9/367)
2. "मूत्रं धारयतो वस्तौ वायुः क्रुद्धो विधारणात्। मूत्ररोधार्तिकण्डूभिर्वात बस्तिः स उच्यते॥" (च.सि. 9/37)
3. "ऊष्मणा सोष्मकं मूत्रं शोषयन् रक्तपीतकम्। ऊष्णवातः सजेत् कृच्छ्राद्वस्त्युपस्थार्तिदाहवान्॥" (च.सि. 9/38)
4. "गति सङ्क्षादुदावृत स मूत्रस्थानमार्गयोः। मूत्रस्य विगुणो वायुर्भग्नायाविद्व कुण्डली॥" (च.सि. 9/39)
5. "मत्रविहन्ति संस्तम्भभङ्ग गौरववेष्टनैः। तीव्ररुङ्मूत्रविट् सङ्गैः वात कुण्डलिकेति सा॥" (च.सि. 9/40)

1. वस्ति प्रदेश में जकड़ाहट (Stiffness in Bladder)
2. वस्ति प्रदेश में टूटने सी पीड़ा (Cracking Pain)
3. वस्ति प्रदेश में भारीपन (Heaviness in Bladder)
4. तीव्र वेदना (Acute Pain in lower Abdomen)
5. मल-मूत्र की रुकावट (Retention of Urine and Faeces)

(11) रक्त ग्रंथि का लक्षण[1]

वात तथा कफ से दूषित रक्त वस्ति द्वार में आकर दारुण ग्रंथि को उत्पन्न करता है। ग्रंथि के द्वारा मूत्र मार्ग के रुक जाने से कठिनता से मूत्र त्याग होता है। इस के लक्षण निम्न हैं-

1. कठिनता से मूत्र त्याग (Difficult Micturition)
2. अश्मरी सम वेदना (Stone like pain)

(12) विड् विघात का लक्षण[2]

रुक्ष एवं दुर्बल व्यक्तियों में विकृत वायु के कारण जब ऊपर गया हुआ मल मूत्रवाही स्रोत में चला जाता है तो उसे विड् विघात कहते हैं। इसके निम्न लक्षण हैं-

1. कठिनता से मूत्र प्रवृत्ति (Difficult Micturition)
2. मलगंधी मूत्र त्याग (Passage of Urine with faecal smell)
3. मल मिश्रित मूत्र त्याग (Passage of Urine mixed with stools)

(13) वस्ति कुण्डल का लक्षण[3]

अति शीघ्र रास्ता चलने, लंघन, परिश्रम, आघातादि से वस्ति अपने स्थान से हट जाती है एवं गर्भ समान प्रतीत होती है। वस्ति प्रदेश को हाथ से दबाने पर मूत्र धारा के रूप में निकलने लगता है इसे वस्ति कुण्डल कहा है। आचार्य चरक ने इसे बहुत ही कठिन रोग कहा है तथा शस्त्र एवं विष के समान कहा है। इसके लक्षण निम्न हैं-

1. वस्ति प्रदेश में स्तम्भ (Stiffness in Bladder)
2. ऐंठन एवं पीड़ा (Twisting Pain)
3. दाह युक्त शूल (Painful Burning Micturition)

1. "रक्तं वातकफात् दुष्टं वस्तिद्वारे सुदारुणम्। ग्रंथि कुर्यात् स कृच्छ्रेण सजेन्मूत्रं तदावृतम्॥ अश्मरीसमशूलं तं रक्तग्रन्थिं प्रचक्षते॥" (च.सि. 9/41)
2. "रुक्षदुर्बलयोर्वातनोदावृत्तं शकृद्यदा। मूत्र स्रोतः प्रपद्यत विट्संसृष्टं तदा नरः॥ विड्गन्धं मूत्रयेत् कृच्छ्राद्विड्विघातं विनिर्दिशेत्॥" (च.सि. 9/42)
3. "द्रुताध्वलंघनायासैरभिघातात्प्रपीडनात्। स्वस्थानाद्वास्तिरुद्वृत्तः स्थूलस्तिष्ठति गर्भवत्॥ शूलस्पन्दनदाहार्तो बिन्दुं बिन्दुं स्रवत्यपि। पीडितस्तु सृजेद्वारां संस्तम्भोद्वेष्टनार्तिमान्॥ वस्तिकुण्डलमाहुस्तं घोरं शस्त्रबिषोपमम्। पवनं प्रबलं प्रायो दुर्निवारमबुद्धिभिः॥" (च.सू. 9/44-46)

"तस्मिन्पित्तान्विते दाहः शूलं मूत्रविवर्णता। श्लेष्मणा गौरवं शोथः स्निग्धं मूत्रं घनं सितम्॥ स्यादस्तौ कुण्डलीभूते तृष्मोहः श्वास एव च॥" (च.सू. 9/47-48)

4. मूत्र वैवर्ण्य (Discolouration of Urine)
5. प्यासाधिक्य (Polydypsia)
6. मोह (Confusion)
7. श्वास (Dyspnoea)

वस्ति कुण्डल की साध्यासाध्यता

1) पित्त की प्रबलता होने तथा कफ के द्वारा मूत्रमार्ग में अवरोध होने पर यह रोग असाध्य होता है।
2) मूत्रमार्ग बंद न होने या कुण्डलीकृत न होने पर मूत्राघात साध्य होता है।

चिकित्सा सिद्धान्त

मूत्राघात की चिकित्सा के प्रमुख सिद्धान्त निम्न प्रकार वर्णित हैं—

1. मूत्रोकसाद की चिकित्सा कफ-पित्त नाशक औषधियों द्वारा करनी चाहिये[1]।
2. मूत्र जठर की चिकित्सा मूत्र विरेचनीय औषधियों से द्वारा करनी चाहिये[2]।
3. मूत्राघात की चिकित्सा मूत्रकृच्छ्र नाशक चिकित्सा के समान करनी चाहिये।
4. मूत्राघात में उत्तर वस्ति का प्रयोग हितकारी है।
5. मूत्राघात के रोगी को स्नेहन स्वेदन कराकर स्निग्ध विरेचन देना चाहिये।
6. रोग जनक कारणों का त्याग करना चाहिये।
7. वात शामक आस्थापन एवं अनुवासन वस्ति का प्रयोग करना चाहिये।
8. वातानुलोमन एवं उदावर्तहर चिकित्सा भी लाभकारी होती है।

चिकित्सा

मूत्राघात की संशोधन एवं संशमन चिकित्सा निम्नानुसार वर्णित है—

(1) संशोधन चिकित्सा

1. स्नेहन
2. स्वेदन
3. स्नेह विरेचन
4. उत्तर वस्ति
5. आस्थापन एवं अनुवासन वस्ति

(2) संशमन चिकित्सा

मूत्राघात की संशमन चिकित्सा में प्रयुक्त विभिन्न शास्त्रीय योगों का वर्णन निम्नानुसार है—

1. "मूत्रोकसादं तं विद्यात् पित्तश्लेष्महरैर्जयेत्।" (च.सि. 9/28)
2. "मूत्रविरेचनी तत्र चिकित्सा संप्रयोजयेत्॥" (च.सि. 9/30)

1. **रस/भस्म/पिष्टी**

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: शहद
(i) शिलाजीत	: शु.शिलाजीत शहद+शर्करा के साथ
(ii) चन्द्रकला रस	: मूत्रकृच्छ्रोक्त
(iii) श्वेत पर्पटी	: मूत्रकृच्छ्रोक्त
(iv) मूत्रकृच्छ्रान्तक रस	: मूत्रकृच्छ्रोक्त
(v) तारकेश्वर रस	: मूत्रकृच्छ्रोक्त

2. **वटी/चूर्ण/क्वाथ/आसव-अरिष्ट**—मूत्रकृच्छ्र में वर्णित समस्त वटी/चूर्ण क्वाथ/आसव-अरिष्ट मूत्राघात की चिकित्सा में भी प्रयुक्त किए जा सकते हैं।

3. **घृत/तैल**

मात्रा	: 10-30 मि.ली.
अनुपान	: ऊष्ण जल, दुग्ध

मूत्रकृच्छ चिकित्सा में प्रयुक्त समस्त घृत योगों को मूत्राघात की चिकित्सा में भी प्रयोग कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य घृत योग निम्न हैं—

(i) चित्रकाद्य घृतम्	: चित्रक, अनन्तमूल, बला, तगर, मुनक्का
(ii) विदारी घृतम्	: विदारीकंद, अडूसा, पाषाणभेद, पुनर्नवा, वचा
(iii) भद्रावह घृतम्	: पाठा, पाटला श्वेतपुनर्नवा, विदारीकन्द
(iv) उशीराद्य तैलम्	: उशीर, तगर, कुष्ठ, मुलैठी, चन्दन, विभीतक
(v) शिलोद्भिदादि तैल	: तिल तैल, पाषाणभेद, एरण्ड तैल, शालपर्णी

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. प्रातः सायंम्

मूत्रकृच्छ्रान्तक रस	: 250 मि.ग्रा.
श्वेत पर्पटी	: 500 मि.ग्रा.
पुनर्नवा मण्डूर	: 500 मि.ग्रा.
प्रवाल पि.ा	: 500 मि.ग्रा.
मधु से	1×2 मात्रा

2. भोजनोत्तर

तृणपंचमूल क्वाथ	: 20 मि.ली.
जल से	1×2 मात्रा

3. चन्दनादि वटी : 2 वटी × तीन मात्रा
4. रात्रि
   एरण्ड स्नेह : 20 मि.ली.
   कोष्ण दूध से 1 मात्रा
5. पंचकर्म
   उत्तर वस्ति : 10 दिन तक
6. जल का प्रयोग पानार्थ अधिकाधिक करें एवं वेग धारण न करें।

पथ्य एवं अपथ्य

पथ्य

आहार	विहार
पुराण शालि चावल, दुग्ध, तक्र, दही, उड़द, जांगल पशुपक्षियों के मांसरस, कूष्माण्ड फल, परवल का शाक, आद्रक, तिन्तीडीक, हरड़, नारियल सुपारी, खजूर आदि पथ्य हैं।	अभ्यंग, स्नेह पान, विरेचन, वस्तिकर्म, स्वेदन, उत्तरवस्ति आदि पथ्य हैं।

अपथ्य

आहार	विहार
विरुद्ध भोजन, गुरु, अभिष्यन्दि, रुक्ष भोजन, करीर फल, विदाही भोजन, अति मिर्च मसालेदार भोजन आदि का सेवन अपथ्य हैं।	अति व्यायाम, वेगधारण, मैथुन, अति मार्ग गमन, वमन आदि अपथ्य है।

Latest Developments
Retention of Urine

आधुनिक मतानुसार मूत्राघात का साम्य Retention of Urine से किया जा सकता है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं।

Management : Principles

1. To treat the main cause of retention.
2. Adequate fluid intake is must.
3. Diuretics.

अध्याय-51

अश्मरी
(URINARY LITHIASIS)

व्याधि परिचय

आयुर्वेदीय संहिता ग्रंथों में अश्मरी का स्पष्ट उल्लेख है। आचार्य चरक ने त्रिमर्मीय चिकित्सा अध्याय में अश्मरी का वर्णन किया है। जब मूत्रवह स्रोतस में पत्थर के टुकुड़े सम कोई वस्तु अटकती है तब मूत्रावरोध होने के साथ-साथ भंयकर पीड़ा होती है, इसे 'अश्मरी' रोग कहते हैं। अत्यंत कष्टप्रद एवं दुश्चिकित्स्य होने से अश्मरी को 'यम' संज्ञा दी गई है। सुश्रुत संहिता में अश्मरी का बहुत वैज्ञानिक वर्णन उपलब्ध है, साथ ही अश्मरी निर्हरण के उपाय भी वर्णित किए गए हैं।

निरुक्ति/व्युत्पत्ति

"अश्मानं राति इति अश्मरी।" (अमरकोश 2/6/56)

अर्थात् पत्थर जैसे स्वरूप की रचना को अश्मरी कहते हैं।

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 26
2. सुश्रुत, निदान स्थान-अध्याय 3
3. सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 7
4. अष्टाङ्ग हृदय, निदान-अध्याय 9
5. अष्टांङ्ग हृदय, चिकित्सा-अध्याय 11
6. माधव निदान-अध्याय 32
7. भाव प्रकाश-अध्याय 37

अश्मरी के निदान[1]— अश्मरी के निदान निम्न लिखित हैं-

1. शरीर का संशोधन नहीं करना।
2. कुपथ्य का सेवन करना।
3. शरीर में स्वतः कुछ ऐसी स्थितियां पैदा हो जाना जिससे अश्मरी का निर्माण होता है।
4. कफ वर्धक आहार-विहार सेवन।

1. "विशोषयेद्बिस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं सपित्तं पवनः कफं वा।
यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तोष्विव रोचनायोः॥
नैकदोषाश्रयाः सर्वाः॥" (च.चि. 26/36)

सम्प्राप्ति[1]

(1) आचार्य चरक के अनुसार, मूत्राशय में गए हुए शुक्र के साथ मूत्र को अथवा पित्त के साथ या कफ के साथ मूत्र को वायु सुखा देती है तब जिस प्रकार गौ के पित्त में गोरोचन बनता है उसी क्रम से वस्ति में अश्मरी बन जाती है।

(2) आचार्य सुश्रुत के अनुसार जब प्रकुपित श्लेष्मा मूत्राशय में प्रवेश करता है तब मूत्र से मिलकर अश्मरी की उत्पत्ति होती है[2]।

सम्प्राप्ति चक्र

निदान सेवन
↓
कफ प्रधान दोष विकृति
↓
मूत्रशुक्र
↓
वस्ति में स्थान संश्रय
↓
मूत्राश्मरी
↓
अश्मरी रोग
↓
पित्ताधिक्य
↓
अश्मरी का पाचन
↓
वाताधिक्य
↓
अश्मरी शोषण एवं टूटना
↓
शर्करा निर्माण
↓
मूत्रद्वारा शर्करा निष्कासन (Crystalluria)

1, 2. "तत्रासंशोधनशीलस्यापथ्यकारिणः प्रकुपितः श्लेष्मा मूत्रसम्प्रक्तोऽनुप्रविश्य वस्तिं अश्मरी जनयति॥" (सु.नि. 3/4)

सम्प्राप्ति घटक

दूष्य	मूत्र
स्रोतस्	मूत्रवह स्रोतस्
अधिष्ठान	वस्ति
स्रोतोदुष्टि	संग
स्वभाव	दारुण
साध्यासाध्यता	कृच्छ्रसाध्य

भेद[1]

आचार्यों ने अश्मरी के निम्न चार भेद बताये हैं—

1. वातज अश्मरी
2. पित्ताश्मरी
3. कफज अश्मरी
4. शुक्रज अश्मरी

पूर्वरुप[2]

अष्टाङ्ग हृदयकार ने अश्मिरी के निम्न पूर्व रूप वर्णित किये हैं-

1. वस्ति में आध्मान (Distention of Bladder)
2. वस्ति के चारों ओर पीड़ा (Pain in Lower Abdomen)
3. मूत्र में बकरे सी गंध (Passage of urine with Goats urine smell)
4. ज्वर (Fever)
5. अरुचि (Anorexia)
6. वस्ति, वृषण, शिश्न व शिर में शूल (Pain in Bladder, testis, penis with headache)

सामान्य लक्षण[3]

अश्मरी के सामान्य लक्षण निम्नानुसार हैं—

1. नाभि, वस्ति, सीवनी व शिश्न में शूल (Pain in Lower Abdomen & Penis)

1. "वात पित्त कफैस्तिस्रश्चतुर्थी शुक्रजाऽपरा। प्रायः श्लेष्माश्रयाः सर्वा अश्मर्यः स्युर्यमोपमा॥" (च.चि. 26/36)
2. "वस्त्याध्मानं तदासन्नदेशेषु परितोऽतिरूक्। मूत्रेषु वस्तगन्धत्वं मूत्रकृच्छ्रं ज्वरोऽरुचि॥" (अ.ह.नि. 9/8)
3. "सामान्यलिङ्गं रुङ् नाभि-सेवनीवस्तिमूर्धसु। विशीर्णधारं मूत्रं स्यातया मार्गे निरोधिते॥ तद्व्यपायात् सुखं मेदेदच्छं गोमेद कोपमम्। तत्सङ्क्षोभात् क्षते सास्रमायासाच्चातिरुग्भवेत्॥" (अ.ह.नि. 9/9-10)

2. मूत्र की धारा वक्र व रुक-रुककर होती है। (Fainted & rounded urine stream)
3. रक्त मूत्रता (Haematuria)
4. मूत्र में सिकता निकलता (Crystalluria)
5. गंदला मूत्र (Turbid urine)
6. मूत्रमार्ग से अश्मरी हटने पर आराम (Relief after Pass age of calculus)

अश्मरी के भेदानुसार लक्षण

अश्मरी के विभिन्न भेदों के विशिष्ट लक्षण निम्न प्रकार वर्णित हैं—

(1) वातिक अश्मरी के लक्षण (Uric Acid Stone)

1. कृष्ण या रक्ताभ वर्ण की कदम्बपुष्पवत् अश्मरी (Blackish, reddish stone like Kadamb)
2. असमान पृष्ठ (Irregular surface of stone)
3. मूत्राघात (Retention of Urine)
4. वस्ति प्रदेश में तीव्र वेदना जो शिश्न की ओर गति करती है। (Acute pain in bladder & radiating to penis)
5. बार-बार मूत्र त्याग (Increased frequency of Urine)
6. बच्चों में अधिक मिलती है (Children are more prone)
7. मूत्रेन्द्रिय को हाथ से मसलना (Pressing of Penis with Hands)

(2) पैत्तिक अश्मरी के लक्षण[1] (Calcium Oxalate Stone)

1. वस्ति में दाह (Burning in Bladder)
2. वस्ति प्रदेश व नाभि में शोथ (Inflammation in lower abdomen & Bladder)
3. पीताभ या रक्ताभ अश्मरी (Reddish stone)
4. लघु व भल्लातक की गुठली के समान अश्मरी (Small & marking nut like stone)

(3) कफज अश्मरी[2]

1. वस्ति प्रदेश में सुई चुभने सी पीड़ा (Pricking Pain in Urinary Tract)

1. "तत्र वाताद् भृशं चार्तो दन्तान् खादति वेपत। ग्रहणाति मेहनं नाभि पीडयत्यनिशं क्वणन॥ सानिलं मुञ्चति शकृन्मुहुर्मेहति बिन्दुशः। श्यावारुणाऽश्मरी चास्य स्याच्चिता कण्टकैरिव॥" (अ.ह.नि. 9/11-12)
2. "पित्तेन दह्यते वस्तिः पच्यमान इवोष्मवान्। भल्लातकास्थि संस्थाना रक्तपीताऽसिताश्मरी॥" (अ.ह.नि. 9/13)
3. "वस्तिर्निस्तुद्यत इव श्लेष्मणा शीतलो गुरुः। अश्मरी महती श्लक्षणा मधुसवर्णाऽथवा सिता॥" (अ.ह.नि. 9/14)

2. वांस्त प्रदेश में शैत्य एवं गौरव की अनुभूति (Feeling of cold & heaviness in Bladder)
3. बड़ी एवं चिकनी अश्मरी (Large & smooth stone)
4. श्वेत या भूरी रंग की अश्मरी (White or Brownish stone)
5. मधु के समान वर्ण की अश्मरी (Stone of the colour of honey)

(4) शुक्राश्मरी के लक्षण (Calcium Phosphate Stone)[1]

1. वस्ति में वेदना (Pain in Bladder)
2. मूत्रकृच्छ्र (Dysuria)
3. अण्डकोश में शोथ (Orchitis)
4. मूत्रावरोध (Retention of urine)
5. श्वेत एवं मृदु अश्मरी (White & soft stone)
6. प्रौढ़ व्यक्तियों में अधिक होता है (Aduls are more prone)

साध्यासाध्यता[2]

1. जिस रोगी के अण्डकोष एवं नाभि में शोथ हो गया हो,
2. जिसका मूत्र पूर्णतः रुक गया हो,
3. जिसको पीड़ा की अधिकता से बैचेनी हो,
4. अश्मरी के साथ सिकता व शर्करा का भी अनुबंध हो, वह अश्मरी असाध्य होती है।

उपद्रव[3]

वायु के प्रतिलोम होने पर जब अश्मरी या शर्करा मूत्रमार्ग में अटक जाती है तब निम्न उपद्रव उत्पन्न होते हैं—

1. दौर्बल्य (Weakness)
2. सदन (Heaviness in Body)
3. कार्श्य (Emaciation)
4. कुक्षिशूल (Pain in Abdomen)
5. अरुचि (Anorexia)

1. "शुक्राश्मरी तु महतां जायते शुक्रधारणात्। स्थानाच्च्युतं युक्तं हि मुष्कयोरन्तरेऽनिलः॥ शोषयत्युपसंग्रह्य शुक्रं तच्छुक्रमश्मरी। वस्तिरुङ्मूत्रकृच्छ्रत्वमुष्कश्वयथुकारिणी। तस्यामुत्पन्नमात्रायां शुक्रमेति विलीयते॥" (अ.ह.नि. 9/15-16)
2. "प्रशूनाभिवृषणं बद्धमूत्रं रुजातुरम्। अश्मरी अपयत्याशु सिकता शर्करान्विता॥" (सु.नि. 3/16)
3. "मूत्रस्रोतः प्रवृत्ता सा सक्ता कुर्यादुपद्रवान्। दौर्बल्यं संदनं कार्श्य कुक्षिशूलमथारुचिम्॥ पाण्डुत्वमुष्णवातं च तृष्णां हृत्पीडनं वमिम्॥" (सु.नि. 3/17)

6. पाण्डु (Anaemia)
7. ऊष्णवात (Gonorrhoea)
8. तृष्णा (Polydypsia)
9. वमन (Vomiting)

शर्करा का स्वरूप व लक्षण[1]

वायु के द्वारा शुष्क हो जाने से तथा पित्त के द्वारा परिपाक हो जाने से एवं संगठित करने वाले कफ द्वारा संगठित न करने से अश्मरी बालू के कण की तरह टुकड़े-टुकड़े हो जाती है, तब उसे शर्करा कहते हैं। यह मूत्र त्याग के समय बाहर निकलती है। इसके लक्षण निम्न प्रकार हैं—

1. हृद् पीड़ा एवं कम्पन (Pain in chest & palpitation)
2. कुक्षिशूल (Pain in abdomen)
3. मंदाग्नि (Poor appetite)
4. मूर्च्छा (Fainting)
5. भयंकर मूत्रकृच्छ्र (Severe dysuria)
6. शर्करा के बाहर निकलने पर वेदना शांत हो जाती है (Relief in pain after passage of Gravels)

चिकित्सा सिद्धान्त

अश्मरी की चिकित्सा के सिद्धान्त निम्न प्रकार वर्णित हैं—

(1) अश्मरी में कफ वात नाशक चिकित्सा के साथ अश्मरी भेदन एवं पातनार्थ भी चिकित्सा करना चाहिये[2]।
(2) अश्मरी जनक निदानों का परित्याग करना चाहिये।
(3) रोगी को अधिकाधिक तरल आहार तथा पेय जल देना चाहिये।
(4) नूतन अश्मरी औषध साध्य होती है। इसके लिये स्नेहपान, क्षार प्रयोग, कषाय प्रयोग, क्षीर प्रयोग व उत्तर वस्ति का प्रयोग करना चाहिये[3]।
(5) वाताश्मरी में वस्ति प्रयोग तथा पूर्वरूप में घृतपान कराना चाहिये।
(6) पित्ताश्मरी में विरेचन तथा कफज अश्मरी में वमन का प्रयोग कराना चाहिये।

1. "अणुशो वायुना भिन्ना सा तस्मिन्ननुलोमगे। निरेति सहमूत्रेण प्रतिलोम निरुध्यते॥ मूत्र स्रोतः प्रवृत्ता सा सक्ता कुर्याद्रुपद्रवान॥" (अ.हृ.नि. 9/19)
2. "क्रियाहिता साऽश्मरीशर्कराभ्यां कृच्छ्रेयथैवह कफानिलाभ्याम्। कार्याऽश्मरीभेदन पातनाय विशेषयुक्तंश्रुणुकर्म सिद्धम्॥" (च.चि. 26/59)
3. "औषधैस्तरुणः साध्यः प्रवृद्धश्छेदमर्हति। तस्य पूर्वेषु रुपेषु स्नेहादिक्रम इष्यते॥" (सु.चि. 7/2)

(7) रोगी को निगद मद्य का पान कराकर रथ या घोड़े की सवारी कराने से अश्मरी निकल जाती है[1]।
(8) यदि उपरोक्त क्रियाओं से लाभ न हो तब अश्मरी को शस्त्र कर्म द्वारा निकालना चाहिये[2]।
(9) पाषाण भेद आदि का प्रयोग अश्मरी भेदनार्थ करना चाहिये।

चिकित्सा

अश्मरी की संशोधन एवं संशमन चिकित्सा निम्नानुसार की जाती निर्दिष्ट है—

(1) संशोधन चिकित्सा

1. वमन
2. विरेचन
3. वस्ति (अनुवासन एवं आस्थापन)
4. उत्तर वस्ति
5. स्नेहपान
6. स्वेदन

(2) संशमन चिकित्सा

अश्मरी चिकित्सा में प्रयुक्त विभिन्न शास्त्रोक्त संशमन योगों का वर्णन निम्न प्रकार है—

1. **रस/भस्म/पिष्टी**
   - मात्रा : 125-250 मि.ग्रा.
   - अनुपान : शहद/जल
   - (i) पाषाण भिन्न रस : पारद, गंधक, शिलाजीत, पुनर्नवा, वासा
   - (ii) पाषाण वज्र रस : पारद, गंधक, पुनर्नवा
   - (iii) त्रिविक्रम रस : ताम्रभस्म, गंधक, निर्गुण्डी
   - (iv) वरुणाद्य लौह : वरुण छाल, आंवला, धातकी, हरड़, लौह भस्म, अभ्रक भस्म
   - (v) कुलत्थाद्य घृतम् : कुलत्थ, सेंधव, विडंग, यवक्षार, कूष्माण्ड
2. **वटी**
   - मात्रा : 250-500 मि.ग्रा.
   - अनुपान : कोष्ण जल
   - (i) शिवा गुटिका : शिलाजीत, हरड़, पाषाण भेद, पुनर्नवा

1. "घृतैः क्षारैः कषायैश्च क्षीरैः सोत्तर वस्तिभिः। पीत्वाऽश्मर्यं निगदं रथेन हयेन वा सोत्क्लेदेन याति॥" (च.चि. 26/68)
2. "अश्मरी आहरणार्थं शल्यकर्म विधि विस्तरतः।" (सु.चि. 7/40)

(ii) चन्द्रप्रभा वटी : मूत्रकृच्छ्रोक्त
(iii) गोक्षुरादि गुग्गुल : पूर्वोक्त
(iv) आरोग्यवर्धनी वटी : कामलोक्त

3. **चूर्ण**
मात्रा : 3-6 ग्राम
अनुपान : कोष्ण जल
(i) पाषाणभेदादि चूर्ण : पाषाणभेद, अडूसा, गोक्षुर, हरड़, त्रिकटु
(ii) गोक्षुरादि चूर्ण : गोक्षुरमूल, तालमखाना, एरण्डमूल, कंटकारी
(iii) त्रुट्यादि चूर्ण : एला, देवदारु, यवक्षार, पाषाणभेद, पंचलवण
(iv) शिग्रु चूर्ण : सहिजन, सैंधव लवण
(v) अश्मरी भेदन योग : गोखुरु, तालमखाना, एरण्ड, कण्टकारी, वृहती

4. **क्वाथ/आसव-अरिष्ट**
मात्रा : 20-30 मि.ली.
अनुपान : जल
(i) गोक्षुरादि क्वाथ : गोक्षुर, एरण्ड, सोंठ, वरुण
(ii) वरुणादि क्वाथ : वरुण, यवक्षार, शर्करा
(iii) शुण्ठयादि क्वाथ : शुण्ठी, अरणी, पाषाणभेद, शिग्रु
(iv) एलादि क्वाथ : एला, पिप्पली, मुलैठी, पाषाणभेद
(v) वीरतरादिगण क्वाथ : शर, नील, कुश, पाषाणभेद
(vi) पुनर्नवारिष्ट : पूर्वोक्त

5. **घृत**
मात्रा : 20-30 मि.ली.
अनुपान : ऊष्ण जल
(i) कुलत्थाद्य घृत : कुलत्थ, सेंधव, यवक्षार, विडंग
(ii) वरुणाद्य घृत : वरुण, शिलाजीत, ककड़ी बीज, पाषाण-भेद
(iii) कुशाद्य घृत : कुश, काश, शर, गुडुची, इक्षु, पाषाणभेद
(iv) वरुणाद्य तैल : वरुण, तिल तैल

6. **पाक/अवलेह**
मात्रा : 20 ग्राम
अनुपान : दूध
(i) गोक्षुराद्यवलेह : गोक्षुर, दशमूल, पाषाणभेद, गुडुची

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. प्रातः सायम्
पाषाण वज्र रस : 250 मि.ग्रा.
श्वेत पर्पटी : 500 मि.ग्रा.
यवक्षार : 500 मि.ग्रा.
कुलत्थाद्य चूर्ण : 2 ग्राम
मधु से 1×2 मात्रा

2. भोजनोत्तर
चन्द्रप्रभावटी : 2 वटी × तीन मात्रा
रोहितकारिष्ट : 20 मि.ली.
जल से 1×2 मात्रा

(i) **पैत्तिक अश्मरी**
रात्रि
अविपत्तिकर चूर्ण : 3 ग्राम
कोष्ण जल 1 मात्रा

(ii) **कफज अश्मरी**
गोक्षुरादि गुग्गुलु : 2 वटी × तीन मात्रा

(iii) **शुक्राश्मरी**
भोजनोत्तर
दशमूलारिष्ट : 20 मि.ली.
सम जल से 1×2 मात्रा

3. रात्रि
त्रिफला चूर्ण : 2 ग्राम
कोष्ण जल एक मात्रा

अश्मरी में पथ्य एवं अपथ्य

पथ्य

आहार	विहार
कुलत्थ, मुद्ग, गोधूम, पुराण शालि चावल, यव, कूष्माण्ड, आर्द्रक, चौलाई, जांगल मांस रस, यवक्षार, वरुण, पत्रशाक, पाषाण भेद, सहिजन फली, गोक्षुर, शालपर्णी आदि।	स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, वस्ति उत्तर वस्ति आदि।

अपथ्य

आहार	विहार
अति अम्ल, विष्टम्भी, गुरु, रुक्ष, विदाही अन्नपान सेवन, विरुद्ध आहार सेवन आदि।	त्रेगधारण, शुक्र वेग धारण, अव्यायाम आदि।

Latest Developments
Urinary Calculus

आधुनिक मतानुसार अश्मरी रोग का साम्य Urinary Stones से किया जाता है। अश्मरी के विभिन्न भेदों का आधुनिक मतानुसार निम्न व्यवहारिक साम्य है—

(i) वातिक अश्मरी Uric acid stone
(ii) पैत्तिक अश्मरी Calcium Oxalate Stone
(iii) कफज अश्मरी Calcium Phosphate Stone
(iv) शुक्राश्मरी Calcium Phosphate Stone

Management : Principles

1. To treat causative factors.
2. Adequate fluid intake.

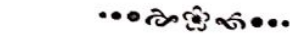

अष्टम खण्ड

पुरीषवह स्त्रोतस् के रोग

स्त्रोतस् परिचय

अन्न के किट्ट भाग को पुरीषवह स्त्रोतस् अभिवहन कर शरीर से बाहर निकालता है। भुक्त अन्न का सम्यक् परिपाक होने के बाद सार भाग का अवशोषण आंतो द्वारा हो जाता है एवं किट्ट भाग को ग्रहणी द्वारा आगे की ओर धकेल दिया जाता है जिसे पुरीषवह स्त्रोतस् (स्थूलान्त्र एवं गुद) द्वारा यथा समय बाहर निकाल दिया जाता है।

पुरीषवह स्त्रोतस् के दुष्ट होने पर मलों की अप्रवृत्ति, अतिप्रवृत्ति या अथवा प्रवृत्ति होने लगती है।

पुरीषवह स्त्रोतस् के मूल[1]

पुरीषवह स्त्रोतस् के मूल पक्वाशय एवं गुद हैं।

यहां पर पक्वाशय से अभिप्राय Large Intestine एवं गुद से Anus से है, क्योंकि इनमें ही पुरीष का संचय एवं निर्हरण होता है।

पुरीषवह स्त्रोतो दुष्टि के कारण[2]

पुरीषवह स्त्रोतस् के दुष्ट होने के निम्न प्रमुख कारण हैं—

1. मल का वेग धारण करना।
2. अधिक भोजन करना।
3. अजीर्ण होने पर।
4. भोजन के बाद पुनः भोजन करने से।
5. अग्निमांद्य होने पर।
6. शरीर में कृशता होने पर पुरीषवह स्त्रोतस् दुष्ट हो जाते हैं।

पुरीषवह स्त्रोतो दुष्टि के लक्षण[3]

उपरोक्त निदानों के सेवन से पुरीषवह स्त्रोतस् के दुष्ट हो जाने पर निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं-

---

1. "पुरीषवहानां स्त्रोतसां पक्वाशयो मूलं स्थूलगुदं च।" (च.वि. 5/8)
2. "संधारणादत्यशनादजीर्णाध्यशनात्तथा। वर्चोवाही दुष्यन्ति दुर्बलाऽग्नेः कृशस्य च॥" (च.वि. 5/21)
3. "प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा-कृच्छ्रेणाल्पाल्पं सशब्दशूलमतिद्रवमति ग्रथितमतिबहु चोपविशंतं दृष्ट्वा पुरीषवहान्यस्य स्त्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्॥" (च.वि. 5/8)

1. कठिनता से मल प्रवृत्ति (Difficult defecation)
2. थोड़ा एवं शब्द व शूल के साथ मल प्रवृत्ति (Painful defecation with small quantily of stool)
3. अत्यन्त पतला मल प्रवृत्त होना (Watery stool)
4. अत्यन्त गांठ दार मल प्रवृत्त होना (Glandular stool)
5. अधिक मात्रा में मल त्याग (Passage of large quantity of stool)

पुरीषवह स्त्रोतो दुष्टि की चिकित्सा[1]

पुरीषवह स्रोतस् के दुष्ट होने पर निम्न चिकित्सा करना चाहिये-

(1) आचार्य चरक ने पुरीषवह स्रोतस् के दुष्ट होने पर अतिसार की चिकित्सा करने का निर्देश दिया है।

पुरीषवह स्त्रोतोदुष्टि जन्य व्याधियां

पुरीषवह स्रोतोदुष्टि जन्य मुख्य व्याधियां निम्न प्रकार हैं—

1. अलसक एवं विलम्बिका
2. कृमिरोग
3. अर्श
4. बिबन्ध
5. उदावर्त

इनका सविस्तार वर्णन आगे किया जा रहा है।

1. "मूत्रविट्स्वेदवाहानां चिकित्सा मौत्रकृच्छ्रिकी। तथाऽतिसारिकी कार्या तथाज्वरचिकित्सकी॥" (च.वि. 5/28)

अध्याय-52

अलसक एवं विलम्बिका
(ACUTE INTESTINAL OBSTRUCTION PARALYTIC ILEUS)

व्याधि परिचय

आचार्य चरक ने आम प्रदोषज विकार के रूप में चरकसंहिता के विमान स्थान में अलसक का वर्णन किया है[1], तथा आम विष से उत्पन्न व चिकित्सा विरुद्ध होने के कारण अत्यन्त असाध्य कहा है। आचार्य चरक ने विसूचिका व अलसक को आमज विकार के रूप में वर्णित किया है। विलम्बिका का वर्णन यहां उपलब्ध नहीं है। विलम्बिका का वर्णन आचार्य सुश्रुत एवं माधवकर ने किया है। हेमाद्रि ने अष्टांग हृदय की टीका में विलम्बिका को दण्डालसक की संज्ञा दी है[2]। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार लक्षणों के आधार पर अलसक को Intestinal Obstruction due to acute massive indigestion / food poisoning तथा विलम्बिका को Paralytic ileus कह सकते हैं।

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता, विमान स्थान-अध्याय 3
2. सुश्रुत संहिता, उत्तर तंत्र-अध्याय 56
3. अष्टांग हृदय, सूत्र स्थान-अध्याय 8
4. माधव निदान-अध्याय 6
5. भाव प्रकाश-अध्याय 7

अलसक का स्वरूप[3]

आमाशय में आहार के पूर्णत: रुक जाने व ऊर्ध्व व अध: मार्ग से उसकी प्रवृत्ति न होने को अलसक कहा है। आचार्य माधवकर ने अजीर्ण से विसूचिका, अलसक एवं विलम्बिका रोग उत्पन्न होना बताया है तथा इन सबमें अग्निमांद्य एवं आम की ही मुख्य भूमिका होती है[4]।

1. "तं द्विविधमामप्रदोषमाचक्षते भिषज: विसूचिकाम् अलसकं च॥" (च.वि. 3/10)
2. "यतूक्तं जेज्जटेन इयं विलम्बिका तत्रान्तरे दण्डालसकसंज्ञयोक्ता इति।" (अ.हृ.सू. 8/28 पर हेमाद्रि)
3. "प्रायति नोर्ध्वनाधस्तान्नाहारोऽपि विपच्यते। आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसक: स्मृत:॥" (मधुकोश)
4. "अजीर्णमामं विष्टब्धं विदग्धं च यदीरितम्। विसूच्यलसकौ तस्मात् भवेच्चापि विलम्बिका॥" (मा.नि. 6/15)

अलसक का निदान[1]—

अलसक के निदान निम्न प्रकार है—

1. दुर्बलाग्नि पुरुष
2. अधिक कफ वाले पुरुष
3. वात-मूत्र-मल के वेग को धारण करने वाले
4. स्थिर, गुरु, रूक्ष, बासी, शुष्कान्न का सेवन करना
5. अध्यशन एवं विषमाशन

अलसक की सम्प्राप्ति[1]

उपरोक्त निदानों के सेवन से कुपित वात, कफ के द्वारा मार्गावरोध होने से भुक्त आहार की गति को अवरुद्ध कर देता है एवं अन्नपान वायु से पीड़ित एवं कफ से अवरुद्ध होने के कारण अतिमात्रा में लीन होकर अलसीभूत हो जाता है जिससे उसकी प्रवृत्ति ऊर्ध्व एवं अधः मार्ग से नहीं हो पाती है।

सम्प्राप्ति चक्र

निदान सेवन
↓
वात-कफ-प्रकोप
↓
प्रकुपित वात द्वारा अन्न को पीड़ित करना
↓
कफ द्वारा मार्गावरोध
↓
अवरोध होने से अन्न का आमाशय में ही अलसी भूत हो जाना
↓
ऊर्ध्व व अधः मार्ग से प्रवृत्ति न होना
↓
अलसक रोग

सम्प्राप्ति घटक

दोष	-	वात-कफ
दूष्य	-	अन्न
स्रोतस्	-	पुरीषवह स्रोतस्
अधिष्ठान	-	आमाशय
स्रोतोदुष्टि	-	संग
स्वभाव	-	आशुकारी
अग्नि	-	मंद
साध्यासाध्यता	-	असाध्य

1. "दुर्बलस्याल्पाग्नेर्बहुश्लेष्मणो वातमूत्रपुरीषवेगविधारणः स्थिरगुरुबहुरूक्षशीतशुष्कान्न सेवनस्तदन्न-पान मनिलप्रपीडितं श्लेष्मा च विवर्द्धं मार्गमतिमात्र..... दर्शयत्यतिमात्राणि॥" (च.वि. 3/12)

अलसक के लक्षण[1]—

अलसक के निम्न लक्षण वर्णित हैं—

1. कुक्षि आध्मान (Distension of abdomen)
2. मूर्च्छा (Fainting)
3. शूल एवं आर्तनाद (Severe abdominal pain)
4. वायु का ऊर्ध्व प्रदेश में भ्रमण (Flatulence)
5. अधोवायु एवं मल का अवरोध (Absolute constipation)
6. अति तृषा (Polydypsia)
7. उद्‌गार बाहुल्य (Belching)
8. वमन व अतिसार छोड़ विसूचिका के समस्त लक्षण

दण्डालसक[2]

जब अधिक मात्रा में दूषित दोष अधिक दुष्ट आमदोष के मार्ग में रुक जाने से शरीर में त्रिर्यक् चलते हुये पुरुष के सम्पूर्ण शरीर को दण्डे के समान जकड़ देते हैं उसे दण्डालसक कहते हैं। यह अलसक की उग्र अवस्था है।

अलसक की साध्यासाध्यता

विसूचिका एवं अलसक की साध्यासाध्यता निम्न प्रकार है—

1. दण्डालसक असाध्य है।
2. जिस रोगी के दांत, औष्ठ व नख नीले पड़ गए हों एवं रोगी बेहोश हो, वह असाध्य है।
3. जिसे निरन्तर वमन हो रहा हो,
4. जिसके अक्षिकूट में नेत्र धंस गए हों,
5. जिसका स्वर क्षीण हो गया हो,
6. जिसके सन्धिबन्धन शिथिल पड़ गए हों, ऐसे रोगी को असाध्य माना गया है।

1. "कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रतम्ये परिकूजति। निरुद्धो मारुतश्चैव कुक्षावुपरि धावति॥
वातवर्चोनिरोधश्च यस्यात्यर्थं भवेदपि। तस्याल सकमाचष्टे तृष्णोद्‌गारौ च यस्य तु॥"
(मा.नि. 6/19-20)

2. "अतिमात्रप्रदुष्टाश्च दोषाः प्रदुष्टामबद्धमार्गास्तिर्यग्गच्छन्तः कदाचिदेव केवलमस्य शरीरं दण्डवत् स्तम्भयन्ति, ततस्तं दण्डालसकमसाध्यं ब्रुवते॥"
(च.वि. 3/12)

3. "यः स्यावदन्तौष्ठनखोल्पसंज्ञो वम्यर्दितोऽभ्यान्तरयातनेत्रम्।
क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसंधिर्यायान्नरः सोऽपुनरागमाय॥" (मा.नि. 26/23)

विलम्बिका (Paralytic Ileus)[1]

जिस रोग में कफ एवं वायु से दुष्ट अन्न ऊपर या नीचे किसी भी मार्ग से नहीं निकलता इस दुश्चिकित्स्य व्याधि को विलम्बिका कहते हैं।

दण्डालसक को ही विलम्बिका कहा गया है। इसमें दोष तिर्यक् गति अर्थात् रसधातु के साथ मिलकर समस्त शरीर में व्याप्त होकर सार्वदैहिक एवं विष सदृश लक्षणों को उत्पन्न करते हैं, अतः यह असाध्य व्याधि है। आधुनिक मतानुसार लक्षणों के आधार पर Cholera Sicca से इसका साम्य प्रतीत होता है। इसमें विष की अत्यंत तीव्रता होने से बिना वमन विरेचन के ही Collapse होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

अलसक एवं विलम्बिका में कोई विशेष अन्तर नहीं है। अलसक में तीव्रशूल होता है किन्तु विलम्बिका में शूल नहीं होता।

विलम्बिका की तुलना आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में वर्णित Paralytic Ileus से कर सकते हैं।

अलसक एवं विलम्बिका में सापेक्ष निदान

क्र.स.	अलसक	विलम्बिका
1.	अजीर्ण से उत्पत्ति	अजीर्ण से उत्पत्ति
2.	कफ एवं वायु का संसर्ग	कफ एवं वायु का संसर्ग
3.	मल एवं अधो वायु का पूर्ण अवरोध	मल एवं अधो वायु का पूर्व अवरोध
4.	तीव्र शूल एवं आर्तनाद उपस्थित	शूल अनुपस्थित
5.	सद्यः कालिक	विलम्ब से उत्पन्न
6.	प्रारंभ में साध्य, जीर्ण होने पर असाध्य	असाध्य

अलसक एवं विलम्बिका का चिकित्सा सिद्धान्त[2]

अलसक एवं विलम्बिका के चिकित्सा सिद्धान्त निम्न प्रकार वर्णित हैं—

1. सर्वप्रथम निदान परिवर्जन करना चाहिये।
2. साध्य अलसक में सर्वप्रथम सैंधव लवण व गर्म जल पिलाकर वमन कराना चाहिये। तत्पश्चात् स्वेदन और गुदवर्ति के द्वारा चिकित्सा करना चाहिये। आमदोष से पीड़ित व्यक्ति को लंघन कराना हितकर है।

1. "दुष्टं तु भुक्तं कफमारुताभ्यां प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च यस्य।
विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्यामाचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः॥" (सु.उ.त. 56/9)
2. "तत्रसाध्ययामं प्रदुष्टमलसीभूतमुल्लेखयेदादौ पाययित्वा सलवणमुष्णं वारि, ततः स्वेदनवर्ति प्रणिधानाभ्यामुपाचरेदुपवासयेच्चैनम्॥" (च.वि. 3/13)

3. अलसक व विलम्बिका में वमन विरेचन कराकर वस्ति का प्रयोग यथासम्भव कराने का शास्त्रीय निर्देश है[1]।
4. अलसक व विलम्बिका में निदानार्थकर विकृति व साध्यासाध्यता का मूल्यांकन करने के बाद ही चिकित्सा प्रारंभ करनी चाहिये।

अलसक व विलम्बिका की चिकित्सा

अलसक व विलम्बिका की संशोधन व संशमन चिकित्सा निम्न प्रकार की जानी चाहिए—

(1) संशोधन चिकित्सा

1. वमन
2. विरेचन
3. लंघन
4. फलवर्ति (Suppository)
5. वस्ति (निरुह वस्ति)

(2) संशमन चिकित्सा

अलसक और विलम्बिका की चिकित्सा में प्रयुक्त प्रमुख संशमन योगों का वर्णन निम्मानुसार है—

1. **रस/भस्म/पिष्टी/चूर्ण/वटी**
अलसक व विलम्बिका की चिकित्सा में रस/भस्म/पिष्टी/चूर्ण/वटी अजीर्ण चिकित्सा में प्रयुक्त औषधियों के समान है।

2. **क्वाथ/आसव-अरिष्ट**

मात्रा	: 20-30 मि.ली.
अनुपान	: जल
(i) अभयारिष्ट	: अजीर्णोक्त
(ii) कुमार्यासव	: अजीर्णोक्त

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. लंघन
2. प्रातः सायम्

अजीर्णकण्टक रस	: 250 मि.ग्रा.
पंचकोल चूर्ण	: 2 ग्राम
हिंग्वष्टक चूर्ण	: 3 ग्राम
ऊष्ण जल से	1×2 मात्रा

1. "विलम्बिकालसकयोरुर्ध्वाधः शोधनं हितम्। नालेन फलवर्त्या च तथा शोधन मैक्षवै॥" (यो.र.)

3. भोजनोत्तर
   हिंग्वादि/लशुनादि वटी : 2 वटी × तीन मात्रा
4. रात्रि
   पंचसकार चूर्ण : 3 ग्राम
   ऊष्ण जल से एक मात्रा
5. अति बिबंध होने पर फलवर्ति लगाना चाहिये।

अलसक व विलम्बिका में पथ्य एवं अपथ्य

पथ्य

आहार	विहार
लघु, सुपाच्य आहार, कटु-तिक्त द्रव्यों का सेवन, पुराण शालि, मुद्ग, कृशरा, लाजमण्ड, मूली, लहसुन, आंवला, शिग्रु, आद्रक, मरिच, मेथिका, धान्यक, यवानी, जीरक, ऊष्ण जल, नींबू का पानी, तक्र आदि।	हल्का व्यायाम, लंघन, उपवास, वमन विरेचन, वस्ति आदि।

अपथ्य

आहार	विहार
गुरु, विष्टम्भी पदार्थ, पूरी, मालपुआ, असात्म्य, गुरु अन्न पान, विषमाशन, अध्यशन, विरुद्धाहार सेवन, मिर्च मसालेदार भोजन आदि।	वेगधारण, रात्रि जागरण, तीव्र विरेचन अति भोजन, समशन आदि।

Latest Developments

Acute Intestinal Obstruction

Symptoms

1. Pain in Abdomen.
2. Vomiting.
3. Absolute Constipation.
4. Abdominal Distension.
5. Visible Peristalsis.

Management : Principles

1. Treat the cause.
2. Symptomatic Treatment

Paralytic Ileus

A situation in which the peristalsis of the intestine slows down or stops, noted following abdominal surgery, electrolyte abnormalities (Hypokalaemia) or peritonitis.

अध्याय-53

विबन्ध

(CONSTIPATION)

व्याधि परिचय

विबन्ध वर्तमान समय में एक प्रचिलत व्याधि है इसका कारण फास्ट फूड के प्रचलन की पाश्चात्य शैली की जीवनशैली है। इसमें मल प्रवृत्ति सम्यक् व यथा समय नहीं होती तथा मल कठिन व कम मात्रा में निकलता है। सामान्य बोलचाल की भाषा में इसे 'कब्ज' कहते हैं।

भोजन का अम्ल विपाकावस्था में ग्रहणी में पूर्ण पाचन हो जाता है, आहार रस शोषित हो जाता है एवं किट्ट भाग द्रव रूप में पक्वाशय में पहुंच जाता है जहां पर पित्त व वायु की सहायता से द्रव किट्ट का जलीयांश शोषित हो जाता है एवं मल संहत होकर मलाशय में चला जाता है[1] और समय आने पर निर्हरित कर दिया जाता है। यदि किसी कारण वश (वेग धारण से) पुरीष अधिक देर तक पक्वाशय में रह जाए या पित्त एवं वायु की विकृति से मल के जलीयांश का अधिक शोषण हो जाए तो मल कठिन (Hard Stool) हो जाता हैं और मात्रा भी कम हो जाती है। यही स्थिति विबंध कहलाती है।

संहिता ग्रंथों में विबंध व्याधि के रूप में वर्णित नहीं है। अपितु अनेक व्याधियों के लक्षण के रूप में वर्णित है।

निरुक्ति/व्युत्पत्ति

'वि' उपसर्ग पूर्वक 'बन्ध बन्धने' धातु से विबंध शब्द बनता है जिसका अर्थ 'वात पुरीषयोर्बन्धा: विबंध:' है।

प्रमुख संदर्भ गंथ

1. चरक संहिता, सूत्रस्थान-अध्याय 14, 27
2. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 5
3. सुश्रुत संहिता, उत्तरतन्त्र-अध्याय 56

1. "पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना। परिपिण्डितपक्वस्य वायु: स्यात् कटुभावत: ॥" (च.चि. 15/11)

प्रमुख निदान

विबंध के प्रमुख निदान निम्न प्रकार हैं—

1. वेग धारण
2. अकाल भोजन
3. अकाल व असमय में पुरीष त्याग
4. अकाल विहार
5. रूक्ष, विष्टम्भी, गुरुपाकी आहार सेवन
6. भोजन में रेशे कम लेना या नहीं लेना
7. कषाय रस प्रधान भोजन सेवन
8. पानी कम पीना
9. रात्रि जागरण आदि

सम्प्राप्ति

उपर्युक्त निदानों के सेवन से कुपित वायु पक्वाशय में जाकर पुरीष को सुखा देती है जिससे अल्प मात्रा में कठोर पुरीष आता है।

आयुर्वेदीय ग्रंथों में विबंध के पर्याय के रूप में पुरीष संग, पुरीषानाह, पुरीषोदावर्त आदि का उल्लेख मिलता है। ये सभी एक ही अवस्थाएं हैं।

सम्प्राप्ति चक्र

निदान सेवन
↓
वात प्रकोप
↓
कुपित वात द्वारा पक्वाशय में मल का शोषण
↓
विबंध

सम्प्राप्ति घटक

दोष	-	वात-कफ
दूष्य्	-	पुरीष
स्रोतस्	-	पुरीषवह स्रोतस्
अधिष्ठान	-	पक्वाशय
स्वभाव	-	मृदु
साध्यासाध्यता	-	साध्य

लक्षण[1]

विबंध के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार हैं—

1. मल की कठोरता (Hard stool)
2. मल त्याग में कठिनाई (Difficult defecation)
3. अल्प मात्रा में मल (Decreased quantity of stool)
4. अरुचि (Anorexia)
5. अजीर्ण (Indigestion)
6. उदर शूल (Pain in abdomen)
7. आटोप (Flatulence)
8. आनाह (Constipation)
9. शिरःशूल (Headache)

विबंध, आनाह एवं उदावर्त में अंतर

क्र.स.	विबंध	आनाह	उदावर्त
1.	पुरीष संग	पुरीष संग	पुरीष संग
2.	----	आध्मान	आध्मान
3.	अपान संग	अपान संग	अपान संग व अपान वायु का ऊर्ध्व गमन

चिकित्सा सिद्धान्त

1. अभ्यंग तथा स्वेदन कराएं।
2. स्नेहन, विरेचन तथा अनुवासन वस्ति देनी चाहिये।
3. अति विबंध की स्थिति में फलवर्ति का प्रयोग करना चाहिये।
4. वातानुलोमन व विबंधहर चिकित्सा करनी चाहिये।
5. एरण्ड स्नेह द्वारा स्नेह विरेचन देना चाहिये।
6. खाने में सलाद, हरी पत्तेदार सब्जियों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में करायें।
7. पानी का प्रयोग अधिकाधिक करें।

चिकित्सा

विबंध की चिकित्सा में प्रयुक्त संशोधन व संशमन चिकित्सा निम्न प्रकार है—

(1) संशोधन चिकित्सा

1. स्नेहन और स्वेदन

1. "पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च। कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम्॥" (च.चि. 28/28)

2. विरेचन
3. निरूह वस्ति
4. फलवर्ति

(2) संशमन चिकित्सा

विबंध की चिकित्सा में प्रयुक्त संशमन योग निम्न प्रकार हैं—

1. **रस/भस्म/पिष्टी**
   - मात्रा : 125–250 मि.ग्रा.
   - अनुपान : शहद/जल
   - (i) अजीर्ण कण्टक रस
   - (ii) अजीर्णारि रस
   - (iii) क्रव्याद रस

   ] अजीर्नोक्त

2. **वटी**
   - मात्रा : 250–500 मि.ग्रा.
   - अनुपान : उष्ण जल
   - (i) हिंग्वादि वटी
   - (ii) अग्नितुण्डी वटी
   - (iii) लशुनादि वटी
   - (iv) गंधक वटी
   - (v) अर्क वटी
   - (vi) शंख वटी

   ] अजीर्नोक्त

3. **चूर्ण**
   - मात्रा : 3–6 ग्राम
   - अनुपान : कोष्ण जल
   - (i) पंचसकार चूर्ण : सैंधव, शुण्ठी, सौंफ, शिवा, सनाय
   - (ii) हिंग्वाष्टक चूर्ण : त्रिकटु, अजमोद, सैंधव, जीरक, हींग
   - (iii) हरीतकी चूर्ण : हरीतकी, एरण्ड स्नेह में भर्जित
   - (iv) स्वादिष्ट विरेचन चूर्ण : जीरक द्वय, सोंठ, लवंग, एला, मरिच, धनिया, अजमोद
   - (v) हिंग्वादि चूर्ण : हींग, अजमोद, जीरकद्वय, मुस्तक, चित्रक, त्रिकटु
   - (vi) मधुयष्टी चूर्ण : मुलैठी
   - (vii) अविपत्तिकर चूर्ण : त्रिफला, त्रिकटु, लवंग, निशोथ

   - (viii) निशोथ चूर्ण : निशोथ
   - (ix) दीनदयाल चूर्ण : सनाय, समुद्र लवण, अजवाइन
4. **क्वाथ/आसव-अरिष्ट** : अजीर्नोक्त
5. **घृत/तैल**
   - मात्रा : 10–30 मि.ली.
   - अनुपान : उष्ण जल/दूध
   - (i) एरण्ड तैल : एरण्ड

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. प्रातः सायम्
   - पंचकोल चूर्ण : 3 ग्राम
   - अजमोदादि चूर्ण : 2 ग्राम
   - उष्ण जल से : 1×2 मात्रा
2. भोजनोत्तर
   - अग्नि तुण्डी वटी : 2 वटी × तीन मात्रा
3. रात्रि
   - एरण्ड स्नेह : 20 मि.ली.
   - कोष्ण दूध से : एक मात्रा

पथ्य एवं अपथ्य

पथ्य

आहार	विहार
पुराण शालि, गोधूम, मुद्ग, अरहर, लघु अन्न, हरी पत्तेदार शाक, पपीता, गाजर, मूली, खीरा, पत्तागोभी, लौकी, टिण्डा, तोरई आदि।	स्वेदन, विरेचन, वस्ति, व्यायाम, चंक्रमण, पानी अधिक पीना, भोजन के तुरंत बाद पानी नहीं पीना आदि।

अपथ्य

आहार	विहार
गुरु, विष्टम्भी, मिर्च मसालेदार भोजन, पीजा, बर्गर, ब्रेड, टोस्ट, फास्ट फूड, केला, चावल, आलू आदि कंद शाक आदि।	रात्रि जागरण, वेगधारण, अव्यायाम, एक स्थान पर बैठे रहना आदि।

Latest Developments
Constipation

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में विबंध को Constipation कहा जाता है।

Constipation is the decrease in the frequency, size, consistency & ease of bowel movement and the complaint depends upon the individual's perception.

Causes

1. Poor life style
2. Systemic diseases
3. Anorectal out let disorder like piles, tumors, rectocoele
4. Structural abnormalities
5. Neurological lesions
6. Side effects of drugs

Management : Principles

1. Minimising use of constipating medications or correcting easily corrected back ground causes like Hypothyroidism.
2. Bulk forming laxatives.
3. Ensure adequate fibre intake.
4. Ensure adequate fluid intake.
5. Avoid white bread, rusks, banana, grated apple, white rice & hard boiled eggs.
6. Regular exercises.

अध्याय-54

उदावर्त

व्याधि परिचय

आयुर्वेदीय संहिताओं में उदावर्त एवं आनाह का वर्णन प्रायः एक साथ ही वर्णित है। आचार्य चरक ने सूत्र स्थान में वेगधारण जन्य 13 प्रकार के उदावर्त का वर्णन किया है तथा चिकित्सा स्थान में त्रिमर्मीय चिकित्सा में उदावर्त चिकित्सा का वर्णन किया है।

उदावर्त से सामान्यतः अपानवायु का ऊर्ध्वगमन अर्थ लिया जाता है। यह स्रोतोवरोध के कारण उत्पन्न होता है[1]। आचार्य चरक, सुश्रुत एवं वागभट् ने 13 प्रकार के वेग धारण जन्य उदावर्त का वर्णन किया है। भैषज्य रत्नावली में वात, मूत्र एवं पुरीष के वेग धारण जन्य केवल तीन प्रकार के उदावर्त माने हैं।

निरुक्ति/व्युत्पत्ति

"उद्भूतेन वेग विधारणेनाव्रतस्य वायोर्वर्तनमित्युदावर्तः।" (मधुकोश)

अर्थात् वेग धारण से उत्पन्न वायु का प्रतिलोम होना ही उदावर्त है। वेगधारण से वायु की स्वाभाविक गति में अवरोध होता है। अतः वायु विलोम होकर ऊर्ध्वगति स्वरूप मुख से निकलने लगता है, फलतः ऊर्ध्वमार्ग से मल मूत्रादि भी प्रवृत्त होने लगते हैं।

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता, सूत्र स्थान-अध्याय 7
2. चरक संहिता, चिकित्सा, स्थान-अध्याय 26
3. सुश्रुत संहिता , उत्तर तंत्र-अध्याय 55
4. अष्टाङ्ग संग्रह, सूत्र स्थान-अध्याय 5
5. अष्टाङ्ग हृदय, सूत्र स्थान-अध्याय 4
6. भैषज्य रत्नावली-अध्याय 31
7. भाव प्रकाश-अध्याय 31
8. माधव निदान-अध्याय 27

1. "यश्चोर्ध्वं जायते वायोरावर्तः सः चिकित्सकैः। उदावर्तं इति प्रोक्तो व्याधिस्तत्रानिलः प्रभुः॥" (भा.प्र.चि. 31/2)

सामान्य निदान[1]

आचार्य चरक ने उदावर्त के निम्न निदानों का वर्णन किया है—

1. कषाय, तिक्त एवं कटु पदार्थों का अधिक सेवन।
2. रूक्ष अन्न पान सेवन।
3. वेगावरोध।
4. उपवास व अति लंघन।
5. अति मैथुन

सम्प्राप्ति[2]

उपरोक्त निदानों के सेवन से पक्वाशय में कुपित अपान वायु अधोगामी स्रोतों को अवरुद्ध कर मल, अपानवायु एवं मूत्र का अवरोध कर क्रमशः भंयकर उदावर्त रोग उत्पन्न करती है।

सम्प्राप्ति चक्र

निदान सेवन
↓
वेग धारण
↓
अपान वायु का पक्वाशय में प्रकोप
↓
अपान वायु का विलोम होना
↓
मल-मूत्र व अपान वायु का अवरोध
↓
उदावर्त

सम्प्राप्ति घटक

दोष	–	अपान वायु
दूष्य	–	रस
स्रोतस्	–	पुरीषवह
अधिष्ठान	–	सर्वांग
स्रोतोदुष्टि	–	विमार्ग गमन

1. "कषायतिक्तोषणरूक्षभोज्यैः संधारणाभोजनमैथुनैश्च।" (च.चि. 26/5)
2. "पक्वाशये कुप्यति चेदपानः स्रोतांस्यधोगानि बली स रुद्धवा।
करोति विण्मारुतमूत्रसंङ्गं क्रमादुदावर्तमतः सुघोरम्॥" (च.चि. 26/5-6)

स्वभाव	–	मृदु
साध्यासाध्यता	–	साध्य
उद्भव	–	पक्वाशयोत्थ

भेद[1]

आचार्यों ने 13 प्रकार के उदावर्त वर्णित किए हैं—

1. अधोवात निरोधज
2. पुरीष निरोधज
3. मूत्र निरोधज
4. उद्गार निरोधज
5. छर्दि निरोधज
6. क्षुधा निरोधज
7. तृष्णा निरोधज
8. जृम्भा निरोधज
9. अश्रु निरोधज
10. क्षवथु निरोधज
11. शुक्र निरोधज
12. श्वास निरोधज
13. निद्रा निरोधज

सामान्य लक्षण[2]

आचार्य चरक ने उदावर्त के निम्न सामान्य लक्षण वर्णित किए हैं—

1. वस्ति, हृदय, कुक्षि एवं उदर प्रदेश में पीड़ा (Pain in whole abdomen)
2. पीठ एवं पसलियों में पीड़ा (Pain in back & costal region)
3. उदर में आध्मान (Tympanitis)
4. हृल्लास (Nausea)
5. गुद प्रदेश में कैंची से काटने जैसी पीड़ा (Cutting pain in anal region)
6. सुई सुभने सी वेदना (Pricking pain in body)
7. अपाक (Indigestion)
8. वस्ति शोथ (Cystitis)
9. मलावरोध (Constipation)
10. पेट में मल की गांठ बनना (Hard stool)
11. कष्ट पूर्वक मल की प्रवृत्ति (Painful defecation)
12. उद्गार (Belching)
13. खर, रुक्ष, शीत मल प्रवृत्ति (Dry, rough, cold stool)

1. "वातविण्मूत्रजृम्भाश्रुक्षवोद्गारवमीन्द्रियैः। क्षुतृष्णाश्वासनिद्राणामुदावर्तो विधारणात्॥" (सु.उ.त. 55/4)
2. "रूग्वस्तिहृत्कुक्ष्युदरेष्वभीक्ष्णं, सपृष्ठपार्श्वेष्वतिदारुणा स्यात्।
आध्मानहृल्लासविकर्तिकाश्च तोदोऽविपाकश्च सवस्तिशोथः॥
वर्चोऽप्रवृत्तिर्जठरे च गण्डान्यूर्ध्वश्च वायुर्विहितो गुदे स्यात्।
कृच्छ्रेण शुष्कस्य चिरात् प्रवृत्तिः स्याद्वा तनुः स्यात् खररूक्षशीता॥" (च.चि. 26/6-7)

उदावर्त के भेदानुसार लक्षण

उदावर्त के विभिन्न भेदों के विशिष्ट लक्षण निम्न प्रकार हैं—

1. **अधोवात निरोधज उदावर्त के लक्षण**[1]

(i) वात-मूत्र-पुरीष का अवरोध (Obstruction of urine, faeces & flatus)
(ii) उदर आध्मान (Distention of abdomen)
(iii) क्लम (Drowsiness)
(iv) उदर में शूल (Pain in abdomen)
(v) अन्य वात विकार

2. **पुरीषजोदावर्त के लक्षण**[2]

(i) आटोप (Flatulence)
(ii) शूल (Pain in abdomen)
(iii) परिकर्तिका (Cutting pain in anus, bladder & penis)
(iv) मल का अवरोध (Constipation)
(v) उर्ध्ववात (Excessive belching)
(vi) मुख मार्ग से मल प्रवृत्ति (Discharge of faecal matter from mouth)

3. **मूत्र निरोधज उदावर्त के लक्षण**[3]

(i) मूत्राशय एवं मेढ्र में शूल (Pain in bladder & penis)
(ii) मूत्रकृच्छ्रता (Dysuria)
(iii) शिर:शूल (Headache)
(iv) शरीर का आगे झुकना (Forward bending of body)
(v) वंक्षण प्रदेश में तनाव (Heaviness in lower abdomen)

4. **जृम्भा निरोधज उदावर्त के लक्षण**[4]

(i) मन्या व गले का स्तम्भ (Stiffness of neck)
(ii) शिर:शूल (Headache)

1. "वातमूत्रपुरीषाणां सङ्गोध्मानं क्लमो रुजा। जठरे चातजाश्चान्ये रोगा: स्युर्गातनिग्रहात्॥" (भा.प्र.चि. 31/3)
2. "आटोपशूलौ परिकर्तिका च सङ्ग: पुरीषस्य तथोर्ध्ववात:।
पुरीषमास्यादथवा निरेति पुरीषवेगेऽभिहते नरस्य॥" (भा.प्र.चि. 31/4)
3. "वस्तिमेहनयोर्शूलं मूत्रकृच्छ्र शिरोरुजा। विनामो वंक्षणानाह: स्यान्निग्रहे मूत्रनिग्रहे॥" (भा.प्र.चि. 31/5)
4. "मन्यागलस्तम्भशिरोविकारा जृम्भोपघातात्पवनात्मका: स्यु:।
तथाऽक्षिनासावदनभयाश्च भवन्ति, तीव्रा: सह कर्णरोगै:॥" (भा.प्र.चि. 31/6)

(iii) नाक, कान एवं नेत्र में शूल (Pain in eyes, ear & nose)
(iv) शरीराक्षेप (Cramps or Convulsions)
(v) संकोच (Constriction)
(vi) शून्यता (Numbness)
(vii) कम्प (Tremors)

5. **अश्रु निरोधज उदावर्त के लक्षण**[1]

(i) शिर:शूल (Headache)
(ii) प्रतिश्याय (Running nose)
(iii) नेत्र रोग (Eye diseases)
(iv) अरुचि (Anorexia)
(v) भ्रम (Vertigo)

6. **क्षवथु निरोधज उदावर्त के लक्षण**[2]

(i) मन्यास्तम्भ (Stiffness of neck)
(ii) शिर: शूल (Headache)
(iii) अर्दित (Facial paralysis)
(iv) अर्धावभेदक (Migraine)
(v) इन्द्रिय दौर्बल्य (Improper coordination of senses)

7. **उद्गारनिरोधज उदावर्त के लक्षण**[3]

(i) मुख एवं गला भरा प्रतीत होना (Feeling of fullness in throat & mouth)
(ii) कण्ठ में सुई चुभने सी पीड़ा (Pricking pain in throat)
(iii) वायु का रुक जाना (Dyspnoea)

8. **छर्दि निरोधज उदावर्त के लक्षण**[4]

(i) कण्डू (Itching)
(ii) चकत्ते (Rashes)

1. "आनन्दजं वाऽप्यथ शोकजं नेत्रोदकं प्राप्तमुज्झतो हि।
शिरोगुरुत्वं नयनामयश्च भवन्ति तीव्रा: सह पीनसेन॥" (सु.उ. 55)
2. "मन्यास्तम्भ: शिर:शूलमर्दिताधावभेदको। इन्द्रियाणां च दौर्बल्यं क्षवथो: स्याद्विधारणात्॥" (च.सू. 7/16)
3. "कण्ठास्यपूर्णत्वमतोव तोद: कूजश्च वायोरथवा प्रवृत्ति।
उद्गारवेगेऽभिहते भवन्ति घोरा विकारा: पवनप्रसूता॥" (यो.र.उदा.नि. 8)
4. "कण्डूकोठारुचिव्यङ्गशोथपाण्ड्वामय ज्वर:। कुष्ठहृल्लास विसर्पश्छर्दि निग्रहजा गदा:॥" (यो.र.उदा.नि. 9)

(iii) अरुचि (Anorexia)
(iv) चेहरे पर काले धब्बे (Blackish spots on face)
(v) शोथ (Swelling)
(vi) पाण्डु (Anaemia)
(vii) ज्वर (Fever)
(viii) कुष्ठ (Skin diseases)
(xi) विसर्प (Erysipelas)
(x) हल्लास (Nausea)

9. शुक्र निरोधज उदावर्त के लक्षण[1]

(i) गुद, अण्डकोश एवं मेढ्र में शोथ (Swelling over anus, testes & penis)
(ii) गुद, मेढ्र में शूल (Pain in anus & penis)
(iii) मूत्र निग्रह (Obstruction of urine)
(iv) शुक्राश्मरी (Spermolith)
(v) शुक्रस्रवण (Secretion of semen)

10. क्षुधा निरोधज उदावर्त के लक्षण[2]

(i) तन्द्रा (Drowsiness)
(ii) अंगमर्द (Bodyache)
(iii) अरुचि (Anorexia)
(iv) थकावट (Tiredness)
(v) तम: प्रवेश (Darkness in front of eyes)

11. तृष्णा वेग निरोधज उदावर्त के लक्षण[3]

(i) गला एवं मुखशोष (Dryness of throat & mouth)
(ii) बाधिर्य (Deafness)
(iii) हृदपीड़ा (Pain in chest & palpitation)

1. "मूत्राशये वैमुष्कगुदयोश्च शोथो रुजा मूत्रविनिग्राह्य।
शुक्राश्मरी तत्स्रवणं भवेच्चैते विकारा विहते च शुक्रे॥" (भा.प्र.चि. 31/11)
2. "तन्द्राऽङ्गमर्दावरुचि: श्रमश्चक्षुधाभिघातात्कृशता च द्रष्टे:॥" (भा.प्र.चि. 31/12)
3. "कण्ठास्यशोष: श्रवणावरोधस्तृष्णा विघातात् हृदये व्यथा च॥" (भा.प्र.चि

12. श्वास निग्रहज उदावर्त के लक्षण[1]

(i) श्वासकृच्छ्रता (Dyspnoea on exertion)
(ii) हृद्रोग (Heart diseases)
(iii) मूर्च्छा (Fainting)
(iv) गुल्म (Lumps)

13. निद्रा वेग निरोधज उदावर्त के लक्षण[2]

(i) जृम्भा (Yawning)
(ii) अंगमर्द (Bodyache)
(iii) आंखों एवं शिर में भारीपन (Heaviness in eyes & head)
(iv) तन्द्रा (Drowsiness)

साध्यासाध्यता

1. उदावर्त का रोगी यदि तृष्णा, अति वमन से पीड़ित हो, अति क्षीण हो, शूल युक्त हो, मल का वमन कर रहा हो तो असाध्य समझना चाहिए।
2. उपर्युक्त अवस्था रहित उदावर्त का रोगी साध्य होता है।

चिकित्सा सिद्धान्त

उदावर्त के चिकित्सा के मुख्य सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं—

1. समस्त उदावर्त में सर्वप्रथम विगुणित वायु को प्रकृतिस्थ करने का प्रयास करना चाहिए[3]।
2. शीत ज्वर नाशक तैल का शरीर पर मालिश कर वात शामक स्वेदन का प्रयोग कराना चाहिए। तत्पश्चात् दोष द्रवित होने पर वर्ति, निरुहवस्ति, स्नेह प्रयोग, विरेचन एवं वातानुलोमन चिकित्सा करनी चाहिए[4]।
3. उदावर्त में वायु की अधिकता हो तो अम्ल एवं लवण रस के साथ स्नेह वस्ति देनी चाहिए। पित्त की प्रधानता होने पर क्षीर वस्ति तथा कफ की प्रधानता होने पर गौमूत्र के साथ वस्ति देनी चाहिए[5]।
4. निरुह वस्ति देने के बाद भी उदावर्त रहे तब विरेचन देना चाहिए।

1. "श्रान्तस्य नि:श्वासनिग्रहेण हृद्रोगमोहावपि गुल्म:।" (भा.प्र.चि. 31/14)
2. "जृम्भाऽगमर्दोऽक्षिशिरोऽतिजाड्यं निद्राभिघातादथवाऽपितन्द्रा:॥" (भा.प्र.चि. 31/15)
3. "सर्वेष्वेतेषु भिषजा चोदावर्तेषु कृत्स्नश:। वायो: क्रिया विधातव्या: स्वमार्गप्रतिपत्तये॥" (यो.र.चि. 1)
4. "तंतैलशीतज्वरनाशनाक्तं स्वेदैर्यथोक्तै: प्रविलीनदोषम्।
उपाचरेद्वर्तिनिरुहवस्तिस्नेहैर्विरेकैरनुलोमनान्नै:॥" (च.चि. 26/11)
5. "वातेऽधिकेऽम्लं लवणं सतैलं, क्षीरेण पित्ते तु कफे समूत्रम्।
स मूत्रवर्चोऽनिलसंङ्गमाशु गुदं सिराश्च प्रगुणीकरोति॥" (च.चि. 26/17)

चिकित्सा

उदावर्त की संशोधन एवं संशमन चिकित्सा निम्नानुसार है—

1. **संशोधन चिकित्सा**

1. विरेचन
2. निरूह वस्ति
3. स्नेहपान
4. स्वेदन
5. फलवर्ति
6. क्षीर वस्ति

2. **संशमन चिकित्सा**

उदावर्त की संशमन चिकित्सा में प्रयुक्त शास्त्रीय योगों का वर्णन निम्नानुसार है—

1. **रस/भस्म/पिष्टि**

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: ऊष्ण जल
(i) नाराच रस	: पारद, गंधक, काली मिर्च, टंकण, पिप्पली, जयपाल, स्नुही दूध। जल से पीसकर नाभि पर लेप एवं सूंघने मात्र से सुखपूर्वक विरेचन होता है।
(ii) इच्छाभेदी रस	: शुद्ध पारद, गंधक, टंकण, सोंठ , मरिच एवं त्रिगुण जयपाल।
अनुपान	: शीतल जल- विरेचनार्थ, उष्ण जल- विरेचन बंद करने के लिए
(iii) उदयमार्त्तण्ड रस	: हिंगुल, जयपाल, वत्सनाभ, टंकण।

2. **वटी**

मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: ऊष्ण जल
(i) बैद्यनाथ वटी	: हरड़, त्रिकटु, सिन्दूर, जयपाल।
(ii) वृक्कशूलान्तक वटी	: हिंगु, अकरकरा, कलमी सोरा, पिपरमेण्ट।
(iii) अभयादि मोदक	: त्रिकटु, त्रिमद, त्रिजात, दंती, त्रिवृत्।

3. **चूर्ण**

मात्रा	: 3-6 ग्राम
अनुपान	: ऊष्ण जल
(i) हिंगुग्रगंधादि चूर्ण	: हींग, वचा, विडनमक, सोंठ, जीरा, हरड़, पुष्कर मूल।
(ii) वचादि चूर्ण	: वच, हरड़, चित्रक, यवक्षार, पिप्पली, अतीस।
(iii) पंचलवण चूर्ण	: हींग, अर्कमूल, दशमूल, स्नुही, चित्रक, पुनर्नवा, पंचलवण।
(iv) हिंग्वादि चूर्ण	: हींग, वच, अजमोद, कूठ, सज्जीक्षार, विडंग।
(v) द्विरुत्तर हिंग्वादि चूर्ण	: हींग, वच, चित्रक, कूठ, सज्जीक्षार, विडंग।

4. **क्वाथ**

मात्रा	: 20-30 मि.ली.
अनुपान	: जल
(i) पिप्पल्यादि क्वाथ	: पंचकोल, दन्ती, त्रिवृत।

5. **घृत**

मात्रा	: 10-30 मि.ली.
अनुपान	: ऊष्ण जल
(i) स्थिराद्य घृत	: शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कण्टकारी, बृहती, गोखुरु, अमलतास, घृत।
(ii) शुष्क मूलाद्य घृत	: शुष्क मूली, आर्द्रक, पुनर्नवा, लघुपंचमूल, अमलतास।

आदर्श चिकित्सा पत्र

प्रात: सायम्

1.	इच्छाभेदी रस	: 125 मि.ग्रा.
	शंख भस्म	: 250 मि.ग्रा.
	द्विरुत्तर हिंग्वादि चूर्ण	: 3 ग्राम
	जल से	1×2 मात्रा
2.	भोजनोत्तर	
	चित्रकादि वटी	: 2 / 2 / 2
	पिप्पल्यादि क्वाथ	: 20 मि.ली.
	सम जल से	1×2 मात्रा

3. रात्रि
   शुंठी घृत : 20 मि.ली.
   ऊष्ण जल / कोष्ण दुग्ध से 1 मात्रा

पथ्य एवं अपथ्य

पथ्य

आहार	विहार
लघु, सुपाच्य आहार, मूंग, बथुआ, मेथी, चौलाई, करेला, लौकी, आर्द्रक, रसोन, हींग, अजमोद, जीरक, ऊष्ण जलपान, तक्र, पपीता, द्राक्षा, नींबू आदि।	स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, वस्ति, फलवर्ति प्रयोग, चंक्रमण, व्यायाम आदि।

अपथ्य

आहार	विहार
गुरु, विष्टम्भी, विदाही, रुक्ष, बासी भोजन, असात्म्य, विरुद्धान्न सेवन, चावल, जामुन, आलू, कन्दशाक, ककड़ी, दधि, केला आदि।	वमन, मल, मूत्र वेग धारण, रात्रि जागरण, समशन, अध्यशन, अति भोजन आदि।

योग चिकित्सा

नियमित रुप से वज्रासन, पवनमुक्तासन, सर्वाङ्गासन तथा शवासन करना चाहिए।

अध्याय-55

कृमि रोग
(HELMINTHIASIS)

व्याधि परिचय

कृमियों के बारे में अथर्ववेद में भी वर्णन मिलता है। प्राचीन आचार्यों ने जिन कृमियों का उल्लेख किया है उनसे आधुनिकोक्त समस्त कृमियों का ग्रहण किया जा सकता है। ऋग्वेद में कृमियों द्वारा गर्भ को नष्ट करने की बात कही गई है।

समस्त आयुर्वेदीय ग्रंथों में कृमि रोग का सविस्तार वर्णन मिलता है। इसके साथ ही कृमिज रोगों के सन्दर्भ में कुछ रोगों यथा-कुष्ठ, यक्ष्मा, ग्रहणी, पाण्डु, हृदरोग आदि का भी वर्णन उपलब्ध है। मुख्यत: कृमियों के दो भेद वर्णित हैं-

1. बाह्य कृमि 2. आभ्यन्तर कृमि

इनके साथ सहज व जन्मोत्तर कालज कृमि, यह भेद भी किया जा सकता है। सहज कृमि अविकारी होते हैं। अत: इनका वर्णन नहीं किया गया है। जन्मोत्तर कालज 20 प्रकार के कृमियों का वर्णन मिलता है। सहज कृमियों से Intestinal bacterial flora का ज्ञान होता है।

निरुक्ति / व्युत्पत्ति

1. "क्रिमि: क्रव्ये मेद्यति।" (यास्क निर्वचन)
   अर्थात् जो मांस के प्रति स्नेह रखता हो उसे क्रिमि कहा जाता है।
2. "एतं च नाम विशेषा: केचित् सान्वया: केचित् निरन्वया: व्यवहारार्थं पूर्वाचार्यै: प्रणीता:।" (वाचस्पति: आतंकदर्पण व्याख्या)

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता, सूत्र स्थान-अध्याय 19
2. चरक संहिता, विमान स्थान-अध्याय 7
3. सुश्रुत संहिता, उत्तर तंत्र-अध्याय 54
4. अष्टाङ्ग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 14
5. अष्टाङ्ग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 20
6. माधव निदान-अध्याय 7
7. भाव प्रकाश-अध्याय 7

क्रिमियों के भेद[1]

शास्त्रों में क्रिमियों के भेद निम्न प्रकार वर्णित किए गए हैं—

I दो भेद[2]
1. सहज और अवैकारिक क्रिमि
2. जन्मोत्तरकालज या वैकारिक क्रिमि

II वैकारिक क्रिमियों के पुनः दो भेद हैं-
1. बाह्य क्रिमि या मलज क्रिमि
2. आभ्यान्तर क्रिमि

1. बाह्य क्रिमियों के पुनः दो भेद हैं-
(i) यूका
(ii) पिपीलिका

2. आभ्यान्तर क्रिमियों के पुनः तीन भेद हैं-
(i) पुरीषज क्रिमि : 5
(ii) कफज क्रिमि : 7
(iii) रक्तज क्रिमि : 6

(i) पुरीषज क्रिमियों के पुनः 5 प्रकार हैं[3]
(क) ककेरुक
(ख) मकेरुक
(ग) लेलिह
(घ) सशूलक
(ङ) सौसुराद

(ii) कफज क्रिमियों के पुनः 7 प्रकार हैं[4]
(क) अन्त्राद
(ख) उदराद
(ग) हृदयचर
(घ) चुरु

1. "क्रिमयश्च द्विधा प्रोक्ता बाह्याभ्यान्तरभेदतः। बाह्यमलकफासृग्विड्जन्मभेदाच्चतुर्विधाः॥ नामतो विंशति विद्यात्।" (मा.नि. 7/1)
2. "विंशतिविधा. क्रिमयः पूर्वमुद्दिष्टा नानाविधेन प्रविभागेनान्यत्र सहजेभ्यः....।" (च.वि. 7/9)
3. "तेषां नामानि ककेरुकाः, मकेरुकाः, लेलिहाः, सशूलकाः, सौसुरादाश्चेति।" (च.वि. 7/13)
4. "तेषां त्रिविधानां श्लेष्मनिमित्तानां क्रिमीणां नामानि-अन्त्रादाः, उदरादाः, हृदयचराः, चुरवः, दर्भपुष्पः, सौगन्धिकाः, महागुदश्चेति॥" (च.वि. 7/12)

(ङ) दर्भपुष्प
(च) सौगन्धिक

(iii) रक्तज क्रिमियों के पुनः 6 प्रकार हैं[1]
(क) केशाद
(ख) लोमाद
(ग) लोमद्वीप
(घ) सौरस
(ङ) औदुम्बर
(च) जन्तुमात्र

आचार्य सुश्रुत एवं वागभट्ट ने क्रिमियों की संख्या तो 20 ही मानी है परन्तु इनके उपभेदों की संख्या में भिन्नता है, जो निम्न सारिणी में दर्शाया गया है—

क्र.सं.	क्रिमि	चरक संहिता	सुश्रुत संहिता	अष्टाङ्ग हृदय
1.	पुरीषज	5	7	5
2.	कफज	7	6	7
3.	रक्तज	6	7	6
4.	बाह्य क्रिमि	2	-	2

सामान्य निदान

कृमि रोगों के सामान्य निदान निम्न प्रकार हैं[2]—
1. अजीर्ण भोजी।
2. मधुर एवं अम्ल पदार्थों का अति सेवन।
3. द्रव बहुल पदार्थ प्रेमी।
4. पिष्टमय पदार्थ एवं गुड़ का अधिक सेवन।
5. व्यायाम न करना।
6. दिवास्वप्नशील।
7. विरुद्धान्न सेवी।

ये समस्त निदान आभ्यन्तर कृमियों के हैं।

8. शरीर व वस्त्रों की भलीभांति सफाई नहीं करना।
9. स्नान नहीं करना।

1. "नामानि-केशादाः, लोमादाः, लोमद्वीपाः, सौरसाः, औदुम्बराः, जन्तुमातरश्चेति।" (च.वि. 7/11)
2. "अजीर्ण भोजी मधुराम्लनित्यो द्रवप्रियः गुडोपभोक्ता। व्यायामवर्जी च दिवाशयानो विरुद्धभुक् स लभते क्रिमीस्तु॥" (मा.नि. 7/4)

10. त्वक्विकारों से पीड़ित रोगी के सम्पर्क में रहना[1]।

ये समस्त निदान बाह्य कृमियों के हैं।

क्रिमियों के विशिष्ट निदान

क्रिमियों के विभिन्न भेदों के विशिष्ट निदान निम्न प्रकार वर्णित हैं—

I पुरीषज क्रिमि के निदान[2]

1. उड़द एवं पिष्टमय पदार्थों का अति सेवन।
2. अम्ल व लवण रस युक्त पदार्थों का अति सेवन।
3. गुड़ का अति सेवन।
4. शाकों का अति सेवन करने से पुरीषज क्रिमियों की उत्पत्ति होती है।

II कफज क्रिमि के निदान[3]

1. मांसाति सेवन।
2. गुड़ाति सेवन।
3. मछली सेवन।
4. दूध एवं दही का अति सेवन।
5. शुक्तक का अति सेवन।

III रक्तज क्रिमि के निदान[4]

1. विरुद्धाशन
2. अजीर्णाशन
3. शाकों का अति सेवन

सम्प्राप्ति

उपरोक्त निदानों के सेवन से विभिन्न प्रकार के क्रिमियों की उत्पत्ति होती है जो रस धातु के साथ परिभ्रमण कर विभिन्न कृमि रोगों को उत्पन्न करते हैं।

सम्प्राप्ति चक्र

निदान सेवन
↓
क्रिमियों की उत्पत्ति
↓
शरीर में परिभ्रमण
↓
रोगोत्पत्ति

1. "तेषां समुत्थानं मृजावर्जनं।" (च.वि. 7/10)
2. "माषापिष्टान्नविदलपर्णशाकैः पुरीषजाः।" (सु.उ.त. 54/17)
3. "मांसमाषगुडक्षीरदधितैलैः कफोद्भवाः॥"
4. "विरुद्धाजीर्णशाकाद्यैः शोणितोत्था भवन्ति हि॥" (सु.उ.त. 54/18)

सम्प्राप्ति घटक

दोष	–	कफ प्रधान त्रिदोष
दूष्य	–	पुरीष, रक्त, रस
स्रोतस्	–	पुरीषवह स्रोतस्, रक्तवह स्रोतस्
अधिष्ठान	–	पक्वाशय, महास्रोतस्, शरीर
स्रोतोदुष्टि	–	संग
साध्यासाध्यता	–	साध्य

सामान्य लक्षण[1]

क्रिमि रोग के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार हैं—

1. ज्वर (Fever)
2. विवर्णता (Discolouration)
3. शूल (Pain in abdomen)
4. हृद् रोग (Heart diseases)
5. सदन (Looseness of body)
6. भ्रम (Vertigo)
7. अरुचि (Anorexia)
8. अतिसार (Diarrhoea)
9. गुद प्रदेश में कण्डू (Itching in anal region)

विभिन्न क्रिमियों के विशिष्ट लक्षण

शास्त्रों में भेदानुसार विभिन्न क्रिमियों के विशिष्ट लक्षण निम्न प्रकार वर्णित किए गए हैं—

(1) बाह्य क्रिमि स्वरूप व लक्षण[2]

बाह्य क्रमियों की आकृति सूक्ष्म, तिल के आकार की, बहुत पैर वाली तथा कृष्ण एवं श्वेत वर्ण की होती है। इनसे निम्न लक्षण होते हैं-

1. कण्डू (Itching)
2. कोठ (Rashes)
3. पिड़िका (Boils)

बाह्य क्रिमि मुख्यतः केश, लोम, श्मश्रु, पक्ष्म व गंदे कपड़ों में निवास करते हैं।

1. "ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्रोगः सदनं भ्रमः। भक्तद्वेषोऽतिसारश्च संजातकृमिलक्षणम्॥" (सु.उ. 54/18)
2. "तिलप्रमाणसंस्थानवर्णाः केशाम्बराश्रयाः।
बहुपादश्चा सूक्ष्माश्च यूका लिक्षा मताः। द्विधा ते कोठपिडिका कण्डूगण्डान् प्रकुर्वते॥" (अ.हृ.नि. 14/43-45)

(2) आभ्यान्तर क्रिमियों का स्वरूप व लक्षण

I. पुरीषज क्रिमियों का स्वरूप व लक्षण[1]

ये क्रिमि पक्वाशय से नीचे गुद मार्ग की ओर तथा ऊपर आमाशय की ओर संचरित होते हैं। इनकी आकृति सूक्ष्म गोलाकार, सफेद, लम्बे, ऊन के सदृश मोटे, श्याव, नीले हरे एवं पीले वर्ण के होते हैं। इनसे निम्न लक्षण प्रकट होते हैं—

1. अतिद्रव मल प्रवृत्ति (Watery stool)
2. अतिसार (Diarrhoea)
3. पाण्डुता (Anaemia)
4. दौर्बल्य (Weakness)
5. कठोरता (Hardness of abdomen)
6. रोमहर्ष (Horripilation)
7. गुद प्रदेश में कण्डू (Itching in anus)
8. पुरीष के साथ बाहर निकलते हैं (Worms are passed out with stools)

II. कफज क्रिमि का स्वरूप व लक्षण[2]

कफज क्रिमियों का स्थान आमाशय है। ये आकृति में लम्बे फीते के समान, पृथु एवं गण्डूपद सदृश तथा रक्ताभ होते हैं। कुछ कफज कृमि सूक्ष्म, दीर्घ व पतले, श्वेत-ताम्रवर्ण के भी होते हैं। इनसे निम्न लक्षण प्रकट होते हैं—

1. हल्लास (Nausea)
2. अतिप्रसेक (Excessive salivation)
3. अरोचक (Anorexia)
4. अविपाक (Indigestion)
5. ज्वर (Fever)
6. मूर्च्छा (Fainting)
7. जृम्भा (Yawning)
8. क्षवथु (Sneezing)

1. "संस्थानवर्णविशेषास्तु-सूक्ष्मवृत्तपरीणाहाः श्वेता दीर्घा ऊर्णांशुसंकाशाः।
प्रभावं पुरीषभेदकार्श्यपारूष्यंलोमहर्षाभिनिवर्तनं च। त एव चास्य गुदमुखं परितुदन्तः।"
(च.वि.7/13)

2. "तेषामामाशयस्थानं, संस्थानवर्णविशेषास्तु श्वेताः पृथुब्रह्मसंस्थाना केचित् केचिद् वृत्तपरिणाहा गण्डूपदा कृतयः श्वेतास्ताम्रावभासाश्च, केचिदणवो दीर्घास्तन्वाकृतयः श्वेताः, प्रभवो हल्लास, आस्यसंस्रवणम्, अरोचका विपाकौ, ज्वरः, मूर्च्छा, क्षवथुः, आनाहः, अंङ्गमर्दः, छर्दि कार्श्य पारूष्यं चेति।" (च.वि. 7/12)

9. आनाह (Flatulence)
10. अंगमर्द (Bodyache)
11. छर्दि (Vomiting)
12. कार्श्य (Emaciation)
13. पारुष्य (Dryness)

III. रक्तज क्रिमि का स्वरूप व लक्षण[1]

रक्तज क्रिमि रक्तवाहिनी सिराओं में होते हैं तथा अतिसूक्ष्म, गोल व पादविहीन होते हैं। ये अदृश्य होते हैं एवं सूक्ष्मदर्शी (Microscope) द्वारा देखे जा सकते हैं। इनका वर्ण ताम्र होता है। इनसे निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—

1. कण्डू (Itching)
2. रोमाञ्च (Abnormal feelings)
3. सुई चुभने सी पीड़ा (Pricking Sensation)
4. बाल झड़ना (Hair fall)
5. शरीर पर कुछ रेंगने की अनुभूति (Hypersensitivity)
6. अधिक बढ़ने पर त्वचा, सिरा, स्नायु, मांसपेशियों व तरुणास्थियों को खा जाते हैं (May eat out skin, venis, nerves, muscles, cartilages)
7. नख, पक्ष्म, श्मश्रु के बालों का गिरना (Falling of eyelashes, nails & hair)

चिकित्सा सिद्धान्त

क्रिमि रोग की चिकित्सा के प्रमुख सिद्धान्त निम्न प्रकार वर्णित हैं—

1. आचार्य चरक ने क्रिमि चिकित्सा के तीन प्रमुख सिद्धान्त वर्णित किए हैं—
   1. अपकर्षण
   2. प्रकृति विघात
   3. निदान परिवर्जन

2. **संशोधन चिकित्सा**—क्रिमि रोग की चिकित्सा में संशोधन चिकित्सा भी महत्त्वपूर्ण है। वमन, विरेचन, आस्थापन, शिरोविरेचन आदि संशोधन कर्म क्रिमि रोग की चिकित्सा में प्रशस्त हैं। इनका समावेश चरकोक्त अपकर्षण के अन्तर्गत किया गया है।

1. "स्थानं-रक्तवाहिन्यो धमन्यः संस्थानं अणवो वृत्ताश्चापादाश्च सूक्ष्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्याः वर्णताम्राप्रभावः केश-श्मश्रुलोमनखपक्ष्मापध्वसं व्रणगतानां च कण्डूहर्षतोदसंसर्पणानि अति वृद्धानां च त्वक्सिरानायुमांससतरुणास्थिभक्षणमिति।" (च.वि. 7/11)

I. **अपकर्षण**[1]—अपकर्षण से तात्पर्य खींचकर बाहर निकालना है। इसमें क्रिमियों को यन्त्रों से या हाथ से पकड़कर बाहर निकालने का विधान है।

स्वस्थान (आमाशय, पक्वाशय) स्थित क्रिमियों को बाहर निकालने के लिये संशोधन चिकित्सा की सहायता ली जाती है। इसमें शिरोविरेचन के द्वारा शिरस्थ क्रिमियों को, वमन द्वारा आमाशयस्थ कृमियों को तथा पक्वाशयस्थ क्रिमियों को विरेचन व वस्ति के द्वारा बाहर निकाला जाता है।

संशोधन विधि—7 दिन स्नेहन एवं स्वेदन कराने के पश्चात् क्रिमि वर्धक आहार का सेवन कराने के पश्चात् वमन, विरेचन व आस्थापन का प्रयोग एक ही दिन में कराना चाहिये।

II. **प्रकृति विघात**[2]—क्रिमियों की प्रकृति का नाश करना प्रकृति विघात है। इसमें क्रिमियों की प्रकृति के विरुद्ध, कटु, तिक्त, कषाय, क्षार एवं उष्ण द्रव्यों का प्रयोग कराकर क्रिमियों को नष्ट किया जाता है।

प्रकृति विघात के लिये मूषाकर्णी स्वरस में पिसे हुए रक्तशालि के आटे की रोटी बनाकर विडंग तैल व नमक मिलाकर उसके साथ रोगी को खाने के लिए देना चाहिये। तत्पश्चात् खट्टी कांजी या मठ्ठा में पीपर, पिप्पली मूल, चब्य, चित्रक, सोंठ व नमक मिलाकर पिलाना चाहिये।

III. **निदान परिवर्जन**[3]—क्रिमि रोग के विभिन्न निदानों का परित्याग करना निदान परिवर्जन है। अपकर्षण व प्रकृति विघात के द्वारा क्रिमि निर्हरण के पश्चात् निदान परिवर्जन करने से क्रिमि उत्पत्ति पुनः नहीं होती है।

3. बाह्य क्रिमियों को सफाई द्वारा व क्रिमिघ्न तैल व लेप के प्रयोग द्वारा जीतना चाहिये।

चिकित्सा

क्रिमि रोग की संशोधन एवं संशमन चिकित्सा निम्नानुसार वर्णित है—

(1) संशोधन चिकित्सा

1. वमन

1. "तत्रापकर्षणं हस्तेनाभिग्रहय विमृश्योपकरणवातऽपनयनमनुपकरेणवा:।
स्थानगतानां तु क्रिमीणां भेषजेनापकर्षणं न्यायते:, तच्चतुर्विधं, तद्यथा शिरोविरेचनं वमनं विरेचनम् आस्थापनं च, इत्यपकर्षण विधि:॥" (च.वि. 7/13)
2. "प्रकृतिविघातस्त्वेतेषां कटुतिक्तकषायक्षारोष्णानां द्रव्याणामुपयोग: यच्चान्यदपि किञ्चिच्छ्लेष्मपुरीष प्रत्यनीकभूतं तत् स्यात्। इति प्रकृति विघात:॥" (च.वि. 7/14)
3. "अनन्तरं निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनं-यदुक्तं निदानविधौ तस्य विवर्जनं तथा प्रायाणां चापरेषां द्रव्याणाम्।" (च.वि. 7/15)

2. विरेचन
3. निरुह वस्ति
4. ऊष्ण तीक्ष्ण लेखन वस्ति
5. शिरो विरेचन

(2) संशमन चिकित्सा

क्रिमि रोग की संशमन चिकित्सा में प्रयुक्त शास्त्रोक्त योगों का वर्णन निम्न अनुसार है—

1. **रस/भस्म/पिष्टि**

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: ऊष्ण जल
(i) क्रिमि मुद्गर रस	: पारद, गंधक, अजमोद, विडंग, शुद्ध कुचला, पलाश बीज
(ii) क्रिमिहर रस	: पारद, इन्द्रयव, अजमोद, मनःशिला
(iii) क्रिमिकालानल रस	: विडंग, वत्सनाभ, लौह भस्म, पारद, गंधक
(iv) क्रिमिघ्न रस	: विडंग, पलाशबीज, निम्ब बीज, रस सिन्दूर
(v) कीटारि रस	: शुद्ध पारद, इन्द्रयव, अजमोद, मनःशिला, पलाशबीज
(vi) विडंग लौहम्	: पारद, गंधक, मरिच, जायफल, लवंग, शुण्ठी, हरताल
(vii) क्रिमि विनाशन रस	: शुद्ध पारद, गंधक, अभ्रक, लौह,मनःशिला

2. **वटी**

मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: जल
(i) क्रिमिघातनी गुटिका	: पारद, गंधक, अजमोद, विडंग, पलाश बीज, कुचला
(ii) लाक्षादि वटी	: लाख, भल्लातक, विडंग, अर्जुन, सफेद राल, गुग्गुलु (यह धूप है इसको जलाने से कीट मर जाते हैं)
(iii) संजीवनी वटी	: विडंग, नागर, कृष्णा, वचा, गुडुची भल्लातक, वत्सनाभ

3. **चूर्ण**

मात्रा	: 3-6 ग्राम
अनुपान	: कोष्ण जल
(i) विडंग चूर्ण	: विडंग, सेंधव, यवक्षार
(ii) पलाश बीज चूर्ण	: पलाश बीज, इन्द्रयव, नीम, विडंग
(iii) यमान्यादि चूर्ण	: अजवाइन, सेंधव
(iv) पारसीकादि चूर्ण	: पारसीक यवानी, मोथा, पिप्पली, विडंग, अतीस
(v) कम्पिल्लक चूर्ण	: कबीला फल रज

4. **क्वाथ/आसव-अरिष्ट**

मात्रा	: 20-30 मि.ली.
अनुपान	: जल
(i) खर्जूर पत्र क्वाथ	: खर्जूर पत्र, मधु
(ii) मुस्तादि क्वाथ	: मोथा, मूषकर्णी, पलाश, त्रिफला, शिग्रु छाल
(iii) विडंगारिष्ट	: विडंग, पलाश, चित्रक, इन्द्रयव, चीनी, धातकी

5. **घृत/तैल**

मात्रा	: 10-30 मि.ली.
अनुपान	: ऊष्ण जल
(i) विडंग घृत	: त्रिफला, विडंग, दशमूल एवं पंचकोल
(ii) त्रिफलाद्य घृत	: त्रिफला, त्रिवृत, दन्ती, वच, कम्पिलक
(iii) विडंग तैल	: विडंग, गंधक, मन:शिला, गोमूत्र (तैल बाह्य प्रयोगार्थ है)
(iv) धुस्तूर तैल	: धतूरा, सर्षप तैल (बाह्य क्रमि नाशक बाह्य प्रयोगार्थ)

6. **पाक/अवलेह**

मात्रा	: 15-20 ग्राम
अनुपान	: दूध
(i) पारिभद्रावलेह	: पारिभद्र, हरिद्रा, विडंग, चित्रक, मोथा
(ii) विडंगावलेह	: विडंग, मुस्तक, चित्रक, अजमोद, यमानी, चीनी

7. **क्रिमिघ्न एकल औषधियां**—पारसीक यवानी, विडंग, कम्पिल्लक, पारिभद्रपत्र, पलाशबीज, सुपारी, तुम्बी के बीज, दाड़िम बीज, स्वर्णक्षीरी बीज, चक्रमर्द बीज आदि के चूर्ण क्रिमिघ्न हैं।

आदर्श चिकित्सा पत्र

प्रातः सायम्

1.	कृमिमुद्गर रस	: 250 मि.ग्रा.
	नवायस लौह	: 500 मि.ग्रा.
	अजमोदादि चूर्ण	: 3 ग्राम
	कोष्ण जल	1×2 मात्रा
2.	भोजनोत्तर	
	क्रिमिघातनी गुटिका	: 2 / 2 / 2
	विडंगारिष्ट	: 20 मि.ली.
	सम जल से	1×2 मात्रा
3.	रात्रि	
	पारिभद्रावलेह	: 20 ग्राम
	दूध से	1 मात्रा

विशिष्ट योग

(i)	श्लेष्मज क्रिमि या गण्डूपदक्रिमियो में (Round worms)	: पलाशबीज चूर्ण
(ii)	पुरीषज कृमि या अंकुश मुख क्रिमियों में (Hook worm)	: यवानी सत्व
(iii)	स्फीत क्रिमि (Tape worm) में	: कम्पिल्लक, पूग, दाड़िम चूर्ण
(iv)	तन्तुक्रिमि (Thread worm) में	: चिरायता, निम्ब चूर्ण

(v) श्लीपद क्रिमि (Filariasis) में : शाखोटक

(vi) स्नायुक क्रिमि में : निर्गुण्डी एवं शिग्रु का प्रयोग करना चाहिये।

पथ्य एवं अपथ्य

पथ्य

आहार	विहार
रक्तशालि, गेंहू, मूंग, अरहर, हरी सब्जी, घी, दूध, कटु, तिक्त कषाय पदार्थ, तक्र, यवागु, लशुन, शिग्रु, प्लाण्डु, पान, कत्था, मधु, पटोल पत्र, शाक, बथुआ, आदि।	वमन, विरेचन, शिरोविरेचन, आस्थापन वस्ति, धूमपान, अभ्यंग, लेप, उत्सादन आदि।

अपथ्य

आहार	विहार
दुग्ध-मछली का सेवन, द्रव व पिष्टमय पदार्थो का अतिसेवन, घृत, उड़द, दही, पालक आदि पत्रशाक, मांस, ऊंटनी का दुग्ध, अम्ल एवं मधुर रस प्रधान भोजन आदि।	वेग धारण, वमन के वेग का धारण, दिवास्वप्न आदि।

Latest Developments
Helminthiasis

आधुनिक मतानुसार क्रिमि रोग को Helminthiasis कहा जाता है।, आयुर्वेद में वर्णित रक्तज क्रिमि, पुरीषज कृमि, कफज क्रिमियों का साम्य आधुनिकोक्त Round worm (Ascaris lumbricoidis), Thread worm (Enterobius Vermicularis) तथा Tape worm (Tinia solium) से किया जा सकता है जिनका मुख्य कारण दूषित, गंदे, बिना धुले हुए खाद्य पदार्थो को खाना तथा बिना हाथ साफ किए खाना खाने से तथा. नाखून आदि को नहीं काटना है। इनके कारण क्रिमि बाह्य वातावरण से मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं।

Management : Principles

1. Appropriate Anti helminthic drugs.
2. Proper hygeine.
3. Balanced Diet.

अध्याय-56

अर्श रोग
(PILES-HAEMORRHOIDS)

व्याधि परिचय

शरीर में शत्रु की भांति मार्ग अवरुद्ध कर पीड़ा उत्पन्न करने वाले रोग को 'अर्श' कहा है। अर्श एक प्रकार का मांसांकुर या मांस प्ररोह है जो महास्रोतस् के गुद मार्ग में उत्पन्न होता है[1]। गुदमार्ग में स्थित मांसाकुरों को ही अर्श संज्ञा दी गई है। अन्य स्थानों पर उत्पन्न मांसाकुरों को 'अधिमांस' कहा गया है। अर्श की गणना मांसज विकारों में की गई है। अतः इसे मांसवह स्रोतोगत व्याधि भी माना जा सकता है। किन्तु इसका अधिष्ठान पुरीषवह स्रोतस् (गुद बलि) है। अतः इसे पुरीषवह स्रोतस् की व्याधियों में वर्णित किया जा रहा है। आचार्यों ने सविस्तार से अर्श का वर्णन किया है। आचार्य चरक ने अर्श में त्वक् मांस व मेद की दुष्टि मानी है तथा आचार्य सुश्रुत ने धमनी की विकृति भी मानी है जो वैज्ञानिक दृष्टि से उपयुक्त है।

आचार्यों ने अर्श को दुर्नाम एवं दुश्चिकित्स्य व्याधि माना है। इस रोग में पांचों पित्त, पांचों वायु व पांचों प्रकार के कफ की दुष्टि होती है। गुद प्रदेश की त्रय गुदबलियों ऊपर से नीचे क्रमशः संवरणी, विसर्जनी एवं प्रवाहणी में अर्श को उत्पत्ति होती है[2]। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में इसे (Piles or Haemorrhoids) कहा जाता है जिसमें यकृत दोष एवं विबंध के कारण गुदमार्ग गत रक्तवाहनियाँ फूल जाती हैं एवं कभी-कभी ये अधिक फूल जाने पर फट जाती हैं जिससे रक्तस्राव (Bleeding) होता है। यकृत की दुष्टि से गुदवलियों की भित्ति जो मांस तंतुओं से निर्मित होती है अति क्षीण हो जाती है। इस स्थिति में गुदबलियां रक्त एवं मेद से आवृत्त हो जाती हैं। बाद में गुदगत सिराओं में शोथ उत्पन्न हो जाता है तथा अधिक रक्तभर जाने से वे फूल जाती हैं और मांसतन्तु कठिन हो जाते हैं एवं पीड़ा देते हैं। आयुर्वेद में अर्श को कृच्छ्र साध्य माना गया है एवं महाव्याधि व अष्ट महागद में गिना गया है।

---

1. "अरिवत् प्राणिनो मांसकीलका विशसन्ति यत्। अर्शांस्तिस्मादुच्यन्ते गुदमार्गनिरोधतः॥" (अ.हृ.नि. 7/1)

2. "तत्र स्थूलान्त्रप्रतिबद्धमर्धपञ्चमाङ्गुलं गुदमाहुः।
तस्मिन् बलयस्त्रिस्रोऽध्यर्धाङ्गुलसंमिताः प्रवाहणी संवरणी चेति॥" (सु.नि. 2/5)

निरुक्ति/व्युत्पत्ति

1. "अरिवत् प्राणान् शृणाति इति अर्शः।" (मधुकोष)

अर्थात् जो शत्रु के समान प्राणों को संकट में डाले उसे 'अर्श' कहा है।

2. "अरिवत् प्राणिनो मांस कीलका, विशसन्ति यत्।
अर्शांसि तस्मादुच्यन्ते गुदमार्गनिरोधतः॥" (अ.हृ.नि. 7/1)

अर्थात् जो मांस कीलक गुदमार्ग में अवरोध उत्पन्न करके शरीर को शत्रु के समान नष्ट करते हैं उसे 'अर्श' कहते हैं।

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 14
2. सुश्रुत संहिता, निदान स्थान- अध्याय 2
3. सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 6
4. अष्टांङ्ग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 7
5. अष्टांङ्ग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 8
6. माधव निदान-अध्याय 5
7. भाव प्रकाश-अध्याय 5
8. योग रत्नाकर-अर्शोऽधिकार

सामान्य निदान[1]

आचार्य चरक ने अर्श के निम्न सामान्य निदानों का वर्णन किया है—

1. गुरु, मधुर, शीत, अभिष्यन्दि, विदाही एवं विरुद्धान्न का सेवन।
2. अजीर्णाशन, प्रमितानशन (नपा तुला अल्प भोजन)।
3. असात्म्य भोजन सेवन।
4. गौ, मछली, सुअर, भैंस, बकरी, भेड़ का मांस सेवन।
5. पिष्टान्न, खीर, मालपुआ, दही, मण्ड, तिल-गुड़ के बने आहार सेवन।
6. उड़द, इक्षु, आलू, सिंघाड़ा, नवीन शूक एवं शमी धान्य सेवन।
7. अति स्नेह पान व उचित संशोधन नहीं होना।
8. व्यायाम नहीं करना।
9. अनुचित तरीके से मैथुन करना।
10. दिवास्वप्न, आस्यासुख, स्वप्नसुख।
11. मंदाग्नि, विबंध होने पर।
12. विषमआसन पर बैठना, उत्कट बैठना।
13. ऊंट सवारी।
14. वस्ति नेत्र का विधिपूर्वक प्रयोग नहीं होने से।

1. "गुरु मधुर शीताभिष्यन्दि विदाहि विरुद्धाजीर्ण प्रमिताशनमसात्म्यभोजनाद् गव्यमात्स्यवाराह-माहिषाजाविकपिशित् भक्षणात् कृशशुष्कपूति.....
स्त्रीणां चामगर्भभ्रंशाद् गर्भोत्पीडनद्विषमप्रसूतिभिश्च।" (च.चि. 14/9)

15. अति प्रवाहण।
16. विषम प्रसव।
17. आम गर्भपात होने पर।

विशिष्ट निदान[1]

अर्श के विभिन्न भेदों के विशिष्ट निदान निम्न अनुसार वर्णित हैं—

(I) सहज अर्श के निदान

सहज अर्श के निर्माण में बीजावयव दुष्टि प्रधान कारण है क्योंकि गुदा का निर्माण आर्तव से होता है। अतः आर्तव के दुष्ट होने पर सहज अर्श उत्पन्न होता है। आर्तव दुष्टि के निम्न दो कारण हैं—

1. माता पिता का अपचार
2. पूर्व जन्म कृत दुष्कर्म

(II) जन्मोत्तर कालज अर्श के निदान

जन्म के पश्चात् मिथ्या आहार-विहार करने से उत्पन्न अर्श जन्मोत्तर कालज कहलाते हैं। इनके विभिन्न भेदों के निदान निम्नानुसार वर्णित हैं—

(1) वातिक अर्श के निदान[2]

1. कषाय, कटु, तिक्त, रूक्ष, शीत, लघु पदार्थ सेवन।
2. प्रमिताशन, भोजन काल बीतने पर भोजन करना।
3. तीक्ष्ण मद्य सेवन।
4. अति मैथुन।
5. लंघन।
6. शीतकाल।
7. अति व्यायाम।
8. शोक, वायु एवं धूप का स्पर्श।

(2) पैत्तिक अर्श के निदान[3]

1. कटु, अम्ल, लवण पदार्थ एवं ऊष्ण द्रव्यों का सेवन।
2. व्यायाम, अग्नि एवं आतप सेवन।

1. "तत्र बीजं गुदबलिबीजोपतप्तमायतनमर्शसां सहजानाम्।
तत्र द्विविधो बीजोपतप्तौ हेतुः मातापित्रोपचारः, पूर्वकृतं च कर्मः॥" (च.चि. 14/5)
2. "कषायकटुतिक्तानि रूक्षशीतलघूनिच। प्रमिताशनं तीक्ष्णं मद्यं मैथुनसेवनम्॥
लघनं देशकालौ च शीतो व्यायाम कर्म च। शोको वातातपस्पर्शो हेतुर्वातार्शसां च तत्॥"
(च.चि. 14/12-13)
3. "कट्वम्ललवणोष्णानि व्यायामाग्न्यातपप्रभाः। देशकालावशिशिरौ क्रोधो मद्यमसूयनम्॥
विदाहि तीक्ष्णमुष्णं च सर्वपानान्न भेषजम्। पित्तोल्बणानां विज्ञेयः प्रकोप हेतुरर्शसाम्॥"
(च.चि. 14/15-16)

3. ऊष्ण देश व ऊष्ण ऋतु।
4. मद्यपान।
5. ईर्ष्या, क्रोध करना।
6. विदाही, ऊष्ण, तीक्ष्ण औषध सेवन।

(3) कफज अर्श के निदान[1]

1. मधुर, स्निग्ध, शीत, लवण, अम्ल, गुरु द्रव्य सेवन।
2. व्यायाम का सर्वथा त्याग।
3. दिवास्वाप।
4. अधिक गुदगुदे बिस्तर पर बैठने एवं लेटने की इच्छा।
5. पूर्वी वायु का अधिक सेवन।
6. आनूप देश व शीत ऋतु।
7. सदा निश्चित रहना।

(4) द्वन्दज अर्श के निदान[2]

दो दोषों के प्रकोपक हेतु सम्मिलित रूप से द्वन्दज अर्श के निदान हैं।

(5) त्रिदोषज अर्श के हेतु[3]

वातादि तीनों अर्शों के पृथक्-पृथक हेतु सम्मिलित रूप से त्रिदोषज अर्श के निदान हैं।

(6) रक्तज अर्श के निदान

रक्तज अर्श के निदान पैत्तिक अर्श के समस्त हेतुओं के समान होते हैं।

सम्प्राप्ति

उपरोक्त निदानों के सेवन से प्रकुपित त्रिदोष रस तथा रक्त को दूषित करते हुए गुद प्रदेश में पहुंचकर गुदबलियों में त्वक् मांस व मेद को विकृत कर मांसांकुर उत्पन्न कर देते हैं।

सम्प्राप्ति चक्र

मंदाग्नि निदान सेवन
↓
वातादि त्रिदोष प्रकोप
↓
गुद में स्थान संश्रय

1. "मधुरस्निग्धशीतानि लवणाम्लगुरुनि च। अव्यायामो दिवास्वप्नः शय्यासनसुखे रतिः॥ प्राग्वातसेवाशीतौ च देशकालावचिन्तनम्। श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत् कारणमर्शसाम्॥" (च.चि. 14/18-19)
2. "हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्यात् द्वन्द्वोल्वणानि च।" (च.चि. 14/20)
3. "सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणां सहजैर्लक्षणं समम्॥" (च.चि. 14/20)

↓
रक्त प्रकोप
↓
मांसाकुरोत्पत्ति
↓
मांसवत् कठिन अंकुर
↓
अर्शोत्पत्ति

सम्प्राप्ति घटक

दोष	–	त्रिदोष
दूष्य	–	मांस, रक्त, मेद, त्वक्
स्रोतस्	–	मांसवह, रक्तवह, पुरीषवह
अधिष्ठान	–	गुद वलित्रय
स्रोतोदुष्टि	–	संग
अग्नि	–	अग्निमांद्य
उद्भव	–	आमाशयोत्थ
स्वभाव	–	दारूण
साध्यासाध्यता	–	कृच्छसाध्य

अर्श के भेद

आचार्य चरक ने अर्श के दो भेद वर्णित किए हैं[1]

1. **सहज अर्श**
2. **जन्मोत्तर कालज अर्श**— इसके पुनः 6 भेद हैं—
   1. वातज अर्श
   2. पित्तज अर्श
   3. कफज अर्श
   4. द्वन्दज अर्श
   5. सन्निपातज अर्श
   6. रक्तार्श

अतः कुल सात प्रकार के अर्श आचार्य चरक ने माने हैं।

आचार्य सुश्रुत एवं माधवकर ने छः प्रकार के अर्श रोगों का वर्णन किया है[2]

1. वातिक अर्श

1. "द्विविधान्यर्शांसि-कानिचित् सहजानि कानिचिज्जातस्योत्तरकालजानि॥" (च.चि. 14/15)
2. "षडर्शांसि भवन्ति वातपित्तकफशोणितसन्निपातै सहजानि चेति॥" (सु.नि. 2/22)

2. पैत्तिक अर्श
3. कफज अर्श
4. रक्तार्श
5. सन्निपातज अर्श
6. सहज अर्श

आचार्य चरक एवं वाग्भट् ने अर्श के पुनः 2 भेद और वर्णित किए हैं[1]—

1. **आर्द्र अर्श**
2. **शुष्कार्श**

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में दो प्रकार के अर्श माने गये हैं—

1. **External Piles**
2. **Internal Piles**

द्वन्द्वज अर्शों में प्रकृति सम समवेत सम्मूर्च्छना होती है, अतः आचार्य सुश्रुत ने इनका वर्णन तो किया है पर अर्श भेदों में समावेश नहीं किया है।

पूर्वरूप[2]

अर्श के पूर्वरूप निम्न प्रकार वर्णित हैं—

1. विष्टम्भ (Indigestion)
2. आटोप (Flatulence)
3. दौर्बल्य (Weakness)
4. विबंध (Constipation)
5. कार्श्य (Emaciation)
6. उद्गार बाहुल्य (Excessive belching)
7. सक्थि सदन (Pain in thighs)
8. ग्रहणी दोष (Sprue)
9. पाण्डु (Anaemia)
10. उदर रोग (Abdominal disorder)
11. पिपासा (Polydypsia)
12. अल्प विटकता (Small quanitity of stool)

1. "वातश्लेष्मणोल्बणान्याहुः शुष्काण्यर्शांसि तद्विदः। प्रस्रावीणि तथाऽऽर्द्राणि रक्तपित्तोल्बणानि च॥" (च.चि. 14/38)

2. "विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च। कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता॥ ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तेराशंका चोदरस्य च। पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये॥" (च.चि. 14/22)

सामान्य लक्षण

अर्श के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार वर्णित हैं—

1. गुद प्रदेश में शूल एवं दाह के साथ रक्त प्रवृत्ति (Bleeding per anus with pain & burning)
2. मलबद्धता (Constipation)
3. अतिसार (Diarrhoea)
4. उदर में आटोप तथा आध्मान (Flatulence)

अर्श के भेदानुसार विशिष्ट लक्षण

शास्त्रों में अर्श के विभिन्न भेदानुसार लक्षण निम्न प्रकार वर्णित हैं—

(1) वातज अर्श के लक्षण[1]

1. शुष्क, चुनचुनाहट युक्त (Dry, Irritant)
2. हल्के रक्तवर्ण, कड़े एवं खुरदुरे (Rough, hard & reddish piles)
3. कर्कोटक फल के समान कण्टक युक्त
4. खजूर, बेर, कार्पास, कदम्ब पुष्प सदृश होते है।
5. ऊष्ण एवं स्निग्ध सेवन से लाभ होता है।
6. इसके रोगी में निम्न लक्षण मिलते हैं—
   (i) छींक (Sneezing)
   (ii) उद्गार (Belching)
   (iii) मलावरोध (Constipation)
   (iv) हृद् पीड़ा (Chest Pain)
   (v) अरोचक (Anorexia)
   (vi) श्वास, कास (Dyspnoea & Cough)
   (vii) कर्णनाद एवं भ्रम (Tinnitus & Vertigo)
   (viii) कठोर, फेनयुक्त प्रवाहण करने पर अल्पमल त्याग।
   (ix) रोगी का त्वचा, नेत्र, नख, मूत्र एवं मल काले हो जाते हैं।

(2) पित्तार्श के लक्षण[2]

1. पित्तार्श के मांसाकुर का मुख नीले रंग का, वर्ण लाल पीला तथा काला होता है।
2. पतला दुर्गन्ध युक्त रक्तस्राव।

1. "गुदाकुंर बह्निनिलाः शुष्काश्चिमचिमावितः। बिम्बीखर्जूरकर्कन्धुकार्पासीफलसन्निभाः॥ शिरः पार्श्वासकट्यूरुवंक्षणाद्यधिकव्यथाः। क्षवथूद्गार विष्टम्भहृदग्रहारोचकप्रदः। कासश्वासाग्निवैषम्यकर्णनाद भ्रमावहाः॥ ..... संभवस्तत एव च॥" (च.नि. 7/8)

2. "पित्तोत्तरा नीलमुखा रक्तपीतासितप्रभाः। तन्वस्रावणो विस्रास्तनवो मृदवः श्लथाः॥ शुक जिह्वायकृत्खण्ड जलौकोवक्त्र सन्निभाः। दाहापाकज्वरस्वेदतृण्मूर्च्छाऽरतिमोहदाः॥" (भा.प्र.चि. 5/18-19)

3. अर्श की आकृति तोते की चोंच के समान तथा यकृत पिण्ड के समान होती है।
4. गुद पाक (Inflammation of anus)
5. दाह एवं ज्वर (Burning & fever)
6. स्वेद प्रवृत्ति (Sweating)
7. तृष्णा (Polydypsia)
8. मूर्च्छा (Fainting)
9. बैचेनी (Restlessness)
10. रोगी का मल पतला, नीला पीला व आमयुक्त होता है।

(3) कफज अर्श के लक्षण[1]

1. अर्श काफी गहरा होता है (Deep seated piles)
2. हल्की पीड़ा युक्त, सघन, श्वेत, स्निग्ध, स्तब्ध, गोल, गुरु, स्थिर, पिच्छल, कण्डू युक्त होते हैं।
3. बांस के अंकुर व मुनक्का के समान अर्श।
4. रोगी को बंक्षण प्रदेश में बंधन सी अनुभूति (Tightness in inguinal region)
5. कास एवं श्वास (Cough & Dyspnoea)
6. मुख वैरस्य (Bitter Taste of Mouth)
7. अरुचि (Anorexia)
8. पीनस (Running Nose)
9. प्रमेह (Diabetes)
10. मूत्रकृच्छ्र (Dysuria)
11. मष्तिष्क जाड्य (Dullness of Mind)
12. वमन (Vomiting)
13. नंपुसकता (Impotence)

(4) सहज अर्श के लक्षण[2]

1. सहज अंर्शांकुर छोटे, बड़े, गोल, जालीदार, अन्दर की ओर मुख वाले होते हैं।
2. रोगी जन्म से दुर्बल, दीन, क्षीण होता है।
3. विबद्ध मल, मूत्र एवं अपान वायु (Obstruction of urine, faeces & flatus)

1. "तत्र यानि प्रमाणवत्त्युपचितानि, श्लक्ष्णानि, स्पर्शसहानि स्निग्धश्वेतपाण्डु, पिच्छिलानि, स्तब्धानि, गुरुणि, स्तिमितानि परिकर्तिकाहल्लासनिष्ठीविकाविपाकासारोचकप्रतिश्यायगौरवच्छर्दि..... श्लेष्मोल्बणानि अर्शांसिति विद्यात्॥" (च.चि. 14/17)
2. "तत्र सहजान्यर्शांसि कानिचिदणूनि, कानिचिन्महान्ति कानिचिद् दीर्घाणि..... ।" (च.चि. 14/7)

"तैरुपहतो जन्मप्रभृति भवत्यतिकृशो विवर्णः क्षामो दीनः प्रचुरविबद्धवातमूत्रपुरीषः शर्कराश्मरीमान्, तयाऽनियत विबद्ध मुक्तपक्वामशुष्कभिन्नवर्चा..... सहजान्यर्शांसि" (च.चि. 14/7)

4. अश्मरी एवं शर्करा (Stones, Crystalluria)
5. कभी विबन्ध, कभी द्रव मल, कभी आम व शुष्क मल की प्रवृत्ति।
6. उदावर्त (Upward Movement of wind)
7. गुदपाक (Inflammation of anus)
8. आटोप (Flatulence)
9. हृद् प्रदेश का कफ पित्त लिप्त रहना
10. मंदाग्नि (Indigestion)
11. दुर्बल (Weak)
12. अल्पवीर्ययुक्त (Oligospermia)
13. उद्गार बाहुल्य (Excessive Belching)
14. वमन (Vomiting)
15. अरुचि (Anorexia)

(5) रक्तार्श के लक्षण[1]

1. रक्तार्श वट प्ररोह, प्रवाल, गुंजाफल की आकृति के होते हैं।
2. इनके लक्षण पित्तज अर्श से मिलते हैं।
3. कठिन मल प्रवृत्ति से अर्श फट जाने से रक्त प्रवृत्ति (Bleeding due to hard stool)
4. शिरःशूल (Headache)
5. आक्षेप (Convulsions)
6. रक्ताल्पता एवं दुर्बलता (Anaemia & Weakness)
7. कटि, गुद, उरु व मस्तक में शूल (Pain in Low back, Anus, Thighs & Head)
8. पतला एवं फेनिल रक्त स्राव (Liquid & foamy bleeding)

साध्यासाध्यता-अर्श को दुश्चिकित्स्य एवं दुर्नाम कहा है। उत्पत्ति काल में पाँचो वायु, पाँचो पित्त व पांचो कफ कुपित होकर गुद वलि में आश्रित होकर अर्श उत्पन्न करते हैं। अतः अर्श रोग दुःखकारक तथा अनेक प्रकार के रोगों के कारण सम्पूर्ण शरीर में ताप उत्पन्न करने वाले प्रायः कृच्छ साध्य होते हैं[2]। स्थान विशेष के कारण अर्श की साध्यता एवं कृच्छ्रसाध्यता होती है।

1. "रक्तोल्बणा गुदे कीलाः पित्ताकृतिसमन्विता। वटप्ररोहसदृशा गुञ्जाविद्रुमसन्निभाः॥
तेऽत्यर्थं दुष्टमुष्णं च गाढ़विट् प्रतिपीडिताः। स्रवन्ति सहसा रक्तं तस्य चातिप्रवृत्तितः॥
भेकाभः पीड्यते दुखैः शोणितक्षयसम्भवैः। हीनवर्णबलोत्साहो हतौजाः कलुषेन्द्रियः॥"
(अ.हृ.नि. 7/43-45)
2. "पंचात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम्। सर्व एवं प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवै॥
तस्मादर्शांसि दुःखानि बहुव्याधिकराणि च। सर्वदेहोपतापीनि प्रायः कृच्छ्रतमानि च॥"
(च.चि. 14/24-25)

1. साध्य अर्श के लक्षण[1]

(i) एकदोषज

(ii) संवरणी गुद बली में उत्पन्न

(iii) नवीन अर्श (1 वर्ष से अधिक पुराने न हों) सुख साध्य होते हैं।

2. कृच्छ्रसाध्य अर्श के लक्षण[2]

1. द्वन्दज अर्श
2. द्वितीय बलि में उत्पन्न
3. एक वर्ष से पुराने अर्श कृच्छ्रसाध्य होते हैं।

3. असाध्य अर्श के लक्षण[3]

1. जिस रोगी के हाथ, पैर, मुख, नाभि, गुदा एवं अण्डकोश में शोथ हो, हृदय एवं पसलियों में शूल हो।
2. जिस रोगी में मूर्च्छा, वमन, सर्वाङ्ग वेदना, ज्वर, प्यास एवं गुद प्रदेश में पाक हो।
3. सहज अर्श।
4. त्रिदोषज अर्श।
5. तृतीय (आभ्यन्तर) बलि में स्थित अर्श असाध्य होते हैं।

सापेक्ष निदान

क्र.सं.	अधोग रक्त पित्त	रक्तार्श	रक्तातिसार
1.	मांसाकुर नहीं होते	मांसाकुर होते हैं	मांसांकुर नहीं होते।
2.	मल के बिना भी रक्तस्राव	मल त्याग के पूर्व व पश्चात् रक्तस्राव	मल रक्त युक्त होता है।
3.	रक्त स्राव अधिक	रक्त स्राव कुछ कम	रक्तस्राव बहुत कम।
4.	पीड़ा नहीं होती	मल त्याग में पीड़ा	पीड़ा नहीं होती।
5.	दूषित रक्त स्राव	शुद्ध रक्त स्राव	शुद्ध रक्त स्राव।
6.	अग्निमांद्य नहीं	अग्निमांद्य ++	अग्निमांद्य+++

1. "बाह्यायांतु बलौ जातान्यैकदोषोल्वणानि च। अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरात्पतितानि च॥" (च.चि. 14/31)
2. "द्वन्द्वजानि द्वितीयाना बलौ यान्यश्रितानि च। कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसवंत्सराणि च॥" (च.चि. 14/30)
3. "हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा। शोथो हृत्पार्श्वशूलं च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः॥ हृत्पार्श्वशूलं संमोह छर्दिरङ्गस्य रुग् ज्वरः। तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्ति गुदजातुरम्। सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरां बलिम्। जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत्॥" (च.चि. 14/26-28)

चिकित्सा सिद्धान्त-अर्श की चिकित्सा के प्रमुख सिद्धान्त निम्न हैं-

शुष्कार्श चिकित्सासूत्र

1. अर्श रोग शीघ्र चिकित्स्य है यदि उसकी शीघ्र चिकित्सा न की गई तो वह मलवाही स्रोत द्वारा गुदा के मार्ग को बंद कर शीघ्र ही बद्धगुदोदर उत्पन्न करता है[1]।
2. जकड़ाहट युक्त शुष्कार्श में सर्वप्रथम स्वेदन कर्म कराना चाहिये। तक्र, काञ्जी या गर्म गोमूत्र में अवगाहन कराना हितकर है[2]।
3. अग्निमांद्य की स्थिति में भोजन पूर्व हरड़ व गुड़ को पाचनार्थ प्रयोग कराया जाय[3]।
4. वात-कफज अर्श में तक्र का प्रयोग श्रेष्ठ है। वातज अर्श में स्नेहयुक्त तक्र व कफज में स्नेह रहित तक्र का प्रयोग करना चाहिये[4]।
5. शुष्कार्श के रोगी को उदावर्त होने पर अनुवासन एवं निरुहवस्ति का प्रयोग करना चाहिये[5]।

रक्तार्श चिकित्सा सूत्र

1. रक्तार्श में यदि वात का अनुबंध है तो स्निग्ध एवं शीतल आहार विहार तथा औषध का प्रयोग करायें तथा कफानुबंध है तब रुक्ष एवं शीतल आहार विहार एवं औषध द्रव्यों का प्रयोग हितकर है[6]।
2. पित्त एवं कफ की अधिकता देखकर रक्तार्श के रोगी में वमन कराना चाहिये[7]।
3. अर्श से होने वाले रक्त स्राव की उपेक्षा करना चाहिये व लघंन कराना चाहिये[8]।

1. "तेषां प्रशमने यत्नमाशु कुर्याद्विचक्षणः। तान्याशु हि गुदं बद्ध्वा कुर्युर्बद्धगुदोदरम्॥" (च.चि. 14/32)
2. "स्तब्धानि स्वेदयेत् पूर्वं शूलशोफान्वितानि च॥" (च.चि. 14/39)
3. "बिल्वक्काथे तथातक्रदधिमाण्डाम्लकाञ्जिके। गोमूत्रे वा सुखोष्णे तं स्वभ्यक्तमवगाहयेत्॥" (च.चि. 14/47)
4. "पाचनं पाययेद्वा तद्यदुक्तं हयातिसारके। सगुडाम्लभयां वापि प्राशयेत् पौर्वभक्तिकीम्॥" (च.चि. 14/65)
5. "वातश्लेष्मार्शसां तक्रात् परं नास्तीहभेषजम्। तत् प्रयोज्यं यथा दोषं सस्नेहं रुक्षमेव वा॥" (च.चि. 14/78)
6. "स्निग्धशीतं हितं वाते रुक्षशीतं कफानुगे। चिकित्सतमिदं तस्माद् संप्रधार्य प्रयोजयेत्" (च.चि. 14/175)
7. "पित्तश्लेष्माधिकं मत्वा शोधनेनोपपादयेत्।" (च.चि. 14/176)
8. "स्रावणं चाप्युपेक्षेत लंघनैर्वा समाचरेत्॥" (च.चि. 14/176)

4. दुष्ट रक्त के निकल जाने पर रक्तस्राव को बंद करने के लिये तिक्त द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिये[1]।
5. गर्मी के दिनों में पित्त प्रधान रक्तार्श में रक्तस्राव को तुरन्त बंद करना चाहिये।
6. रक्तार्श में पिच्छावस्ति व अनुवासन वस्ति का प्रयोग करना चाहिये[2]।
7. अर्श से पीड़ित रोगी में बारी-बारी से मधुर-अम्ल एवं शीत-ऊष्ण द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये[3]।
8. अर्श, अतिसार एवं ग्रहणी रोग परस्पर एक दूसरे के हेतु हैं एवं अग्निमांद्य से उत्पन्न होते हैं तथा अग्नि की वृद्धि होने पर स्वतः शांत हो जाते हैं[4]-

शल्य प्रधान ग्रंथों में अर्श की चिकित्सा के 4 सिद्धान्त वर्णित हैं[5]-

1. **भेषज**-अल्पदोष व अल्प उपद्रव युक्त अर्श में।
2. **क्षारकर्म**-मृदु, अवगाढ़, रक्तज, पित्तार्श में।
3. **अग्निकर्म**-कर्कश, कठिन, वात-कफज अर्श में।
4. **शस्त्रकर्म**-तनुमूल, समस्त दोषज अर्श शस्त्रकर्म साध्य हैं।

चिकित्सा-अर्श की संशोधन एवं संशमन चिकित्सा निम्नानुसार है-

1. संशोधन चिकित्सा

1. वमन
2. विरेचन
3. आस्थापन एवं अनुवासनवस्ति
4. पिच्छावस्ति

2. संशमन चिकित्सा-अर्श की शास्त्रोक्त संशमन चिकित्सा के प्रमुख योगों का वर्णन निम्न प्रकार है-

1. रस/भस्म/पिष्टी

मात्रा - 125 - 250 मि.ग्रा.
अनुपान - ऊष्ण जल

(i) अर्शकुठार रस- पारद, गंधक, लौहभस्म, अभ्रक भस्म, दन्ती, शूरण।

1. "अग्निसंदीपनार्थं च रक्तसंग्रहणाय च। दोषाणां पाचनार्थं च परं तिक्तैरुपाचरेत्॥" (च.चि. 14/162)
2. "पिच्छावस्तिरयं सिद्धः सघृतक्षौद्रशर्करः॥" (च.चि. 14/128)
3. "व्यत्यासान्मधुराम्लानि शीतोष्णानि च योजयेत्। नित्यमग्निबलापेक्षी जयत्यर्शः कृतान् गदान्॥" (च.चि. 14/243)
4. "त्रयोविकारा प्रायेण ये परस्पर हेतवः। अर्शांसि चातिसारश्च ग्रहणीदोष एव च॥ एषामग्निबले हीने वृद्धिर्वृद्धे परिक्षयः। तस्मादग्निबलं रक्ष्यमेषु त्रिषु विशेषतः॥" (च.चि. 4/244-245)
5. "दुर्नाम्नां साधनोपायश्चतुर्धा परिकीर्तितः। भेषजक्षारशस्त्राग्नि साध्यत्वादाद्य उच्यते॥" (भै.र. 9/1)

(ii) चक्राख्यो रस- पारद, अभ्रकभस्म, वैक्रान्त भस्म, ताम्रभस्म, कांस्यभस्म।
(iii) नित्योदित रस-पारद, गंधक, अभ्रकभस्म, लौहभस्म, शुद्ध वत्सनाभ।
(iv) अष्टांङ्ग रस- पारद, गंधक, मण्डूर, त्रिफला, त्रिकटु, दालचीनी।

2. वटी

मात्रा - 250 - 500 मि.ग्रा.
अनुपान - कोष्ण जल

(i) पंचानन वटी-पारद, रस सिन्दूर, लौह, अभ्रक, सूरणकंद, मानकंद।
(ii) जातिफलादि वटी-जायफल, लवंग, विडंग, पिप्पली, सुण्ठी, सैंधव।
(iii) शिलागंधक वटी- मनःशिला, गंधक।
(iv) चन्द्रप्रभा वटी-त्रिफला, त्रिकटु, त्रिमद, सैंधव, यवक्षार, स्वर्ण माक्षिक, शिलाजीत।

3. चूर्ण

मात्रा - 3 - 6 ग्राम
अनुपान - उष्ण जल

(i) त्र्यूषणाद्य चूर्ण- षड्षण, पाठा, हींग, पुष्करमूल, जीरक।
(ii) समशर्कर चूर्ण- चतुर्जात, त्रिकटु, चीनी।
(iii) व्योषाद्य चूर्ण- त्रिकटु, भल्लातक, बिडंग, तिल, हरड़।
(iv) विजय चूर्ण-त्रिफला, त्रिकटु, त्रिजात, वचा, हींग, पाठा, यवक्षार।
(v) धत्तूरादि चूर्ण-धत्तूर, पिप्पली, हरीतकी, नेत्रबाला।

4. क्वाथ/आसव-अरिष्ट

मात्रा - 20 - 30 मि.ली.
अनुपान - जल

(i) चन्दनादिक्वाथ-चन्दन, किरात तिक्तक, यवासा, दालचीनी।
(ii) चिरबिल्वादिक्वाथ-करंज, पुनर्नवा, हरड़, पीपर, सोंठ, सैंधव।
(iii) दन्त्यरिष्ट-दन्ती, चित्रक, दशमूल, गोक्षुर।
(iv) द्राक्षासव-द्राक्षा, जावित्री, लौंग, त्रिजात।
(v) अभयारिष्ट-हरड़, मुनक्का, विडंग, गोक्षुर।
(vi) तक्रारिष्ट-स्याहजीरा, धनिया, जीरा, कचूर, अजवाइन, पिप्पलीमूल।
(vii) फलारिष्ट-हरड़, आंवला, पाठा, चित्रक, कपित्थ।
(viii) कनकारिष्ट-आंवला, पीपर, विडंग, मरिच, पाठा, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक।

5. घृत

मात्रा – 10 – 30 मि.ली.

अनुपान – ऊष्ण जल/तक्र

(i) चव्यादि घृत– चव्य, त्रिकटु, पाठा, यवक्षार, विड़लवण।

(ii) नागराद्य घृत– सोंठ, पिप्पलीमूल, चित्रक, गोक्षुर, पीपर, धनिया।

(iii) पिप्पल्यादि घृत– पीपर, सोंठ, गोक्षुर, पाठा।

(iv) सुत्रिषणक चांगेरीघृत– सौंफ, बला, दारुहरिद्रा, उदुम्बर, गोक्षुर।

अनुवासनार्थ

(v) कासीसाद्य तैल–कासीस, दन्ती, सैंधव, कनेर, चित्रक।

(vi) पिप्पल्याद्य तैल–पीपल, मुलैठी, बिल्व गूदा, सौंफ, मदनफल, सुण्ठी।

6. पाक/अवलेह

मात्रा – 15 – 20 ग्राम

अनुपान – दूध

(i) गुड़भल्लातक प्रयोग–दशमूल, अमृता, भार्गी, श्वदंष्ट्रा, चित्रक, शटी।

(ii) श्रीबाहुशाल गुड़–त्रिवृत, दन्ती, चव्य, गोक्षुर, चित्रक, कंचूर, मोथा, शुण्ठी।

(iii) दशमूल गुड़– दशमूल, चित्रक, दन्ती, पीपल।

(iv) कुटजादि रस क्रिया– कुटज छाल, मोचरस, मंजीठ।

7. मोदक

मात्रा – 250 मि.ग्रा.

अनुपान – तक्र

(i) कांकायन मोदक–हरीतकी, जीवक, कालीमिर्च, पिप्पली, चित्रक, भिलावा।

(ii) प्राणदा गुटिका–आर्द्रक, सोंठ, मरिच, पीपल, चव्य, तालीस, नागकेशर।

(iii) मणिभद्र मोदक–विडंग, आंवला, हरड़, त्रिवृत, गुड़।

(iv) सूरण मोदक–काली मिर्च, सुण्ठी, पीपल, मरिच।

(v) भल्लातकादि मोदक–भल्लातक, काला तिल, हरड़।

(vi) कृष्णतिलादि योग–कृष्ण तिल।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. प्रातः सायम्

अर्शकुठार रस –	250 मि.ग्रा.
समशर्कर चूर्ण –	2 ग्राम
विजय चूर्ण –	2 ग्राम
तक्र से	1 × 2 मात्रा

2. भोजनोत्तर

कांकायन गुटिका –	2/2/2
अभयारिष्ट –	20 मि.ली.
समभाग जल से	1 × 2 मात्रा

3. रात्रि

पंचसकार चूर्ण –	3 ग्राम
कोष्ण जल	1 मात्रा

4. अर्श पर लगाने हेतु– जात्यादि तैल (स्थानिक प्रयोगार्थ)

रक्तार्श में

1. प्रातः सायम्

नित्योदित रस –	250 मि.ग्रा.
जातीफलादि वटी –	250 ग्राम
शंखभस्म –	500 मि.ग्रा.
मधु से	1 × 2 मात्रा

2. भोजनोत्तर

समशर्कर चूर्ण –	3 ग्राम
कोष्ण जल से	1 × 2 मात्रा
चन्दनासव	20 मि.लि.
समजल	1 × 2 मात्रा

3. रात्रि

अविपत्तिकर चूर्ण	3 ग्राम
कोष्ण जल से	1 मात्रा

4. स्थानिक प्रयोगार्थ –कासीसाद्य तैल, जात्यादि तैल

पथ्य एवं अपथ्य

1. शुष्कार्श

पथ्य आहार	विहार
साठी चावल, गेहूँ, अरहर, जौ, आंवला, मुद्ग, घृत, लौकी, परवल, पालक, शूरण, हरीशाक, मांसरस, सैंधव, पपीता, सेब, तक्र, खीरा, अंगूर, आम आदि।	व्यायाम, वमन, विरेचन, अनुवासन, पिच्छावस्ति आदि।

अपथ्य आहार	विहार
गुरू, विष्टम्भी पदार्थ, उड़द, चना, गर्ममसाले, अचार, आलू, कन्दशाक, अध्यशन, अति मात्रा में भोजन आदि।	दिवास्वाप, उत्कट बैठना, घोड़ा-ऊंट की सवारी, वेगावरोध आदि।

2. रक्तार्श

पथ्य आहार	अपथ्य आहार
साठी चावल, गेहूं, जौ, मूंग, अरहर, मसूर, मिश्री, गाय एवं बकरी का दूध, घृत, खरगोश, तीतर, बटेर का मांसरस, हरी सब्जी, कुलत्थ, कांजी, फल, सूरण, तक्र, आमलकी, कपित्थ, पटोल आदि।	गुरू, अभिष्यन्दी पदार्थ, लवण, गर्ममसाले, विदाही पदार्थ, मैथुन आदि।

Latest Developments
Piles-Haemorrhoids

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान मे अर्श को Piles या Haemorrhoids कहते हैं।

Varicosities of the haemorrhoidal venous plexus which could be acute, chronic or relapsing is called Haemorrhoids. Divided into four degrees, all of which bleed, but 2nd degree prolapses, 3rd degree needs manual reduction & 4th degree gets incarcerated.

Clinical Features

1. Bleeding per rectum
2. Pain in piles locally
3. Pruritus
4. Mucoid local discharge
5. Straining of stool
6. Constipation
7. Occasional painful prolapsed thrombosed mass
8. Anaemia in chronic bleeding

Management : Principles

1. Treatment is medical on an outpatient basis except for severe cases needing surgery.
2. Avoidance of constipation.
3. Local measures and Sitz's Baths for relief of symptoms.
4. High fibre diet & increased intake of fluids.
5. Elimination of constipating foods like cheese, unripe fruits.
6. More exercise, and reduction of time spent on the commode.
7. Detail patient on use of Haemorrhoidal creams.

नवम खण्ड

त्वक् गत रोग

त्वचा परिचय

शुक्र शोणित का संयोग होने पर एवं भूतात्मा के प्रवेश के पश्चात्, त्रिदोषों विशेषत: पित्त दोष के द्वारा वर्धित होते हुए गर्भ के पृष्ठ भाग पर त्वचा की कई तहें (स्तर-layers) बनती हैं एवं सर्वाङ्गपरिपूर्ण गर्भ के शरीर पर ये सब तहें मिलकर त्वचा (Skin) बनाती हैं[1]। अत: सम्पूर्ण शरीर को बाहर से आवृत करने वाला अंग त्वचा है। आचार्य सुश्रुत ने त्वचा के सात भेद बतलाए हैं जो निम्न प्रकार हैं—

(i) अवभासिनी

यह सभी वर्णों (कृष्ण, श्याम, गौर आदि) को प्रकट करती है और पाँचों प्रकार की छाया को प्रकाशित करती है। यह सबसे पतली व बाहरी तह है। यह सिध्म और पद्मकण्टक रोग का अधिष्ठान है[2]। आचार्य चरक ने इसे उदकधरा कहा है। आधुनिक मतानुसार यह Horny layer है।

(ii) लोहिता[3]

इसे आचार्य चरक ने रक्तधरा कहा है। इसमें रक्तवाहिनियाँ (Capillaries) रहती हैं इसलिए इसका रंग या वर्ण लाल होता है। इसमें तिलकालक, न्यच्छ व व्यङ्ग रोग का अधिष्ठान होता है। आधुनिक मतानुसार यह Stratum lucidum है।

(iii) श्वेता[4]

इसका वर्ण श्वेत या सफेद होता है। आधुनिक मतानुसार इसे Stratum Granulosum कहते हैं। इसमें चर्मदल, अजगल्ली, व मशक रोगों का अधिष्ठान होता है। आचार्य चरक ने इसे तीसरी त्वचा कहा है।

1. "तस्य खल्वेवं प्रवृत्तस्य शुक्रशोणितस्याभिपच्यमानस्य क्षीरस्येव सन्तानिका: सप्तत्वचो भवन्ति।" (सु.शा. 4/3)
2. "तासां प्रथमाऽवभासिनी नाम, या सर्ववर्णावभासयति षड्विधां च छायां प्रकाशयति, सा व्रीहेरष्टादशभाग प्रमाणा, सिध्मपद्मकण्टकाअधिष्ठाना;॥" (सु.शा. 4/3)
3. "द्वितीया लोहिता नाम, व्रीहिषोडशभागप्रमाणा, तिलकालकन्यच्छव्यङ्गाधिष्ठाना;॥" (सु.शा. 4/3)
4. "तृतीयाश्वेता नाम, व्रीहि[illegible]दशभाग प्रमाणा, चर्मदलाजगल्ली मशकाधिष्ठाना॥" (सु.शा. 4/3)

(iv) ताम्रा[1]

इसका वर्ण ताम्र की तरह रक्तवर्ण होता है। आधुनिक मतानुसार इसे Malpighian layer कहा जाता है। इसका समावेश आचार्य चरकोक्त तीसरी त्वचा में होता है[2]। इसमें किलास (श्वित्र) व कुष्ठ (Skin diseases) का अधिष्ठान होता है।

उपर्युक्त वर्णित चारों प्रकार की त्वचाओं को आधुनिक मतानुसार बाह्यत्वचा (Epidermis) के अंतर्गत समाविष्ट किया जाता है।

(v) वेदिनी[3]

यह आधुनिक मतानुसार Papillary layer कहलाती है। इसमें कुष्ठ तथा विसर्प रोग का अधिष्ठान होता है। आचार्य चरक ने इसे चौथी त्वचा के अंतर्गत माना है जिसमें दद्रु व कुष्ठ की उत्पत्ति बताई है। अत: स्पष्ट है कि कुष्ठ रोग का आश्रय आचार्य चरक ने चौथी त्वचा में व आचार्य सुश्रुत ने पांचवी (वेदनी) त्वचा में माना है।

(vi) रोहिणी[4]

इसे आचार्य चरक ने पांचवी त्वचा माना है। यह आधुनिक मत से Reticular Layer कहलाती है। यह त्वचा ग्रंथि, अपची, अर्बुद, श्लीपद, गलगण्ड एवं अलजी आदि रोगों का अधिष्ठान मानी गयी है।

उपर्युक्त वेदिनी व रोहिणी को मिलाकर अन्तस्त्वचा (Dermis) कहा जाता है।

(vii) मांसधरा[5]

इसे आधुनिक मतानुसार "Subcutaneous tissue & muscles" माना जाता है। आचार्य सुश्रुत ने इसमें भगन्दर, विद्रधि एवं अर्श रोग का अधिष्ठान माना है। आचार्य चरक ने इसे छठी त्वचा के अंतर्गत माना है। इसके कट जाने पर मनुष्य अन्धे की तरह अपने को अन्धकार में प्रविष्ट हुआ अनुभव करता है।

---

1. "चतुर्थी ताम्रा नाम व्रीहेरष्टभागप्रमाणा विविधकिलासकुष्ठाधिष्ठाना॥" (सु.शा. 4/3)
2. "तृतीया सिध्मकिलाससंभवाधिष्ठाना॥" (च.शा. 7/4)
3. i) "पञ्चमी वेदिनी नाम, व्रीहिपञ्चभागप्रमाणा कुष्ठविसर्पाधिष्ठाना॥" (सु शा. 4/3)
   ii) "चतुर्थी दद्रूकुष्ठसंभवाधिष्ठाना॥" (च.शा.7/4)
4. i) "षष्ठ रोहिणीनाम, व्रीहिप्रमाणा ग्रंथ्यपच्यर्बुदश्लीपदगलगण्डाधिष्ठाना॥" (सु.शा. 4/3)
   ii) "पञ्चमी त्वलजीविद्रधिसम्भवाधिष्ठाना॥" (च.शा. 7/4)
5. i) "सप्तमी मांसधरा नाम, व्रीहिद्वयप्रमाणा, भगन्दरविद्रध्यर्शोऽधिष्ठाना॥" (सु.शा. 4/3)
   ii) "षष्ठी तु यस्यां ..... । .....षट्त्वचः॥" (च.शा. 7/4)

त्वचा रोग

पित्त दोषज एवं रक्त धातु प्रदोषज विकार त्वचा रोगों के अंतर्गत आते हैं। यह सम्बन्ध आश्रय-आश्रयी भाव से है। पित्त दोष से होने वाली त्वग्दाह, त्वग्दरण (त्वचाओं का फटना), चर्मदलन (चमड़ी फट जाना), रक्त कोठ, रक्तविस्फोट, रक्तमण्डल (रक्तवर्ण के गोलाकार चकत्ते) आदि रोग[1], कफ दोष से होने वाले उदर्द आदि रोग एवं रक्त धातु से होने वाले कुष्ठ, वीसर्प, पिड़का, व्यङ्ग, पिप्लु, तिलकालक, दद्रु, चर्मदल, श्वित्र, पामा, कोठ, रक्तमण्डल आदि रोग त्वचा रोगों के अंतर्गत सम्मिलित किए जाते हैं[2]। उपर्युक्त रोगों में से कुछ रोग क्षुद्र रोगान्तर्गत आते हैं, अत: उनका विस्तृत वर्णन काय चिकित्सा तृतीय भाग में किया गया है। यहाँ पर कुष्ठ, किलास (श्वित्र), विसर्प, शीतपित्त-उदर्द-कोठ एवं त्वचा रोगों में रोगाणुजन्य संक्रमण आदि का विस्तृत वर्णन किया जा रहा है—

---

1. "पित्तविकारांश्चत्वारिंशतमल ..... । .....व्याख्याता: ॥" (च.सू. 20/14)
2. "श्लेष्म विकारांश्च ..... । .....व्याख्याता भवन्ति॥" (च.सू. 20/17)
3. "वक्ष्यन्ते रक्तदोषजा: । कुष्ठवीसर्पपिडका ..... । .....श्वित्रं पामा कोठास्रमण्डम्॥" (च.सू. 28/11,12)

अध्याय-57

कुष्ठ रोग

(SKIN DISEASES)

व्याधि परिचय

कुष्ठ को रक्तज विकार माना गया है। इसे महागद भी कहा गया है। आचार्य सुश्रुत ने औपसर्गिक (Infectious) रोगों में इसकी गणना की है[1]। व्यापक रूप से त्वचा में होने वाले समस्त विकारों को कुष्ठ के अंतर्गत समाविष्ट कर सकते हैं। आचार्य सुश्रुत ने कुष्ठ के लिए त्वगामय शब्द का प्रयोग किया है। धार्मिक ग्रन्थों में इसका कारण पापाचरण माना गया है, यह इसके दीर्घकालीन व्याधि दारुणता को देखकर किया गया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान (Allopathy) में भी इसे छूत का रोग (Infectious Disease) माना गया है। यह जीर्ण स्वरुप (Chronic) की व्याधि है। त्वचा से प्रारंभ होकर उत्तरोत्तर धातुओं में प्रवेश करके गम्भीर रुप धारण करती है[2]। भ्रमवश कुष्ठ रोग का अर्थ आजकल Leprosy से लिया जाता है। शास्त्रीय दृष्टि से आयुर्वेदीय कुष्ठ रोग के अंतर्गत Leprosy के अतिरिक्त अन्य समस्त त्वचागत विकारों का समावेश भी हो जाता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता, निदान स्थान-अध्याय 5
2. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 7
3. सुश्रुत संहिता, निदान स्थान-अध्याय 5
4. सुश्रुत संहिता, निदान स्थान-अध्याय 9
5. अष्टाङ्ग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 14
6. अष्टाङ्ग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 19
7. माधव निदान, उत्तरार्ध-अध्याय 49

1. "प्रसङ्गाद् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्। सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥ कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च। औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥" (सु.नि. 5/33-34)
2. "एवं कुष्ठं समुत्पन्नं त्वचि कालप्रकर्षतः। क्रमेण धातून् व्याप्नोति नरस्याप्रतिकारणः॥" (सु.नि. 5/21)

निरुक्ति/व्युत्पत्ति

i. "कुष्णाति वपु इति कुष्ठम्" अर्थात् जो शरीर की त्वचा को विकृत करे वह कुष्ठ है। देह को कुत्सित करने वाले रोग को कुष्ठ कहा जाता है।
ii. कुष्णाति अङ्गम्। कुष निष्कर्षे (क्रया.प.से.) 'निकुषि' (उ.2/2) इति क्थन्। कुत्सितं निष्ठति वा। 'सुषि-' (3/2/4) इति कः। 'अम्बाम्ब-' (8/3/97) इति षः। अमरकोष-रामाश्रमी टीका 2/6/54

अर्थात् जो रोग शरीर के अंग, प्रत्यंग, धातु, उपधातु को गलाकर विकृत कर दे उसे कुष्ठ कहते हैं।

परिभाषा—मानव शरीर की त्वचा आदि धातुओं का नाश करने के कारण इसे कुष्ठ रोग कहते हैं[1]।

पर्याय—त्वगामय, कुष्ठ

निदान

विभिन्न आचार्यों के अनुसार कुष्ठ रोग के निदान निम्नानुसार वर्णित हैं[2]—

(1) आहार जन्य निदान

i. विरुद्धाहार यथा शीत-उष्ण, गुरु-लघु, मधुर-लवण, रुक्ष-स्निग्ध आदि का व्यतिक्रम।
ii. द्रव व स्नेह बहुल्य गुरु (गरिष्ठ) पदार्थों का अत्यधिक सेवन

1. "त्वचः कुर्वन्ति वैवर्ण्यं दुष्टाः कुष्ठमुशन्ति तत्॥ कालेनोपेक्षितं यस्मात् सर्वं कुष्णाति तद्वपुः।" (अ.स.नि. 14/4-5)
2. i) "तत्रेदं सर्वकुष्ठ निदानं..... । ..... कुष्ठान्यभिनिर्वर्तयन्ति॥" (च.नि. 5/6)
   ii) "विरोधीन्यन्नपानानि द्रवस्निग्धगुरुणि च। भजतामागतां छर्दिं वेगांश्चान्यान् प्रतिघ्नताम्॥ व्यायाममतिसन्तापमति भुक्तवोसेविनाम्। शीतोष्णलङ्घनाहारान् क्रमं मुक्त्वा निषेविणाम्॥ धर्माध्वभयार्तानां द्रुतं शीताम्बुसेविनाम्। अजीर्णाध्यशिनां चैव पञ्चकर्मापचारिणाम्॥ नवान्नदधिमत्स्यातिल लवणाम्लनिषेविणाम्। माषमूलकपिष्टान्नतिलक्षीरगुडाशिनाम्॥ व्यवायं चाप्यजीर्णेऽन्ने निद्रां च भजतां दिवा। विप्रान् गुरून् धर्मयतां पापं कर्म च कुर्वताम्॥" (च.चि. 7/4-8)
   iii) "मिथ्याहाराचारस्य ..... । ..... छर्दिं वा प्रतिहन्ति॥" (सु.नि. 5/3)
   iv) "मिथ्याहारविहारेण विशेषेण विरोधिना। साधुनिन्दावधान्यस्वहरणाद्यैश्च सेवितैः॥ पाप्मभिः कर्मभिः सद्यः प्राक्तनैर्वेरिता मलाः।" (अ.हृ.नि. 14/1-2)
   v) "ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभिः। कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य संभवम्॥" (सु.नि. 5/30)

iii. नवीन अन्न, दधि, मत्स्य (मछली), लवण अम्ल, माष (उड़द), मूली, पिष्टान्न, गुड़, दूध, तिल का अति मात्रा में सेवन करना
vi. अजीर्ण रहने पर भोजन करना
v. अध्यशन करना
vi. मधु, राब, लकुच, काकमाची का अतिसेवन
vii. क्षीर के साथ चिलचिम मछली का सेवन
viii. हायनक, यवक, उद्दालक, कोरदूष का प्रायः दूध, दही, तक्र, कुल्थी, उड़द व स्नेह के साथ सेवन करना
ix. अति स्नेह सेवन करना

(2) विहार जन्य निदान

i. अति भोजन के पश्चात् व्यायाम करना, धूप सेवन करना
ii. दिन में निद्रा सेवन करना
iii. धूप, परिश्रम तथा भय के पश्चात् सहसा शीतल जल सेवन करना या स्नान करना
vi. भोजन के न पचने पर मैथुन करना
v. मल-मूत्रादि का वेग धारण करना

(3) अन्य निदान

i. पंचकर्म की व्यापत्ति होना
ii. विप्र, ब्राह्मण व गुरु का तिरस्कार करना
iii. पापों का आचरण करना
vi. सज्जन, साधु व श्रेष्ठजन का तिरस्कार व निंदा करना
v. वमन (छर्दि) के वेग को रोकना
vi. पूर्व जन्म के पाप कर्म
vii. ब्रह्महत्या, स्त्रीहत्या, सज्जनवध के कारण इस पाप कर्म जन्य कुष्ठ की उत्पत्ति होती है
viii. रक्तज क्रमि होना[1]
ix. वंशानुगत

आचार्य सुश्रुत ने स्पष्ट किया है कि यदि मनुष्य कुष्ठ रोग से पीड़ित होकर मरता है तो अगले जन्म में भी उसे कुष्ठ रोग ही होता है। इसलिये कुष्ठ से अधिक दुःखदायी कोई रोग नहीं है[2]।

1. "सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि सपित्तानि-सश्लेष्माणि सक्रिमीणि च भवन्ति॥" (सु.नि. 5/6)
2. "म्रियते यदि कुष्ठेन पुनर्जातेऽपि गच्छति। नातः कष्टतरो रोगो यथा कुष्ठं प्रकीर्तितम्॥" (सु.नि. 5/31)

भेद

आचार्य चरक ने कुष्ठ रोग को सात प्रकार का (महाकुष्ठ), अठारह प्रकार का (क्षुद्रकुष्ठ) एवं अपरिसंख्येय माना है[1]।

अतः बृहत्त्रयी के अनुसार महाकुष्ठ व क्षुद्रकुष्ठ के विभिन्न भेद निम्नानुसार वर्णित हैं—

1. महाकुष्ठ[2]

क्र.स.	आचार्य चरक	आचार्य सुश्रुत	आचार्य वाग्भट्
1.	कपाल	कपाल	कापाल
2.	औदुम्बर	उदुम्बर	औदुम्बर
3.	मण्डल	अरुण	मण्डल
4.	ऋष्यजिह्व	ऋष्यजिह्व	ऋष्यजिह्व
5.	पुण्डरीक	पुण्डरीक	पुण्डरीक
6.	सिध्म	दद्रु	दद्रु
7.	काकणक	काकणक	काकणक

आचार्य वाग्भट्[3] ने दोषानुसार महाकुष्ठ के निम्न सात भेद वर्णित किए हैं—

i. वातज
ii. पित्तज
iii. कफज
iv. वात पित्तज
v. वातकफज
vi. पित्तकफज
vii. त्रिदोषज

1. "स सप्तविधोऽष्टादशविधोऽपरिसंख्येयविधो वा भवन्ति।" (च.नि. 5/4)
2. i) "कपालोदुम्बरमण्डलर्ष्यजिह्वपुण्डरीकसिध्मकाकणकैक।" (च.चि. 7/13)
   ii) "तत्र महाकुष्ठान्यरुणोदुम्बरर्ष्य(र्क्ष)जिह्वकपालकाकणकपुण्डरीकदद्रूकुष्ठानीति॥" (सु.नि. 5/5)
3. "कुष्ठानि सप्तधा दोषैः पृथक्मिश्रैः समागतैः॥" (अ.स.नि. 14/7) (अ.ह.नि. 14/6)

2. क्षुद्रकुष्ठ[1]

क्र.स.	आचार्य चरक	आचार्य सुश्रुत	आचार्य वाग्भट्
1.	एककुष्ठ	एककुष्ठ	एककुष्ठ
2.	चर्माख्य	स्थूलारुष्क	चर्मकुष्ठ
3.	किटिभ	किटिभ	किटिभ
4.	विपादिका	महाकुष्ठ	विपादिका
5.	अलसक	विसर्प	अलसक
6.	दद्रु	परिसर्प	सिध्म
7.	चर्मदल	चर्मदल	चर्मदल
8.	पामा	पामा	पामा
9.	विस्फोट	सिध्म	विस्फोट
10.	शतारु	रकसा	शतारु
11.	विचर्चिका	विचर्चिका	विचर्चिका

कुष्ठ के विभिन्न भेदों (18 भेद) में दोष प्रधानता[2]

1.	कापाल कुष्ठ	वात प्राधान्य
2.	औदुम्बर कुष्ठ	पित्त प्राधान्य
3.	मण्डल व विचर्चिका कुष्ठ	कफ प्राधान्य
4.	ऋष्यजिह्व कुष्ठ	वात-पित्त प्राधान्य
5.	चर्मकुष्ठ, एककुष्ठ, किटिभ, सिध्म, अलसक, विपादिका कुष्ठ	वात-कफ प्राधान्य
6.	दद्रु, शतारु, पुण्डरीक, विस्फोट, पामा, चर्मदल कुष्ठ	कफ-पित्त प्राधान्य
7.	काकणक	त्रिदोष प्राधान्य

यद्यपि सभी कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं, किन्तु जिस कुष्ठ में जिस दोष की अधिकता होती है उसी के अनुसार उसका नामकरण किया जाता है।

1. i) "एककुष्ठचर्माख्य किटिभ विपादिकालसकदद्रूचर्मदलपामाविस्फोटकशतारुर्विचर्चिका॥" (च.चि. 7/13)
   ii) "क्षुद्रकुष्ठान्यपि स्थूलारुष्क महाकुष्ठमेककुष्ठं चर्मदलं विसर्पः परिसर्पः सिध्मं विचर्चिका किटिभं (मं) पामा रकसा चेति॥" (सु.नि. 5/5)
2. "सर्वेष्वपि त्रिदोषेषु व्यपदेशोऽधिकत्वतः। वातेन कुष्ठं कापालं पित्तादौदुम्बरं कफात्॥ मण्डलाख्यं विचर्ची च ऋष्याख्यं वातपित्तजम्। चर्मैककुष्ठ किटिभसिध्मालसविपादिकाः॥ वातश्लेष्मोद्भवाः श्लेष्मपित्ताद्दद्रुशतारुषौ। पुण्डरीकं सेविस्फोटं पामा चर्मदुलं तथा॥ सर्वैः स्यात् काकणं पूर्वं त्रिकं दद्रु सकाकणम्। पुण्डरीकर्ष्यजिह्वे च महाकुष्ठानि सप्ततु॥" (अ.स.नि. 14/8-1)

सम्प्राप्ति

पूर्व वर्णित निदानों के सेवन से प्रकुपित हुए त्रिदोष (वात-पित्त-कफ) त्वचा, रक्त, मांस, लसीका (अम्बु) को शिथिल कर दूषित करते हैं। तत्पश्चात ये सात कारण द्रव्य त्वचा में स्थान संश्रय करते हैं, वहाँ पर ये एक प्रकार का मण्डल (चकत्ता) बनाते हैं। इस अवस्था में चिकित्सा नहीं करने पर ये दोष अन्य रोममार्ग से विभिन्न धातुओं में पहुँचकर उन्हें दूषित करते हैं। इस प्रकार कुष्ठ रोग (Skin Disorders) की उत्पत्ति होती है[1]।

आचार्य सुश्रुत एवं आचार्य वाग्भट् ने स्पष्ट किया है कि प्रकुपित दोष तिर्यक्गत सिराओं में पहुंचकर त्वचा-लसीका-रक्त व मांस धातु को दूषित कर उन्हें शिथिल कर अपने-अपने स्थानों से बाहर निकालकर त्वचा के स्वाभाविक प्राकृत वर्ण को विकृत कर कुष्ठ रोग को उत्पन्न करते हैं[2]।

कुष्ठ रोग की उचित समय पर चिकित्सा नहीं करने से रोगी का सम्पूर्ण शरीर सड़-गल जाता है। यह शरीर की समस्त धातुओं के भीतर प्रवेश करके एवं उन्हें गलाकर-सड़ाकर शरीर में कृमि उत्पन्न कर देता है। इससे स्वेद, क्लेद तथा सड़न पैदा होती है। ये कृमि रोम, त्वचा, स्नायु, धमनी, तरुणस्थि को भी खा जाते हैं[3]।

कुष्ठ रोग की सम्पूर्ण, सम्प्राप्ति क्रम को चित्रानुसार निम्न प्रकार वर्णित कर सकते हैं—

सम्प्राप्ति चक्र

निदान सेवन
↓
वातादि दोष प्रकोप
↓
तिर्यक् गत सिराओं में गमन
↓
त्वचा-रक्त-मांस-लसीका का दूषित व शिथिल होना
↓
दोष-दूष्य का त्वचा में स्थान संश्रय
↓
मण्डलोत्पत्ति व वैवर्ण्यता
↓
कुष्ठ रोगोत्पत्ति

1. i) "वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च। दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसंग्रहः॥" (च.चि. 7/9)
   ii) "तस्य पित्तश्लेष्माणौ प्रकुपितौ परिगृह्यानिलः प्रवृद्धस्तिर्यग्गाः सिराः संप्रपद्य..... ..... धातूनभिदूषयन॥" (सु.नि. 5/3)
2. "सिराः प्रपद्य तिर्यग्गास्त्वग्लसीकासृगामिषम्॥ दूषयन्ति श्लथीकृत्य निश्चरन्तस्ततो बहिः। त्वचः कुर्वन्ति वैवर्ण्यं दुष्टाः कुष्ठमुशन्ति तत्॥" (अ.हृ.नि. 14/2-3)
3. "कालेनोपेक्षितं यस्मात्सर्वं कुष्णाति तद्वपुः। प्रपद्य धातून्व्याप्यान्तः सर्वान् संक्लेद्य चावहेत्॥ सस्वेदक्लेदसङ्कोथान् कृमीन् सूक्ष्मान् सुदारुणान्। लोमत्वक्स्नायुधमनीतरुणास्थीनि यैः क्रमात्॥" (अ.हृ.नि. 14/4-5)

सम्प्राप्ति घटक

कुष्ठ रोग के विभिन्न सम्प्राप्ति घटक निम्नानुसार हैं—

दोष -	त्रिदोष प्रधान
दुष्य -	त्वक्, रक्त, मांस, लसीका (अम्बु)
स्रोतस् -	रक्तवह स्रोतस्
अधिष्ठान -	बाह्य रोग मार्ग-त्वक् व मांस
स्रोतोदुष्टि -	संग
स्वभाव -	चिरकारी (Chronic)
उपसर्ग -	रक्तज कृमि

पूर्वरूप

कुष्ठ रोग के पूर्वरूप (Prodromal Sign/Symptoms) निम्नानुसार वर्णित हैं[1]—

i. अतिस्वेदन (अधिक पसीना आना) (Excessive Sweating)
ii. अस्वेदन (पसीना नहीं आना) (No Sweating)
iii. त्वक् पारुष्य (त्वचा में कठोरता) (Hard Skin, Dry Skin)
vi. अकस्मात् रोमहर्ष (बिना कारण ही रोमांच) (Tingling Sensation)
v. वैवर्ण्य (Discolouration)
vi. कण्डू (Itching)
vii. सुप्तता (Sensation Loss/Numbness)
viii. स्पर्शज्ञाननाश (No Sensation)
ix. कोठ (Eruptive Rashes)
x. त्वक शोथ (Skin Inflammation)
xi. श्रम (अल्पश्रम थकावट) (Easy Fatiguability)
xii. क्लम (बिना परिश्रम थकावट) (Fatigue)
xiii. व्रण का फैलना व जल्दी नहीं भरना (Delayed wound Healing)
xiv. रक्त का काला होना (Blackish Colouration of Blood)

---

1. i) "तेषामिमानि पूर्वरुपाणि..... । ..... चेति ॥" (च.नि. 5/7)

ii) "स्पर्शाज्ञत्वमतिस्वेदो न वा वैवर्ण्यमुन्नति। कोठानां लोमहर्षश्च कण्डूस्तोदः श्रमः क्लमः ॥ व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिधिरस्थितिः। दाहः सुप्ताङ्गता चेति कुष्ठलक्षणमग्रजम् ॥" (च.चि. 7/11-12)

iii) "तस्य पूर्वरूपाणि-त्वक्पारुष्यमकस्माद्रोमहर्षः, कण्डूः स्वेदबाहुल्यमस्वेदनं वाऽङ्गप्रदेशानां स्वापं क्षतविसर्पणमसृजः कृष्णता चेति ॥" (सु.नि. 5/4)

सामान्य रूप

पूर्व वर्णित पूर्वरूप ही व्यक्तावस्था में कुष्ठ के रूप में प्रकट होते हैं।

विशिष्ट रूप (भेदानुसार लक्षण)

(I) महाकुष्ठ

शास्त्रों में सप्तमहाकुष्ठों के भेदानुसार लक्षण निम्न प्रकार वर्णित हैं—

1. **कपाल कुष्ठ (Non Lepromatous Leprosy)**[1]—काले-अरुण रंग के कपाल (मिट्टी के खपड़े) के समान कान्तिवाले, रूक्ष, कठोर, पतले, विषम रूप से फैलने वाले, तोद बहुल, अल्प कण्डू युक्त, अल्प दाह-पूय युक्त तथा वात दोष प्रधानता वाले 'कपाल' कुष्ठ कहलाते हैं।
2. **औदुम्बर कुष्ठ (Lepromatous Leprosy)**[2]—दाह, कण्डू, पीड़ा व लालिमा युक्त एवं कुष्ठ अधिष्ठान के रोम कपिल वर्ण हो एवं जो कुष्ठ पके गूलर के फल के समान हो उसे 'औदुम्बर' कहते हैं।
3. **मण्डल कुष्ठ (Non Lepromatous Leprosy-Psoriasis)**[3]—श्वेत व रक्त वर्ण वाला, स्थिर, घना, स्निग्ध एवं जो कुष्ठ मण्डल (Coin Shaped) आकार वाला हो, कुछ उन्नत (उठा हुआ-Elevated) हो तथा परस्पर एक दूसरे से सटे मण्डल हों तो उसे 'मण्डल' कहते हैं। यह कृच्छ्रसाध्य होता है।
4. **ऋष्यजिह्व कुष्ठ (Non Lepromatous Leprosy)**[4]—कर्कश (कठोर), किनारों पर रक्तवर्ण, अन्दर से श्याव, वेदनायुक्त तथा ऋष्य (रीछ) की जिह्वा के समान आकार वाला कुष्ठ 'ऋष्यजिह्व' कहलाता है।
5. **पुण्डरीक कुष्ठ (Lepromatous Leprosy)**[5]—श्वेत वर्ण युक्त, लाल किनारे वाला, रक्तकमल के सदृश, उन्नत एवं मध्य में लालिमा युक्त कुष्ठ को 'पुण्डरीक' कुष्ठ कहते हैं।

---

1. i) "कृष्णारुपाकपालाभं यद्रूक्षं परुषं तनु। कापालं तोद बहुलं तत्कुष्ठं विषमं स्मृतम् ॥" (च.चि. 7/14)

ii) "तद्यथा-रूक्षारुणपरुषाणि..... । .....च कापाल कुष्ठनीतिविद्यात् ॥" (च.चि. 5/8)

2. "दाहकण्डूरुजारागपरीतं लोमपिञ्जरम्। उदुम्बरफलाभासं कुष्ठमौदुम्बरं विदुः ॥" (च.चि. 7/15)

3. "श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलम्। कृच्छ्रमन्योन्यसंसर्गं कुष्ठं मण्डलमुच्यते ॥" (च.चि. 7/16)

4. "कर्कशं रक्तपर्यन्तमन्तः श्यावं सवेदनम्। यदृष्यजिह्वासंस्थानमृष्यजिह्वं तदुच्यते ॥" (च.चि. 7/17)

5. "सश्वेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरीकदलोपमम्। सोत्सेधं च सदाहं च पुण्डरीकं तदुच्यते ॥" (च.चि. 7/18)

6. **सिध्म कुष्ठ (Pityriasis Leprosy)**[1]—जो कुष्ठ श्वेत या ताम्र वर्ण हो, पतला हो, रगड़ने से जिससे धूलि समान चूर्ण निकलता हो, जो लौकी के फूल के समान हो उसे 'सिध्म कुष्ठ' कहा जाता है। यह कुष्ठ प्रायः वक्षस्थल (Thorax region) में होता है।
आचार्य सुश्रुत ने इसे क्षुद्र कुष्ठ के अन्तर्गत वर्णित किया है।
7. **काकणक कुष्ठ (Lepromatous Leprosy)**[2]— जो कुष्ठ घुघची (गुंजा) के वर्ण का (मध्य में कृष्ण वर्ण व इधर-उधर लाल वर्ण या मध्य में लाल व चारों तरफ कृष्ण) हो, जो पकता न हो, जिसमें तीव्र वेदना होती हो, जिसमें तीनों दोषों के सम्मिलित लक्षण हों, उस कुष्ठ को 'काकणक' कुष्ठ कहा जाता है। यह कुष्ठ असाध्य होता है।

(II) क्षुद्र कुष्ठ

शास्त्रों में क्षुद्र कुष्ठ के भेदों के लक्षण निम्न प्रकार वर्णित हैं—

1. **एककुष्ठ (Psoriasis)**[3]—जिस कुष्ठ में स्वेद नहीं आवे, जो बहुत बड़े स्थान में हो अर्थात् समस्त शरीर में फैला हो, मछली की त्वचा के समान (Scaly Lesions) हो उसे 'एककुष्ठ' कहते हैं।
2. **चर्माख्य (Xeroderma)**[4]—जिस कुष्ठ में त्वचा हाथी के चमड़े के समान मोटी हो उसे 'चर्माख्य' कहते हैं।
3. **किटिभ (Lichen Planus or Psoriasis)**[5]—जो कुष्ठ श्यामवर्ण हो, व्रण के स्थान के समान खुरदुरे स्पर्श वाला हो एवं कठोर हो उसे 'किटिभ' कुष्ठ कहते हैं।
4. **विपादिका (Phagades)**[6]—तीव्र वेदना युक्त हस्त तथा पाद स्फुटन (फटना) को 'विपादिका' कहा जाता है।
5. **अलसक**[7]—कण्डू एवं रक्त वर्ण के फोड़ों से युक्त कुष्ठ को 'अलसक' कहते हैं।

1. "श्वेतं ताम्रं तनु च यद्रजोघृष्टं विमुञ्चति। अलाबूपुष्पवर्णं तत् सिध्मं प्रायेण चोरसि॥" (च.चि. 7/19)
2. "यत् काकणन्तिका वर्णमपाकं तीव्रवेदनम्। त्रिदोषलिङ्गं तत् कुष्ठं काकणं नैव सिध्यति॥" (च.चि. 7/20)
3. "अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्यशक्लोपमम्।..... तदेककुष्ठं॥" (च.चि. 7/21)
4. "चर्माख्यं बहलं हस्ति चर्मवत्॥" (च.चि. 7/21)
5. "श्यावं किणखरस्पर्शं परुषं किटिभं स्मृतम्॥" (च.चि. 7/22)
6. "वैपादिकं पाणिपादस्फुटनं तीव्रवेदनम्॥" (च.चि. 7/22)
7. "कण्डूमद्भिः सरागैश्च गण्डैरलसकं चितम्॥" (च.चि. 7/23)

6. **दद्रूमण्डल (Ringworm)**[1]—कण्डू एवं लालिमा युक्त पिड़का जो उन्नत (Elevated) हो उसे 'दद्रूमण्डल' कहते हैं।
7. **चर्मदल (Impetigo)**[2]—जो कुष्ठ रक्तवर्ण का हो, कण्डू युक्त हो, जिसमें विस्फोट हो, वेदना के साथ त्वचा फटती हो एवं जिस पर स्पर्श का सहन न हो उसे 'चर्मदल' कहते हैं।
8. **पामा (Scabies)**[3]—जो कुष्ठ श्वेत, अरुण एवं श्याव वर्ण की पिड़िकाओं से युक्त हो एवं तीव्र कण्डू युक्त हों उसे 'पामा' कहते हैं।
9. **विस्फोट (Exenthymeta)**[4]—श्वेत या अरुण वर्ण की आभा से युक्त पिड़िकाओं वाला एवं पतली त्वचा से युक्त कुष्ठ 'विस्फोट' कहलाता है।
10. **शतारु (Erythema Induratum)**[5]—जो कुष्ठ रक्त व श्याव वर्ण के दाह व पीड़ा युक्त हो, अनेक व्रणों वाला हो, उसे 'शतारु' कुष्ठ कहा जाता है।
11. **विचर्चिका (Eczema)**[6]—श्याव वर्ण की पिड़िकाओं से युक्त, कण्डू युक्त, अधिक स्राव वाला कुष्ठ 'विचर्चिका' कहलाता है। जन भाषा में इसे 'उकवत' भी कहा जाता है।

आचार्य सुश्रुत ने महाकुष्ठों में अरुण कुष्ठ व क्षुद्रकुष्ठों में स्थूलारुष्क, महाकुष्ठ, विसर्प, परिसर्प, रकसा का अलग से वर्णन किया है जिनके लक्षण निम्नानुसार वर्णित हैं—

i. **अरुण कुष्ठ**[7]—यह कुष्ठ वात दोष की प्रधानता से अरुण वर्ण का, तनु त्वक् (पतली त्वचा वाला), फैलने वाला, तोद युक्त (सुई की चुभन जैसा) एवं सुन्नता युक्त रहता है।
ii. **स्थूलारुष्क कुष्ठ**[8]—यह संधिस्थानों में स्थूल तथा कठिन अरुंषि (फुन्सी) युक्त अतिदारुण कुष्ठ है।
iii. **महा कुष्ठ**[9]—इसमें त्वचा का संकोच, स्फुटन, सुन्नता तथा अंगसाद (ग्लानि) होती है।

1. "सकण्डूरागपिडकं दद्रूमण्डलमुद्भवम्॥" (च.चि. 7/23)
2. "रक्तं सकण्डू सस्फोटं सरुग्दलति चापि यत्। तच्चर्मदलमाख्यातं संस्पर्थासहमुच्यते॥" (च.चि. 7/24)
3. "पामा श्वेतारुणश्यावाः कण्डूलाः पिडका भृशम्॥"(च.चि. 7/25)
4. "स्फोटाः श्वेतारुणाभासो विस्फोटाः स्युस्तनुत्वचः॥" (च.चि. 7/25)
5. "रक्तं श्यावं सदाहार्तिं शतारुः स्याद्बहुव्रणम्॥" (च.चि. 7/26)
6. "सकण्डूः पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका॥" (च.चि. 7/26)
7. "तत्र वातेनारुणाभानि तनूनि विसर्पीणि तोदभेदम्वापयुक्तान्यरुणानि" (सु.नि. 5/8)
8. "स्थूलानि सन्धिष्वतिदारुणानि स्थूलारुंषि स्युः कठिनान्यरूषि॥" (सु.नि. 5/9)
9. "त्वक्संकोचभेदस्वपनाङ्गसादाः कुष्ठे महत्पूर्वयुते भवन्ति॥" (सु.नि. 5/9)

iv. **विसर्प**[1]—जो कुष्ठ त्वचा, रक्त, मांस को दूषित करके शीघ्र ही विसर्प रोग की भाँति फैलने लगता है एवं जो मूर्च्छा, विदाह, अरति (बैचेनी), तोद व पाक युक्त भी हो।

v. **परिसर्प**[2]—इसमें शरीर के ऊपर धीरे-धीरे फैलने वाली एवं स्रावयुक्त पिड़िकाएं निकल आती हैं।

vi. **रकसा**[3]—सम्पूर्ण शरीर में कण्डू युक्त, व स्रावरहित जो पिड़िकाएं होती हैं उन्हें रकसा कहते हैं।

कुष्ठ में त्रिदोष उल्वणता के अनुसार लक्षण[4]

कुष्ठ रोग में त्रिदोष के कारण अलग-अलग लक्षण निम्न प्रकार प्रकट होते हैं—

वातिक लक्षण	पैत्तिक लक्षण	कफज लक्षण
रूक्षता (रुखापन)	दाह (जलन होना)	श्वेतता
शोष (शुष्कता)	राग (लालिमा)	शीतलता
तोद (चुभन)	परिस्राव	कण्डू (खुजली)
शूल (पीड़ा)	पाक (पकना)	स्थिरता (अधिक न फैलना)
संकोच	विस्र गन्ध (आम गंध)	उत्सेध युक्त (Elevated)
आयाम (तनाव/खिंचाव)	क्लेद (गीलापन)	गौरव (गुरुता युक्त)
पारुष्य (कठिनता)	अंगपतन (अंगो का गल कर गिरना)	स्निग्ध (चिकनापन)
खरता (खुरदुरापन)	कर्णनासा भंग	क्लेदाधिक्य
रोमांच	अक्षिरोग	कृमि द्वारा भक्षण किया जाना
श्यावता या अरुणता		

सभी प्रकार के कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं, फिर भी दोषों के हीन व उत्तम संयोग के कारण भिन्न-भिन्न कुष्ठों में वर्ण, वेदना, आकार तथा लक्षणों में विभिन्नता पाई जाती है। तदनुसार ही विभिन्न कुष्ठों का नामकरण किया जाता है[5]।

1. "विसर्पवत् सर्पति सर्वतो यस्त्वग्रक्तमांसान्यभिभूय शीघ्रम्।
मूर्च्छाविदाहारतितोदपाक कृत्वा विसर्पः स भवेद्विकारः॥" (सु.नि. 5/11)
2. "शनैः शरीरे पिड़काः स्रवन्त्यः सर्पन्ति यास्तं परिसर्पमाहुः।" (सु.नि. 5/12)
3. "कण्डवन्विता या पिडका शरीरे संस्रावहीनारकसोच्यते सा॥" (सु.नि. 5/15)
4. "रौक्ष्यं शोषस्तोदः शूलं संकोचनं तथाऽऽयामः। पारुष्यं खरभावो हर्षः श्यावारुणत्वं च॥
कुष्ठेषु वातलिङ्गं, दाहो रागः परिस्रवः पाकः। विस्रो गन्धः क्लेदस्तथाऽङ्गपतनं च पित्तकृतम्॥
श्वैत्यं शैत्यं कण्डूः, स्थैर्य चोत्सेधगौरवस्नेहाः। कुष्ठेषु तु कफलिङ्गं जन्तुभिरभिलक्षणं क्लेदः॥"
(च.चि. 7/34-36)
5. "न च किञ्चिदस्ति कुष्ठमेकदोष प्रकोपनिमित्तम् अस्ति तु खलु समान प्रकृती नामपि कुष्ठानां दोषांशांशं विकल्पानुबन्धस्थानविभागेनवेदनावर्णसंस्थानप्रभावनाम चिकित्सतविशेषः॥"
(च.नि. 5/4)

सात धातु गत कुष्ठ के लक्षण

आचार्य सुश्रुत ने सप्तधातुगत (उत्तरोतर) कुष्ठों के लक्षण वर्णित किए हैं। उन्होंने स्पष्ट किया है कि त्वचा में उत्पन्न कुष्ठ की यथासमय चिकित्सा नहीं करने पर वह रक्तादि धातुओं में फैल जाता है। सप्त धातु गत कुष्ठों के लक्षण निम्न प्रकार हैं—

त्वक (रसगत[1])	रक्तगत[2]	मांसगत[3]	मेदगत[4]	अस्थि-मज्जागत[5]	शुक्रगत[6]
स्पर्शहानि	स्पर्शनाश,	बहुलता	दौर्गन्ध्य	--	अंगो में विकलता,
विवर्णता	रोमहर्ष,	स्थूलता	उपदेह,	नासाभंग,	गतिक्षय,
कण्डू	स्वेदा-धिक्य,	मुख शोष	पूय-कृमि उत्पत्ति,	अक्षि रोग,	अंगों का फूटना,
अल्पस्वेद	कण्डू,	पिड़का-उत्पत्ति,	शरीर का विदीर्ण होना,	क्षत-व्रण में कृमि-उत्पत्ति	व्रण का फैलना
रूक्षता	पूयोत्पत्ति	तोद, स्फोट, स्थिरत्व	गति करने में असमर्थता, अंगों में पीड़ा		

सापेक्ष निदान

सम्प्राप्ति घटकों की दृष्टि से कुष्ठ व विसर्प में समान दोष-दूष्य होते हैं। अतः सापेक्ष निदान (Differential Diagnosis) करते समय कुष्ठ को विसर्प से निम्न बिन्दुओं के आधार पर पृथक् करते हैं—

1. "स्पर्शहानिः स्वेदनत्वमीषत्कण्डूश्च जायते।
वैवर्ण्य स्वभावश्च कुष्ठे त्वचि समाश्रिते॥"
(सु.नि. 5/22)
2. "त्वक्स्वापौ रोमहर्षश्च स्वेदस्यातिप्रवर्तनम्।
कण्डूर्विपूयकश्चैव कुष्ठे शोणितसंश्रिते॥"
(सु.नि. 5/23)
3. "बाहुल्यं वक्त्रशोफश्च कार्कश्यं पिड़कोदगमः। तोदः स्फोटः स्थिरत्वं च कुष्ठे मांससमाश्रिते॥"
(सु.नि. 5/24)
4. "दौर्गन्ध्यमुपदेहश्च पूयोऽर्थ क्रिमयस्तथा। गात्राणां भेदनं चापि कुष्ठे मेदः समाश्रिते॥"
(सु.नि. 5/25)
5. "नासाभङ्गोऽक्षिरागश्च क्षते च क्रिमिसंभवः। भवेत् स्वरोपघातश्च भवेदस्थिमज्जसमाश्रिते॥"
(सु.नि. 5/26)
6. "कौण्यं गतिक्षयोऽङ्गानां संभेदः क्षतसर्पणम्। शुक्रस्थानगते लिङ्गं प्रागुक्तानि तथैव च॥"
(सु.नि. 5/27)

कुष्ठ	विसर्प
1. यह अविसर्पणशील रोग है।	1. यह विसर्पणशील रोग है।
2. रक्त प्रधान दोष नहीं है।	2. रक्त प्रधान दोष है।
3. वेदना अल्प या न के बराबर होती है।	3. शोणित दुष्टि के कारण प्रबल वेदना होती है।
4. सप्त द्रव्यों की दुष्टि आवश्यक है।	4. सप्त द्रव्यों की दुष्टि आवश्यक नहीं है।
5. चिरकारी (Chronic) रोग है।	5. यह अचिरकारी (Subacute) रोग है।
6. इसकी उत्पत्ति में पापाचरण आदि कारण होते हैं।	6. इसकी उत्पत्ति में पाप आदि कारण नहीं होते।

साध्यासाध्यता

1. कापाल, औदुम्बर, ऋष्यजिह्व, पुण्डरीक, सिध्म, पाँच कुष्ठ साध्य होते हैं।
2. मण्डल कुष्ठ कृच्छ्रसाध्य माना गया है।
3. काकणक (त्रिदोषज) कुष्ठ असाध्य होता है।
4. वात कफ प्रधान कुष्ठ सुखसाध्य होते हैं।
5. वात पित्त या कफपित्त प्रधान कुष्ठ कृच्छ्र साध्य होता है।
6. एक दोषज कुष्ठ साध्य होता है।
7. पित्तज कुष्ठ, द्वन्द्वज कुष्ठ, रक्त व मांसगत कुष्ठ कृच्छ्रसाध्य होता है।

सामान्यत: त्वचा, रक्त, मांस में स्थित तथा वातकफ की प्रधानता से होने वाला कुष्ठ याप्य होता है। अस्थि व मज्जा में होने वाला कुष्ठ असाध्य होता है। कृमियुक्त, तृषा-पिपासा युक्त, दाहयुक्त, मन्दाग्नि पीड़ित तथा त्रिदोषज कुष्ठ असाध्य होता है। जिसका शरीर फट गया हो, जिसके अंग सड़ने लगे हों, जिसके नेत्र लाल हों, स्वरोपघात हो गया हो एवं जो पंचकर्म गुणातीत कुष्ठ हो वह असाध्य होता है[1]।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार आदिबलप्रवृत्त कुष्ठ, पुण्डरीक व काकणक कुष्ठ असाध्य होते हैं[2]।

1. i) "साध्यं त्वग्रक्तमांसस्थं वातश्लेष्माधिकं च यत्। मेदसि द्वन्द्वजं याप्यं वर्ज्यं मज्जास्थिसंश्रितम्॥
क्रिमितृड्दाहमन्दाग्निसंयुक्तं यत् त्रिदोषजम्। प्रभिन्नं प्रस्रुताङ्गं च रक्तनेत्रं हतस्वरम्॥
पञ्चकर्मगुणातीतं कुष्ठं हन्तीह मानवम्॥"
(मा.नि. 49/31-32)

ii) "सर्वैर्लिङ्गैर्युक्तं मतिमान् विवर्जयेदबलम्।
तृष्णादाहपरीतं शन्ताग्निं जन्तुभिर्जग्धम्॥
वातकफप्रबलं यद्यदेकदोषोल्बणं न तत् कृच्छ्रम्।
कफपित्त-वातपित्त प्रबलानि तु कृच्छ्रसाध्यानि।"
(च.चि. 7/37-38)

2. "तत्रादिबलप्रवृत्तं पौण्डरीकं काकणं चासाध्यम्॥" (सु.नि. 5/19)

उपद्रव—

साध्य कुष्ठ की उपेक्षा करने से त्वचा, रक्त, मांस तथा लसिका में क्लेदन, स्वेद तथा कोथ के कारण कृमि पड़ जाते हैं। ये कृमि धातुओं का भक्षण करके उपद्रव पैदा करते हैं। ये उपद्रव निम्न हैं[1]—

(i) प्रस्रवण (पूयस्राव)
(ii) अंगभेद (अंगों का टूटना)
(iii) अंगों के अवयवों का टूटकर गिरना
(iv) तृष्णा
(v) ज्वर
(vi) अतीसार
(vii) दाह
(viii) दौर्बल्य
(ix) अरोचक
(x) अविपाक

चिकित्सा सूत्र

1. सभी कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं। अत: दोषों के बलाबल को जानकर प्रबल दोष की चिकित्सा सर्वप्रथम करनी चाहिए। इसके पश्चात् अनुबन्ध दोष की चिकित्सा करनी चाहिए[2]।
2. वात प्रधान कुष्ठ में घृतपान, पित्त प्रधान कुष्ठ में रक्त मोक्षण व विरेचन एवं कफ प्रधान कुष्ठ में वमन कर्म कराना चाहिए[3]।
3. बहुदोष कुष्ठ के रोगी में बल की रक्षा करते हुए संशोधन (वमन-विरेचन) कराना चाहिए। थोड़े-थोड़े, बार-बार दोषों का निर्हरण करने से बल का ह्रास नहीं हो पाता है[4]।
4. आचार्य सुश्रुत ने निर्दिष्ट किया है कि 15-15 दिन पर वमन कर्म, एक-एक मास पर विरेचन कर्म, तीन-तीन दिन पर अवपीड़न नस्य एवं छह-छह मास पर रक्तमोक्षण कराना चाहिए[5]।

1. "अस्यां चैवावस्थायामुपद्रवाः कुष्ठिनं स्पृशन्ति, तद्यथा-प्रस्रवणमङ्गभेदः
पतनान्यङ्गावयवानां तृष्णा ज्वरातीसारदाहदौर्बल्यारोचकाविपाकाश्च, तथाविधमसाध्यं विद्यादिति॥"
(च.नि. 5/11)

2. "सर्वं त्रिदोषजं कुष्ठं दोषाणां तु बलाबलम्। यथास्वैर्लक्षणैर्बुद्ध्वा कुष्ठानां क्रियते क्रिया॥
दोषस्य यस्य पश्येत् कुष्ठेषु विशेषलिङ्गमुद्रिक्त ्। तस्यैव शमं कुर्यात्ततः परं चानुबन्धस्य॥"
(च.चि. 7/31-32)

3. "वातोत्तरेषु सर्पिर्वम ्न श्लेष्मोत्तरेषु कुष्ठेषु। पित्तोत्तरेषु मोक्षो रक्तस्य विरेचनं चाग्रे॥"
(च.चि. 7/39)

4. "बहुदोषः संशोध्यः कुष्ठी बहुशोऽनुरक्षता प्राणान्। दोषे ह्यतिमात्रेहते यायुर्हत्यादबलमाशु॥"
(च.चि. 7/41)

5. "पक्षात् पक्षाच्छर्दनान्यभ्युपेयान् मासान्मासात् ससंनं साध्यं रक्तं वत्सरे हि द्विरल्पं नस्यं दद्याच्च त्रिरात्रान्-त्रिरात्रान्॥" (सु.चि. 9/43)

5. बल के घट जाने पर वायु प्रकोप हो जाता है। अल्प व अनवगाढ़ दोष वाले कुष्ठ रोग में प्रच्छान कर शृङ्ग या अलाबू से रक्त निकालना चाहिए, अधिक दोष होने व अवगाढ़ (Deep seated) दोषों में सिरावेध द्वारा रक्त निकालना चाहिए[1]।
6. विरेचन (वमन) के द्वारा कोष्ठ के शुद्ध हो जाने पर तथा रक्तमोक्षण के पश्चात् स्नेहपान कराना चाहिए। क्योंकि संशोधन से दुर्बल कुष्ठी के शुद्ध कोष्ठ में वायु प्रवेशित हो जाने से विकृति हो जाती है[2]।
7. जिस कुष्ठ रोगी में शस्त्रकर्म प्रयोग नहीं किया जा सकता है अथवा जिसकी स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) नष्ट हो गयी हो ऐसे कुष्ठों में दोष तथा रक्त निकालने के बाद क्षार का प्रयोग करना चाहिए[3]।
8. संशोधन के पश्चात् कुष्ठ रोगियों में लेपों का प्रयोग करना चाहिए[4]।
9. दूषित कफ, पित्त व रक्त के निकल जाने के पश्चात् तिक्त कषाय द्रव्यों से संशमन चिकित्सा करना चाहिए[5]।

अत: कुष्ठ रोग की चिकित्सा में संक्षेपत: निम्न चिकित्सा सिद्धान्त अपनाना चाहिए—

1. निदान परिवर्जनम्
2. संशोधन (दोषानुसार यथापूर्वक बलानुसार)
   (i) वमन कर्म
   (ii) विरेचन कर्म
   (iii) रक्तमोक्षण
   (iv) बस्ति कर्म
   (v) नस्य कर्म
3. संशमन औषध प्रयोग
   (i) अन्त:परिमार्जन
   (ii) बहि:परिमार्जन

1. "प्रच्छनमल्पे कुष्ठे महति च शस्त्रं सिराव्यधनम्॥" (च.चि. 7/40)
2. "स्नेहस्य पानमिष्टं शुद्धे कोष्ठे प्रवाहिते रक्ते। वायुर्हिशुद्धकोष्ठं कुष्ठिनमबलं विंशति शीघ्रम्॥" (च.चि. 7/42)
3. "येषु न शस्त्रं क्रमते स्पर्शेन्द्रियनाशनानि यानि स्यु:। तेषु निपात्य: क्षारो रक्तं दोषं च विस्राव्य॥" (च.चि. 7/54)
4. "ये लेपा: कुष्ठानां युज्यन्ते निर्हतास्तदोषाणाम्। संशोधिताशयानां सद्य: सिद्धिर्भवेत्तेषाम्॥" (च.चि. 7/53)
5. "कफपित्तरक्तहरणं तिक्तकषायै: प्रशमनं च॥" (च.चि. 7/58)

चिकित्सा

(1) संशोधन चिकित्सा

(i) **आभ्यन्तर स्नेहन**—महातिक्त घृत, महाखदिर घृत, पंचतिम्त घृत, तिक्तषट्पल घृत, त्रिफला घृत आदि से।

(ii) **वमन कर्म**—कुटज, मदनफल, मधुक, पटोल व निम्ब के योग से वमन कराना चाहिये[1]।

(iii) **विरेचन कर्म**—श्वेत निशोथ, दन्तीमूल व त्रिफला से विरेचन कराना चाहिये[2]।

(iv) **निरुह बस्ति**—दारुहरिद्रा, बृहती, खश, पटोल, निम्ब, मदनफल, अमलतास के क्वाथ में कुटज, मुस्तक कल्क व घृत-तैल मिलाकर आस्थापन बस्ति देना चाहिये[3]।

(v) **नस्य कर्म**—दन्तीमूल, मरिच, तुलसी बीज, पिप्पली, करंजफल, विडंग, सैंधव के समभाग चूर्ण का नस्य देने से शिरोगत कृमि, कुष्ठ तथा कफ प्रकोप शान्त होता है[4]।

(vi) **धूमपान**—वैरेचनिक धूमपान से शिर में रहने वाले कृमि एवं उर्ध्व जत्रुगत कुष्ठ व किलास शान्त होता है[5]।

(vii) **रक्तमोक्षण**—जो कुष्ठ स्थिर, कठिन मण्डल वाला हो उसमें प्रस्तर या नाड़ी स्वेद करके घर्षण के पश्चात् उत्क्लेशित रक्त को रक्तमोक्षण करें। अल्प मात्रा में दोष रहने पर प्रच्छान कर शृङ्ग या अलाबू यन्त्र से या जलौका से रक्तमोक्षण करावें[6]।

(2) संशमन चिकित्सा

कुष्ठ रोग में संशमन चिकित्सान्तर्गत अन्त:परिमार्जन व बहि:परिमार्जन औषध द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। बहि: परिमार्जन के अन्तर्गत विभिन्न लेप, प्रलेप, प्रदेह, तैल, स्नान प्रयोग किए जाते हैं। अन्त: परिमार्जन चिकित्सा के अन्तर्गत तिक्तकषायरस प्रधान औषध का प्रयोग किया जाता है। संशमन चिकित्सा के अन्तर्गत प्रयोग किए जाने वाले औषध योग निम्नानुसार वर्णित हैं—

1. "दोषोत्क्लिष्टे हृदये वाम्य: कुष्ठेषु चोर्ध्वभागेषु। कुटजफलमदनमधुकै: सपटोलर्निम्बरसयुक्तै:॥" (च.चि. 7/43)
2. "कुष्ठेषु त्रिवृता दन्ती त्रिफला च विरेचने शस्ता॥" (च.चि. 7/44)
3. "दार्वी बृहती सेव्यै: पटोल पिचुमर्दमदनकृतमालै:। सस्नेहैरास्थाप्य: कुष्ठी सकलिङ्गयवमुस्तै:॥" (च.चि. 7/46)
4. "सैंधवदन्तीमरिचफणिज्झक: पिप्पलीकरञ्जफलम्।
   नस्यं स्यात्स विडङ्गं क्रिमिकुष्ठकफ प्रकोपघ्नम्॥" (च.चि. 7/48)
5. "वैरेचनिकैर्धूमै: श्लोकस्थानेरितै: प्रशाम्यन्ति। कृमय: कुष्ठकिलासा: प्रयोजितैरुत्तमाङ्गस्था:॥" (च.चि. 7/49)
6. "स्थिरकठिनमण्डलानां स्विन्नानां प्रस्तरप्राणीभि:।..... जलौकोभि:॥" (च.चि. 7/50-52)

(अ) **अन्तः प्रयोगार्थ योग**

1. **रस/भस्म**

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, गोघृत, आमलकी स्वरस, गोमूत्र
(i) शुद्ध गंधक (लेलीतक)	: शु. आंवलासार गंधक
(ii) रस माणिक्य	: हरताल
(iii) गन्धक रसायन	: शु. गंधक, त्रिकटु, त्रिफला, विडंग आदि
(iv) तालकेश्वर रस	: हरताल, ताम्र, मनःशिला आदि
(v) व्याधिहरण रस	: कज्जली, संखिया, हरताल आदि
(vi) स्वर्ण माक्षिक भस्म	: शु. स्वर्ण माक्षिक
(vii) शु. शिलाजतु	: शु. शिलाजतु
(viii) गलत्कुष्ठारि रस	: संखिया, दन्ती, रसकर्पूर आदि
(ix) कुष्ठ कुठार रस	: रस सिन्दूर, गंधक, लौह, ताम्र आदि

2. **वटी/गुग्गुलु**

मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, उष्णोदक
(i) आरोग्यवर्धिनी वटी	: कुटकी, ताम्र, शिलाजतु आदि
(ii) योगराजगुग्गुलु	: शुण्ठी, चित्रक, विडंग, गुग्गुलु आदि
(iii) शशिलेखा वटी	: कज्जली, ताम्र, बाकुची आदि
(iv) कैशोर गुग्गुलु	: त्रिफला, निम्ब, गिलोय, गुग्गुलु आदि
(v) पंचतिक्त घृत गुग्गुलु	: निम्ब, अमृता, वासा, गुग्गुलु आदि

3. **चूर्ण**

मात्रा	: 3-6 ग्राम
अनुपान	: उष्ण जल
(i) बाकुची चूर्ण (सोमराजी चूर्ण)	: बाकुची चूर्ण
(ii) मंजिष्ठादि चूर्ण	: मंजिष्ठा, हरीतकी, निशोथ आदि
(iii) पंचनिम्ब चूर्ण	: निम्बपंचाङ्ग
(iv) नारसिंह चूर्ण	: शतावरी, गोक्षुर, चित्रक, भिलावा
(v) मुस्तादि चूर्ण	: मुस्तक, त्रिकटु, त्रिफला आदि
(vi) त्रिफलादि चूर्ण	: त्रिफला, अतीस, कुटकी आदि

4. **क्वाथ**

मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: मधु, गोमूत्र, घृत आदि
(i) बृहदमहामंजिष्ठादि क्वाथ	: मंजिष्ठा, कुटज, अमृता आदि

(ii) पटोलादि क्वाथ	: पटोल मूल, इन्द्रायण मूल, त्रिफला आदि
(iii) खदिराष्टक	: खदिर, त्रिफला, निम्ब, पटोल, गुडुची, वासा आदि

5. **आसव/अरिष्ट**

मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: समभाग जल
(i) खदिरारिष्ट	: खदिर, देवदारु, बाकुची आदि
(ii) सारिवाद्यासव	: अनन्तमूल, नागरमोथा, लोध्र आदि
(iii) कनकबिन्द्व रिष्ट	: खदिरसार, त्रिफला, त्रिकटु आदि
(iv) मध्वासव	: खदिर, देवदारु, लोह भस्म आदि
(v) त्रिफलासव	: त्रिफला, चित्रकमूल, दशमूल, दन्तीमूल आदि

6. **घृत**

मात्रा	: 10-20 मि.ली.
अनुपान	: क्षीर, जल
(i) महातिक्तक घृत	: छतिवन, अतीस, कुटकी, चिरायता आदि
(ii) महाखदिर घृत	: खदिर, शीशम, असन, करंज आदि
(iii) पंच तिक्त घृत	: निम्ब, पटोल, गुडुची, वासा आदि
(iv) त्रिफला घृत	: हरीतकी, विभीतकी, आमलकी आदि

7. **तैल**

मात्रा	: यथावश्यक (आभ्यान्तर एवं बाह्य प्रयोगार्थ)
(i) बाकुची तैल	: बाकुची तैल
(ii) कनक क्षीरी तैल	: कनक क्षीरी, मनःशिला, भारंगी आदि
(iii) चाउलमोगरा तैल	: कुष्ठवैरी तैल
(iv) कुष्ठराक्षस तैल	: पारद, गन्धक, कूठ, सप्तपर्ण आदि
(v) सोमराजी तैल	: बाकुची, हरिद्रा, कूठ आदि
(vi) मरिचाद्य तैल	: मरिच, हरताल, मनःशिला आदि
(vii) करंज-निम्ब तैल	: करंज व नीम

8. **पाक/लेह**

मात्रा	: 10-20 ग्राम
अनुपान	: दुग्ध
(i) अमृत भल्लातक लेह	: भल्लातक, गोघृत, शर्करा आदि
(ii) भल्लातकावलेह	: निम्ब, अतीस, कुटकी, त्रिफला, भल्लातक आदि
(iii) धात्र्यवलेह	: त्रिफला, विडंग, चित्रक आदि
(iv) शशाङ्कलेखादि लेह	: बाकुची, विडंग, चित्रक आदि

9. (अ) एकल द्रव्य
   मंजिष्ठा
   सारिवा
   खदिर
   हरीतकी
   विभीतकी
   आमलकी
   हरिद्रा
   भिलावा
   बिडंग
   अमलतास
   करवीर
   चमेलीपत्र
   बाकुची आदि

(ब) बाह्य प्रयोगार्थ औषध योग

1. तैल (पूर्व में वर्णित)
2. प्रलेप
   (i) मन:शिलादि लेप : मन:शिला, हरताल आदि
   (ii) करञ्जादि लेप : करंज, कूठ आदि
   (iii) करवीरादि लेप : कनेर, इन्द्रजौ आदि
   (iv) हरीत्क्यादि लेप : हरड़, हरिद्रा, सर्षप आदि
3. कल्क—भृष्ट सर्षप कल्क

(स) रसायन या कल्प चिकित्सा

(i) गंधक रसायन
(ii) सोमराजी रसायन
(iii) हरीतकी रसायन
(iv) तुवरक रसायन
(v) भल्लातक रसायन
(vi) हरिद्रा रसायन
(vii) शिलाजतु रसायन

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. वात प्रधान कुष्ठ रोगार्थ

प्रात: सायम्

(i) महातालेश्वर रस : 250 मि.ग्रा.
रसमाणिक्य : 250 मि.ग्रा.
सुवर्ण माक्षिक भस्म : 250 मि.ग्रा.
मधु से 1×2 मात्रा

(ii) आरोग्यवर्धिनी वटी : 2 वटी × तीन मात्रा
महा योगराज गुग्गुलु : 2 वटी × तीन मात्रा

(iii) भोजनोत्तर
खदिरारिष्ट : 20 मि.ली.
समभाग जल से 1×2 मात्रा

(iv) त्रिफला घृत : 20 मि.ली.
दूध से 1×2 मात्रा

2. पित्त प्रधान कुष्ठ रोगार्थ

प्रात: सायम्

(i) आमलकी रसायन : 2 ग्राम
पंच निम्ब चूर्ण : 2 ग्राम
आरोग्यवर्धिनी वटी : 250 मि.ग्रा.
मधु या घृत से 1×2 मात्रा

(ii) भोजनोत्तर
सारिवाद्यासव : 20 मि.ली.
समभाग जल से 1×2 मात्रा

(iii) महातिक्त घृत : 20 मि.ली.
दूध से 1×2 मात्रा

3. कफ प्रधान कुष्ठ रोगार्थ

प्रात: सायम्

(i) तालकेश्वर रस : 250 मि.ग्रा.
आरोग्यवर्धिनी वटी : 250 मि.ग्रा.
त्रिकटु चूर्ण : 1 ग्राम
मधु से 1×2 मात्रा

(ii) भोजनोत्तर
खदिरारिष्ट : 20 मि.ली.
समभाग जल से 1×2 मात्रा

(iii) अमृत भल्लातक रसायन : 10 ग्राम
जल से 1×2 मात्रा

4. गलत्कुष्ठ में

प्रातः सायम्

(i)	गलितकुष्ठारि रस	: 250 मि.ग्रा.
	गंधक रसायन	: 250 मि.ग्रा.
	आरोग्यवर्धिनी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
(ii)	भोजनोत्तर	
	खदिरारिष्ट	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1×2 मात्रा
(iii)	पंचतिक्त घृत	: 20 मि.ली.
	दूध से	1×2 मात्रा

5. पामा, दद्रु, कण्डू, विचर्चिका में

प्रातः सायं

(i)	गंधक रसायन	: 500 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
(ii)	बृहदमंजिष्ठादि क्वाथ	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1×2 मात्रा

6. सामान्य व्यवस्था पत्र

1. निदान परिवर्जनम्
2. संशोधन चिकित्सा (वमन व विरेचन)
3. संशमन चिकित्सा

प्रातः सायम्

(i)	रसमाणिक्य	: 250 मि.ग्रा.
	शु. गंधक	: 250 मि.ग्रा.
	अमृता सत्व	: 500 मि.ग्रा.
	पंचनिम्बादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	मधु से	1×2 मात्रा
(ii)	भोजनोत्तर	
	खदिरारिष्ट	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1×2 मात्रा
(iii)	आरोग्यवर्धिनी वटी	: 2 वटी × तीन मात्रा
(iv)	महातिक्त घृत	: 20 मि.ली.
	दूध से	1×2 मात्रा
(v)	बाह्य प्रयोगार्थ महामरिच्यादि तैल	
(vi)	विबंध रहने पर रात्रि में सोते समय	
	हरीतकी चूर्ण	: 3 ग्राम
	गर्म जल से	एक मात्रा

पथ्यापथ्य

कुष्ठ रोग मिथ्या आहार-विहार, असात्म्य व वैरोधिक आहार से उत्पन्न होने वाली मुख्य व्याधि है। अतः कुष्ठ रोगी को निम्न आहार-विहार (पथ्य व अपथ्य) का पालन करना चाहिये[1]—

पथ्य

आहार	विहार
लघु-हल्का-रुक्ष भोजन, तिक्त रस प्रधान अन्न, मूंग-मसूर की दाल, गेंहू, यव (जौ), पुराण घृत, गोमूत्र, निम्ब-हरिद्रा-आमलकी-खदिर, पटोल (परवल) शाक, करेला शाक, मधु (शहद) लशुन, तोरई, दाड़िम, जायफल, फालसा, जांङ्गल मांस आदि।	लघु व्यायाम, स्नान (सिद्धार्थक नामक) अभ्यंङ्ग आदि।

अपथ्य

आहार	विहार
विरुद्धाहार (यथा-दूध व मत्स्य), नवान्न (नये अन्न), पिष्टान्न, विदाही, अभिष्यन्दी गुरु-शीत-स्निग्ध आहार, दधि, मत्स्य, तिल, लवण-अम्ल, उड़द, मूली, गुड़, मद्य, लकुच, काकमाची, आनूपमांस, दुग्ध आदि।	दिवाशयन, मल-मूत्र वेग धारण, तनाव, अति व्यायाम आदि।

Latest Developments

Leprosy

कुष्ठ रोग का अर्थ आम भाषा में लेप्रोसी (Leprosy) नामक व्याधि से लिया जाता है। शास्त्रीय दृष्टि से कुष्ठरोग के अन्तर्गत लेप्रोसी के अतिरिक्त अन्य समस्त त्वचागत विकारों का समावेश हो जाता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से कुष्ठ एक जीवाणु जनित संक्रामक रोग है। कुष्ठ रोग संभवतया मानव में पाया जाने वाला सबसे पुराना संक्रामक रोग है। व्याधिग्रस्त व्यक्ति के सम्पर्क में रहने से इसकी उत्पत्ति होती है। कुष्ठ का संचय काल सबसे अधिक तीन से सात वर्ष है। प्रौढ़ व्यक्ति की अपेक्षा बालकों तथा युवाओं में इसके संक्रमण की सम्भावना अधिक रहती है। लेप्रोसी की उत्पत्ति

1. "लघूनि चान्नानि हितानि विद्यात् कुष्ठेषु शाकानि च तिक्तकानि।
भल्लातकैः सत्रिफलैः सनिम्बैर्युक्तानि चान्नानि घृतानि चैव॥
पुराणधान्यान्यथ जाङ्गलानि मांसानि मुद्गाश्च पटोलयुक्ताः।
शस्ता, न गुर्वम्लपयोदधीनि नानूपमत्स्या न गुडस्तिलाश्च॥" (च.चि. 7/82-83)

'Mycobacterium laprae' नामक जीवाणु से होती है जो राजयक्ष्मा (Tuberculosis) के जीवाणु से साम्यता रखता है। ये दोनों जीवाणु अम्लसह (Acid-fast Bacilli) हैं। **लेप्रोसी** को **Hansen's Disease** भी कहा जाता है।

Types

I. Lepromatous (Multibacillary)
II. Tuberculoid (Polybacillary)

Sign/Symptoms

I. **Lepromatous Leprory (LL)**
(i) Skin lesions & symmetrical involvement of peripheral nerves with anaesthesia, muscle weakness, paralysis.
(ii) Lesions are limited to the cooler portions of the body such as skin, upper respiratony tract & testes.

II. **Tuberculoid Leprory (TL)**
(i) Usually Benign
(ii) The nerve lesions are asymmetrical and skin anaesthesia is an early occurence.
(iii) Visceral involvement is not seen.
(iv) Because of the anaesthesia, rats have been able to remove digits while the patient sleeps.

Lepromatous Leprosy is much more contagious than the Tuberculoid form.

Between the two major forms are **Borderline (BB)** and **Indeterminate Leprosy.**

Diagnosis—Biopsy of a suspected skin lesion is used for diagnosis.

Complications

(i) Bacterial skin infections
(ii) Ulcers
(iii) Traumatic amputation of fingers
(iv) Tuberculosis
(v) Amyloidosis

Management : Principles

(Multi Drug Therapy MDT) started in 1985 by **WHO** for 6-12 months

i. Dapsone (DDS) ii. Rifampin iii. Clofazimine

Prognosis—With proper therapy, especially if given at the earliest possible, the outcome is favourable.

अध्याय-58

श्वित्र-किलास
(VITILIGO-LEUCODERMA)

व्याधि परिचय

सामान्यत: मनुष्य की बाह्य पहचान दर्शन के द्वारा 'वर्ण' से की जाती है। विश्व के समस्त मनुष्यों का वर्गीकरण भी त्वचा के वर्ण भेद के आधार पर किया जाता है। यूरोप व अमरीका के निवासी श्वेत वर्ण के, अफ्रीका के निवासी कृष्ण वर्ण के तथा चीन व जापान निवासी पीतवर्ण के होते हैं। भारत में कश्मीर व पंजाब के निवासी गौर वर्ण के तथा तमिलनाडू-केरल के निवासी कृष्ण वर्ण के होते हैं। यह वर्ण व्यवस्था भौगोलिक स्थिति के आधार पर शीत-उष्ण ऋतु से होती है। इन सभी देशों के निवासियों में त्वचा में रंजक द्रव्य (Melanin)की कमी के कारण श्वित्र रोग पाया जाता है। श्वित्र रोग केवल शारीरिक समस्या न होकर व्यक्तिगत एवं सामाजिक समस्या भी है। यह व्याधि वैदिक काल से ही चर्चित है। श्वित्र त्वचा के चतुर्थ स्तर (Fourth Layer) ताम्रा (Malphigian Layer) में पाई जाने वाली व्याधि है। श्वित्र को आधुनिक भाषा में Vitiligo कह सकते हैं। आघात या व्रण के बाद या जल जाने पर जो स्थानीय त्वचा श्वेत वर्ण की हो जाती है उसे किलास Leucoderma कह सकते हैं। यदि अन्त: धातुओं की गम्भीर विकृति न हुई हो तब यह विकृति कुछ समय बाद ठीक हो जाती है ।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 7
2. सुश्रुत संहिता, निदान स्थान-अध्याय 5
3. सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 9
4. अष्टांङ्ग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 14
5. अष्टांङ्ग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 19, 20

निरुक्ति/व्युत्पत्ति

किलास—

'किलेन श्वैत्येन असति इति किलास:'। कित् श्वैत्य क्रीडनयो: (तु.प.से.)। 'इगुपध' (3/1/135) इति क:। किलति इति किल:। अस् दीप्तौ (भा.उ.से.)। अच् (3/1/134) अमरकोष रामाश्रयी टीका।

श्वित्र— श्वेतेते इति श्वित्रम्। 'श्विता वर्णे' धातु से श्वित्र शब्द बनता है जिसका अर्थ है—त्वचा का वैकारिक रुप से श्वेतवर्ण हो जाना।

परिभाषा

"श्वेत वर्ण प्राप्नोति इति श्वित्रम्" अर्थात् जब शरीर के किसी भी अंग की त्वचा का वर्ण श्वेत होकर अप्रिय हो जाता है तब उसे श्वित्र रोग कहते हैं।

पर्याय

शास्त्रों में श्वित्र रोग के निम्न पर्याय वर्णित हैं–

(i)	किलास	(ii)	वारुण
(iii)	दारुण	(iv)	श्वित्र
(v)	बाह्यकुष्ठ	(vi)	सफेद कोढ़
(vii)	Vitiligo	(viii)	Leucoderma
(ix)	White patches		

निदान

सामान्यत: कुष्ठ रोग के पूर्व में जो भी कारण बलाए गए हैं वे सभी कारण श्वित्र रोग उत्पादक भी होते हैं। ये प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं[1]—

1. **आहारज निदान**

(i) विरुद्ध अन्नपान सेवन (वैरोधिक आहार) (Dietetic Incompatibility)
(ii) मधु, मछली, लकुच, मूली, काकमाची का अतिसेवन
(iii) अजीर्ण की अवस्था में भी भोजन करना
(iv) दूध-दधि, तक्र, मांस, कुलथी का एक साथ सेवन करना
(v) गुरु-स्निग्ध-पिष्टान्न-अभिष्यन्दी पदार्थों का अति सेवन

2. **विहारज निदान**

(i) छर्दि आदि वेग धारण करना
(ii) ग्रीष्म, भयावस्था, परिश्रम के पश्चात् सहसा शीत जलपान या शीत जल से स्नान
(iii) अजीर्ण की अवस्था में व्यायाम करना
(iv) दिवास्वप्न
(v) पंचकर्म का अपचार होना

1. "विरोधीन्यन्नपानानि ..... ।.....कुर्वताम्॥" (च.चि. 7/4-8)

3. **आचरण जन्य निदान**[1]

(i) असत्य बोलना व चोरी करना
(ii) कृतघ्न होना
(iii) देवताओं की निंदा करना
(iv) गुरुजनों का अपमान करना
(v) पाप क्रिया में लिप्त रहना
(vi) पूर्व जन्म कृत पाप कर्म
(vii) पर स्त्री गमन करना

4. **निदानार्थकर रोग**

(i) व्रण, अम्लपित्त व अतिसार की चिकित्सा नहीं करने पर
(ii) कृमि रोग के बहुत दिन तक हरने पर (Hook work infestations)
(iii) अग्निदग्ध के पश्चात् (After burn & scald)

भेद

आचार्यों ने श्वित्र के निम्न भेद वर्णित किए हैं[2]—

I	(i)	सहज	(ii)	जन्मोत्तर कालज		
II	(i)	अग्निदग्धज	(ii)	व्रणज	(iii)	दोषज
III	(i)	दारुण	(ii)	चारुण	(iii)	श्वित्र
IV	(i)	वातिक	(ii)	पैत्तिक	(iii)	कफज
V	(i)	रक्तवर्ण	(ii)	ताम्रवर्ण	(iii)	श्वेतवर्ण

सम्प्राप्ति

बृहत्त्रयी में श्वित्र रोग की सम्प्राप्ति का वर्णन अलग से प्राप्त नहीं होता है। स्वभावत: श्वित्र रोग की सम्प्राप्ति भी कुष्ठ सदृश ही समझनी चाहिए। हारीत संहिता में बताया गया है कि वायु से प्रेरित पित्तदोष त्वचा में जाकर रक्त के साथ प्रकुपित होकर पाण्डुवर्ण को उत्पन्न करता है, जिसे श्वित्र रोग कहते हैं।

1. "वचांस्यतथ्यानि कृतघ्नभावो निन्दा सुराणां गुरुधर्षणं च।
पापक्रिया पूर्वकृतं च कर्म हेतुः किलासस्य विरोधि चान्नम्॥" (च.चि. 7/177)
2. i) "दारुणं चारुणं श्वितं नामभिस्त्रिभिः। विज्ञेयं त्रिविधं तच्च त्रिदोषं प्रायशश्च तत्॥" (च.चि. 7/173)
ii) "दोषे रक्ताश्रिते रक्तं ताम्रं मांससमाश्रिते। श्वेतं मेदःश्रिते श्वित्रं गुरु तच्चोत्तरोत्तरम्॥" (च.चि. 7/174)

संभावित सम्प्राप्ति चक्र

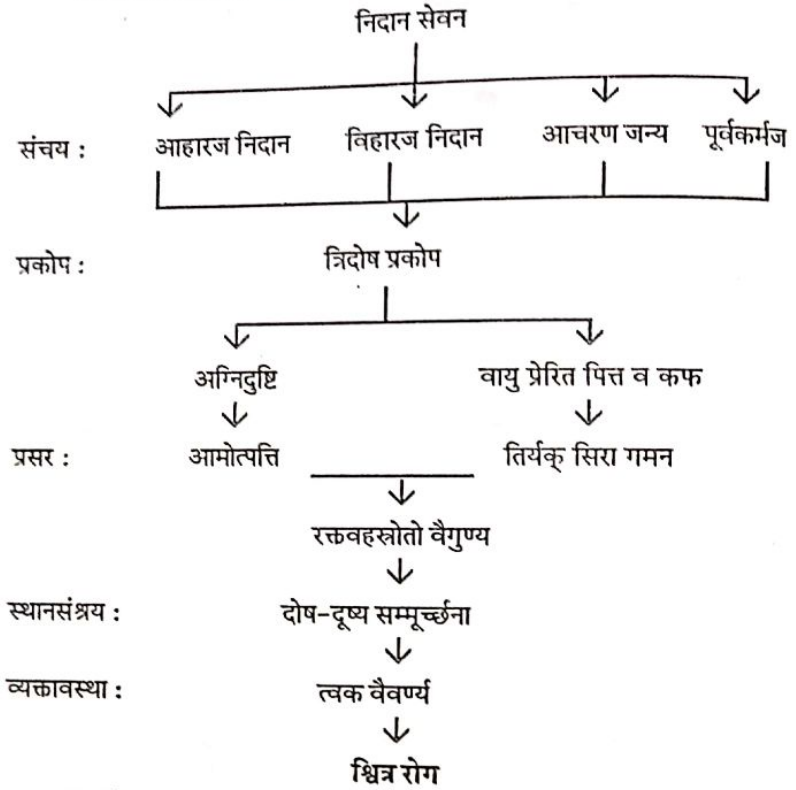

सम्प्राप्ति घटक

श्वित्र रोग के विभिन्न सम्प्राप्ति घटक निम्न हैं—

दोष	: त्रिदोष
दूष्य	: रक्त, मांस, मेद
स्रोतस्	: रसवह, रक्तवह स्रोतस्
स्रोतोदुष्टि लक्षण	: संग
अधिष्ठान	: त्वक्
रोगमार्ग	: बाह्य मार्गज रोग
अग्नि	: धात्वग्निमांद्य

पूर्वरुप

कुष्ठ के पूर्वरूपों को ही श्वित्र के पूर्वरूप समझना चाहिए। यथा[1]—

(i) वैवर्ण्य (Discolouration)
(ii) कण्डू (Itching)
(iii) तोद (Pin pricking pain)
(iv) सुप्तता (Anaesthesia)
(v) परिदाह (Burning sensation)
(vi) रोमहर्ष (Horripilation)
(vii) अस्वेदमतिस्वेदन (Anhydrosis or Hyperhydrois)
(viii) राग (Redness)
(ix) तृष्णा (Thirst)
(x) खरत्व (Dryness) आदि।

सामान्य लक्षण

श्वित्र रोग शरीर के किसी एक भाग में श्वेत चकत्ते (white patch) के रूप में प्रारंभ होता है जो धीरे-धीरे फैलता जाता है। इसमें अन्य किसी प्रकार की वेदना नहीं होती है। ग्रीष्म ऋतु में श्वेत चकत्ते पर दाह प्रतीत होता है जिसे रोगी सहन नहीं कर पाता है। आचार्य लघु वाग्भट् ने इसे अपरिस्रावी (No secretions) माना है[2]। स्राव के लिए रक्त आदि धातु की दुष्टि आवश्यक है। श्वित्र में केवल बाह्य त्वचा की ही विकृति होती है। वृद्ध वाग्भट ने श्वित्र को बाह्य कुष्ठ कहा है। त्वचा के बाह्य स्तर में वर्णक तत्व (Melanin pigments) का स्थानीय अभाव होता है जिससे वहाँ की त्वचा श्वेत हो जाती है। त्वचा की मृदुता खत्म हो जाती है। यह रोग शरीर में बहुत धीरे-धीरे फैलता है। कभी-कभी शरीर की समस्त त्वचा श्वेण वर्ण की हो जाती है बीच-बीच में कुछ कृष्ण वर्ण के धब्बे रह जाते हैं। यह रोग औपसर्गिक (infectious) नहीं है। इसलिए रोगी से घृणा नहीं करनी चाहिए।

विशिष्ट लक्षण

1. **वर्ण के आधार पर[3]**

(i) रक्त धातु में दोषों के आश्रित होने पर रक्तवर्ण का

1. "स्पर्शाज्ञत्वमतिस्वेदो ..... । .....कुष्ठलक्षणमग्रजम्॥" (च.चि. 7/11-12)
2. "कुष्ठैकसंभवं श्वित्रं किलासं दारुणं च तत्। निर्दिष्टमपरिस्रावि त्रिधातुद्भवसंश्रयम्॥" (अ.हृ.नि. 14/37)
3. "दोषे रक्ताश्रिते रक्तं ताम्रं मांससमाश्रिते। श्वेतं मेदःश्रिते श्वित्रं गुरु तच्चोत्तरोत्तरम्॥" (च.चि. 7/174)

(ii) मांस धातु में दोषों के आश्रित होने पर ताम्रवर्ण का एवं
(iii) मेद धातु में दोषाश्रित रहने पर श्वेत वर्ण का श्वित्र होता है। रक्त से ताम्र एवं ताम्र से श्वेत वर्णी श्वित्र कष्टकारी होता है।

2. **दोषज आधार पर**

(i) **वातज किलास (रक्ताश्रित)**[1]— अरुण (लाल) वर्ण
परुष (कठिन)
परिध्वंसि (रोमनाशक)
मण्डलाकार
रुक्षता

(ii) **पित्तज किलास (मांसाश्रित)**[2]— कमल पत्र वत्
परिदाह
ताम्रवर्ण
रोम शातन

(iii) **कफज किलास (मेदाश्रित)**[3]— श्वेत
स्निग्ध
कण्डू
बहल
गौरव
घनम्

3. **धातु के आधार पर**

(i) रक्तधातु गत – दारुण (रक्तवर्ण का)
(ii) मांसधातु गत – वारुण (ताम्र वर्ण)
(iii) मेद धातुगत – श्वित्र (श्वेत वर्ण)

सापेक्ष निदान

श्वित्र रोग का सापेक्ष निदान कुष्ठ, सिध्म कुष्ठ एवं पुण्डरीक कुष्ठ से किया जाता है जो निम्न तालिका में वर्णित किया गया है—

1. i) "तद्रासेन मण्डलमरुणं परुषं परिध्वंसिच।" (सु.नि. 5/17)
ii) "वातादूक्षारुणं॥" (अ.हृ.नि. 14/38)
2. i) "पित्तेन पद्मपत्रप्रतीकाशं सपरिदाहं च॥" (सु.नि. 5/17)
ii) "पित्तात्ताम्रं कमलपत्रवत्। सदाहं रोमविध्वंसि॥" (अ.हृ.नि. 14/38)
3. i) "श्लेष्माणा श्वेतं स्निग्धं बहलं कण्डूमच्च॥" (सु.नि. 5/17)
ii) "कफाच्छ्वे घनं गुरु सकण्डू च॥" (अ.हृ.नि. 14/39)

तालिका-1

कुष्ठ	किलास (श्वित्र)
1. यह स्राव युक्त संक्रामक व्याधि है।	1. यह स्रावरहित असंक्रामक व्याधि है।
2. यह क्रमि जन्य (जीवाणु) होता है।	2. इसका क्रमि से कोई सम्बन्ध नहीं है।
3. यह त्रिदोषज व्याधि है।	3. यह एक दोषज भी होता है।
4. यह रसादि सप्त धातुओं में होता है।	4. यह रक्त मांस व मेद धातु में होता है।
5. इससे शरीर की धातुओं का नाश होता है।	5. इसमें शारीरिक धातुओं का नाश नहीं होता है।

तालिका-2

किलास (श्वित्र)	सिध्म कुष्ठ	पुण्डरीक कुष्ठ
1. गहरा श्वेत मण्डल होता है।	उथला श्वेत मण्डल होता है।	श्वेताभ मण्डल होता है।
2. अरुण वर्ण व मध्य में स्निग्ध होता है।	अरुण वर्ण व मध्य में स्निग्ध होता है।	रक्त वर्ण, रक्त सिरा युक्त होता है।
3. प्रायः मुख, हस्त, पाद तथा उरःप्रदेश से प्रारम्भ होता है।	प्रायः उरःप्रदेश पर होता है	पूय, लसिका, रक्त, कण्डू, कृमि, दाह एवं पाक होता है।

साध्यासाध्यता

आचार्य सुश्रुत के अनुसार जिस किलास रोग में मण्डल (Patches) परस्पर मिले हुए हों, जो अन्त स्थानों यथा ओष्ठ, पाणि, पाद व गुह्य प्रदेश में उत्पन्न हो, जिसमें रोम रक्त वर्ण हो जाय एवं जो अग्निदग्ध से उत्पन्न हुआ हो वह किलास असाध्य होता है[1]।

आचार्य चरक के अनुसार जिस श्वित्र में मण्डल (Patches) परस्पर इतने समीप में सटे हों कि उनकी भिन्नता प्रतीत न होती हो, शरीर में मण्डल बहुसंख्या में हों, रक्त वर्ण के रोम हों तथा जो एक वर्ष से अधिक पुराना हो वह कुष्ठ असाध्य होता है[2]।

साध्य किलास लक्षण[3]

i. एक वर्ष के पहले (नवीन उत्पन्न) का हो

1. i) "तेषु संवद्धमण्डलमन्तेजातं रक्तरोम च साध्यमग्निदग्धं च।" (सु.नि. 5/17)
ii) "गुह्यपाणितलौष्ठेषु जातमप्यचिरन्तरगम॥" (अ.हृ.नि. 14/41)
2. "यत् परस्परोऽभिन्नं बहु यद्रक्तलोमवत्। यच्च वर्षगणोत्पन्न तच्छ्वित्रं नैव सिध्यति॥" (च.चि. 7/175)
3. i) "अरक्तरोम तनु यत् पाण्डु नाति चिरोत्थितम्। मध्यावकाशे चोच्छ्रूनं श्वित्रं तत्साध्यमुच्यते॥" (च.चि. 7/176)
ii) "अशुक्लरोमवहलमसंसृष्टं मिथो नवम्। अनग्निदग्धजं साध्यं श्वित्रं॥" (अ.हृ.नि. 1

ii. रोम रक्तवर्ण के न हुए हों
iii. जो पतला हो व पाण्डु वर्ण का हो
vi. मध्य भाग में कुछ शोथ युक्त हो
v. अग्निदग्ध से उत्पन्न न हुआ हो
vi. श्वित्र के मण्डल आपस में सटे हुए नहीं हों
vii. श्वित्र अग्निदग्ध से उत्पन्न न हुआ हो
viii. जिसके रोग श्वेत न हुए हों

उपद्रव

किलास (श्वित्र) रोग के उपद्रवों का स्पष्टत: उल्लेख शास्त्रों में प्राप्त नहीं होता है। त्वचा गत रोग होने से सौन्दर्य की दृष्टि से रोगी में हीन भावना आ जाती है एवं रोगी मानसिक तनाव सहते हुए मानस रोग अवसाद (Depression) का शिकार हो जाता है। किलास (श्वित्र) रोग दीर्घकाल तक उपस्थित रहने पर गम्भीर धातुगत होकर कुष्ठ रोग का रूप धारण कर लेता है।

चिकित्सा सूत्र

1. आचार्य वाग्भट् ने वर्णन किया है कि श्वित्र रोग कुष्ठ से भी अधिक घृणा उत्पन्न करने वाला होता है एवं शीघ्र ही असाध्य हो जाता है। अत: इस रोग का उपचार उसी शीघ्रता से करना चाहिये जैसे हम घर में आग लगते ही त्वरित व्यवस्था करते हैं[1]।
2. श्वित्र रोगी में वमन-विरेचन द्वारा शरीर के शुद्ध हो जाने पर पुन: अधिक शुद्धि के लिये कठगूलर रस व गुड़ का प्रयोग करना चाहिये। तत्पश्चात् निरन्तर तीन दिन तक धूप में बैठना चाहिये। अगर धूप में बैठने से प्यास लगे तो पेया का पान करना चाहिये। धूप सेवन के पश्चात् मण्डल (White Patches) के स्थान की त्वचा पर स्फोट (फफोले) उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हें कांटे से फोड़कर लसिका स्राव होने दें। तत्पश्चात् निरन्तर पन्द्रह दिन तक प्रात:काल कठगूलर की छाल, असन, प्रियंगु व शतपुष्पा का क्वाथ पिलावें[2]।
3. श्वित्र रक्तज रोग होने के कारण इसकी चिकित्सा हेतु विरेचन, उपवास एवं रक्तमोक्षण भी कराना चाहिये।

1. "कुष्ठादपि बीभत्सं यच्छीघ्रतरं च यात्यसाध्यत्वम्। श्वित्रमतस्तच्छान्त्यै यतेत दीप्ते यथा भवने॥" (अ.हृ.चि. 20/1)
2. "श्वित्राणां सविशेषं योक्तव्यं सेवतो विशुद्धानाम्। श्वित्रे संसनमग्र्यं मलपूरस इष्यते सगुड:॥ तं प्रीत्वा सुस्निग्धो यथाबलं सूर्यपादसंतापम्। संसेवेत विरिक्तस्त्र्यहं पिपासु: पिबेत् पेयाम्॥ श्वित्राङ्गे ये स्फोटा जायन्ते कण्टकेन तान्भिन्द्यात्। स्फोटेषु विस्रुतेषु प्रात: प्रात: पिबेत पक्षम्॥ मलपूरसनं प्रियङ्गुं शतपुष्पां चाम्भसा समुत्क्वाथ्य।" (च.चि. 7/162-165)

4. कुष्ठ रोग की समस्त चिकित्सा श्वित्र में रोगी की चिकित्सा हेतु भी अपनानी चाहिये।
5. बाह्य प्रयोग के लिये मन:शिलादि लेप या मूलीबीज, बाकुची बीज को गोमूत्र में पीसकर लेप लगाना चाहिये।

अत: उपर्युक्त विवरण के आधार पर श्वित्र रोग का सामान्य चिकित्सा क्रम निम्न प्रकार है—

I. दैवव्यपाश्रय चिकित्सा

श्वित्र को पापकर्मज (पूर्व जन्म कृत) रोग माना गया है। अत: दान-पुण्य, व्रत, उपवास, धार्मिक अनुष्ठान कर भगवान शिव, गणेश एवं भास्कर की पूजा करनी चाहिये[1]।

II. युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा

इसके भी निम्न तीन भेद हैं—

(1) अन्त:परिमार्जन चिकित्सा

(i) **संशोधन चिकित्सा**—कुष्ठ रोगानुसार वमन कर्म, विरेचन कर्म, शिरो विरेचन कर्म
(ii) **संशमन चिकित्सा**—औषध चिकित्सा प्रयोग

(2) बहि:परिमार्जन चिकित्सा—तैल, लेप प्रयोग

(3) शस्त्र प्रणिधान चिकित्सा

III. सत्वावजय चिकित्सा

चिकित्सा

(i) **संशोधन चिकित्सा**—पूर्व में एवं कुष्ठ रोगान्तर्गत वर्णित चिकित्सानुसार संशोधन कर्म कराने चाहिये। यथा—

वमन कर्म	—	कुष्ठ रोगानुसार
विरेचन कर्म	—	कठगूलर रस व गुड़ से

(ii) **संशमन चिकित्सा**—श्वित्र रोग में संशमन चिकित्सान्तर्गत निम्न औषध योगों का प्रयोग युक्ति पूर्वक करने का विधान है-

1. रस/भस्म

मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु

(i) **श्वित्रारि रस** : असन, बाकुची, लौह आदि

1. "व्रतदमयमसेवा त्यागशीलाभियोगो द्विजसुरगुरुपूजा सर्वसत्वेषु मैत्री। शिवशिवसुतताराभास्कराधनानि प्रकटितमलपापं कुष्ठमुन्मूलयन्ति॥" (अ.हृ.चि. 19/98)

(ii) रसमाणिक्य : हरताल
(iii) श्वेतारि रस : कज्जली, त्रिफला, बाकुची आदि
(iv) स्वर्ण माक्षिक भस्म : शुद्ध स्वर्णमाक्षिक
(v) कासीसबद्ध रस : पारद, रससिन्दूर, कासीस आदि
(vi) गंधक रसायन : शु. गन्धक, चतुर्जात, त्रिफला, विडंग आदि
(vii) तालकेश्वर रस : हरताल, ताम्र, मन:शिला

2. **वटी**
मात्रा : 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान : मधु, उष्णोदक
(i) आरोग्यवर्धिनी वटी : कुटकी, ताम्र, शिलाजतु आदि
(ii) शशिलेखा वटी : कज्जली, ताम्र, बाकुची आदि
(iii) कैशोर गुग्गुलु : त्रिफला, निम्ब, गुडुची आदि
(iv) सप्तसमा गुटिका : त्रिफला, त्रिकटु, तिल, भल्लातक आदि

3. **चूर्ण**
मात्रा : 1-3 ग्राम
अनुपान : कोष्ण जल
(i) पंचनिम्ब चूर्ण : निम्ब पंचांङ्ग
(ii) बाकुच्यादि चूर्ण : त्रिफला, बाकुची, शिलाजीत आदि
(iii) नारसिंह चूर्ण : शतावरी, चित्रक, भल्लातक आदि
(iv) मंजिष्ठादि चूर्ण : मंजिष्ठा, हरड़, निशोथ आदि

4. **क्वाथ**
मात्रा : 20-40 मि.ली.
अनुपान : मधु/जल
(i) मंजिष्ठादि क्वाथ : मंजिष्ठा, त्रिफला, कुटकी आदि
(ii) विभीतकादि क्वाथ : कठगूलर, विभीतकी, गुड़ आदि

5. **आसव/अरिष्ट**
मात्रा : 20-40 मि.ली.
अनुपान : समभाग जल
(i) खदिरारिष्ट : खदिर, देवदार, त्रिफला आदि
(ii) गोमूत्रासव : चित्रक, त्रिकटु, गोमूत्र आदि

6. **घृत**
मात्रा : 10-20 मि.ली.
अनुपान : दूध
(i) सोमराजी घृत : खदिर, बाकुची, त्रिफला आदि
(ii) पंचतिक्त घृत : निम्ब, पटोल, गुडुची आदि

7. **तैल**
मात्रा : बाह्य प्रयोगार्थ (यथोचित मात्रा)
(i) पंचानन तैल : एरण्ड, तुलसी, बाकुची, चक्रमर्द आदि
(ii) विभीतक तैल : विभीतक आदि
(iii) आरग्वधाद्य तैल : अमलतास, कुष्ठ, हरताल आदि
(iv) कुष्ठराक्षस तैल : पारद, गन्धक, चित्रक आदि
(v) मरिचाद्य तैल : मरिच, हरताल, मन:शिला आदि

8. **लेह**
मात्रा : 5-10 ग्राम
अनुपान : जल
(i) भल्लातकावलेह : निम्ब, अतीस, कुटकी, भल्लातक आदि
(ii) शशाङ्कलेखादि लेह : बाकुची, विडंग, चित्रक आदि
(iii) धात्र्यवलेह : त्रिफला, बिडंग, चित्रक, भल्लातक आदि
(iv) उदुम्बरावलेह : उदुम्बर आदि

9. **लेप**
मात्रा : बाह्य प्रयोगार्थ यथावश्यक
(i) मन:शिलादि लेप : मन:शिला, बिडंग, कासीस आदि
(ii) भल्लातक लेप : भिलावा, गोमूत्र, स्नूही क्षीर आदि
(iii) सवर्णकर लेप : बाकुची, हरताल, गोमूत्र आदि
(iv) श्वित्रनाशक लेप : त्रिकटु, सर्षप, हरिद्रा, चित्रक आदि
(v) करवीरादि लेप : करवीर, निम्ब, कुटज
(vi) मरिंचादि लेप : मरिच, कूठ, मन:शिला आदि

10. **अन्य लेपार्थ द्रव्य** : कठगूलर छाल, बाकुची बीज, चित्रक, मूली बीज, कूठ, मैनशिल, गोरोचन, कासीस, रसांजन आदि।

11. रसायन औषध प्रयोग
    मात्रा एवं विधि : आवश्यकतानुसार
    (i) भल्लातक रसायन
    (ii) बाकुची रसायन
    (iii) सोमराजी रसायन

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जनम्
2. प्रातः सायम्

तारकेश्वर रस	: 250 मि.ग्रा.
सुवर्ण माक्षिक भस्म	: 250 मि.ग्रा.
गंधक रसायन	: 250 मि.ग्रा.
नारसिंह चूर्ण	: 1 ग्राम
बाकुची चूर्ण	: 1 ग्राम
मधु से	1×2 मात्रा

3. आरोग्यवर्धिनी वटी : 2 वटी × तीन मात्रा
   शशिलेखा वटी : 2 वटी × तीन मात्रा
4. भोजनोत्तर
   खदिरारिष्ट : 20 मि.ग्रा.
   समभाग जल से 1×2 मात्रा
5. बाह्य प्रयोगार्थ बाकुची तैल तत्पश्चात् प्रातः आतप सेवन 10-20 मिनट
6. पथ्य आहार-विहार

पथ्यापथ्य

श्वित्र रोग में अलग से पथ्यापथ्य का निर्देश नहीं है। अतः पूर्व में वर्णित कुष्ठरोगानुसार पथ्यापथ्य का निर्देश श्वित्र रोगी को दिया जाना लाभप्रद है।

Latest Developments

Vitiligo (Leucoderma)

Vitiligo is an acquired cutaneous disorder characterized by white patches, surrounded by areas of normal pigmentation. It is more common in tropics and in blacks.

Causes

Although the cause is unknown, the condition may be associated with systemic disease such as Hypothyroidism, Hyperthyroidism, Diabetes Mellites, Addison's disease, Pernicious Anemia, Leprosy, Candidiasis, Syphilis.

Pathogenesis

The major pigment of the skin is called melanin. It is produced inside special cells called melanocytes which are located along the basal cells in the epidermis and contain small granules called melanosomes. Melanin is synthesized from the amino acid-tyrosine by the action of an oxidising and copper containing enzyme tyrosinage. In vitiligo the melanocytes in localized areas of the body stop producing melanin. The patches tend to be localized to the knees, elbows, ankles, knuckes.

Management : Principles

i. Oral and topical psoralen/followed by exposure to ultra-violet-A rays from an artificial lamp (PUVA) Photo therapy.
ii. Topical corticosteroids (Chemotherapy)
iii. Liver extract
iv. Tyrosine
v. Surgical graphting
vi. Melanocyte graphting
vii. Treatment of associated disorders such as Diabetes mellitus, Hyperthyroidism etc.

अध्याय-59

विसर्प रोग
(ERYSIPELAS)

व्याधि परिचय

कुष्ठ व किलास रोग की तरह विसर्प भी एक त्वचा का रोग है। यह रोग शरीर में सहसा उत्पन्न होकर विभिन्न गतियों में फैलता है। उर्ध्व, अध: एवं त्रिर्यक गति से फैलने के कारण इसे विसर्प कहते हैं। शीघ्र प्रसारित (acute onset) होने के स्वभाव के कारण इसे विसर्प कहते हैं[1]। एक भाग में लाल वर्ण का शोथ युक्त मण्डल दाह व स्राव के साथ उत्पन्न होता है जिसे आचार्य चरक ने शीघ्र फैलने वाला एवं विष के समान घातक बताया है[2]।

विसर्प रोग केवल बाहरी त्वचा तक ही सीमित नहीं रहता है अपितु यह श्लेष्मकला, हृदयावरण, फुफुसावरण, मस्तिष्कावरण तथा मस्तिष्क आदि आभ्यान्तर अंगों व रक्तादि धातुओं में भी प्रविष्ट हो जाता है। विसर्प की तुलना आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के Erysipelas नामक रोग से की जाती है। यह रोग Streptococcus erysipelatis नामक जीवाणुओं के संक्रमण से उत्पन्न होता है। आचार्य चरक ने 'कक्षा' नामक एक और विसर्प रोग का उल्लेख किया है जिसका फैलाव दायीं या बायें रोग 'यज्ञोपवीत' अर्थात् जनेऊ की परिधि में होता है जिसकी तुलना Herpes zoster नामक व्याधि से करते हैं।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 21
1. सुश्रुत संहिता, निदान स्थान-अध्याय 10
3. सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 17
4. अष्टाङ्ग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 13
5. अष्टाङ्ग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 18
6. अष्टाङ्ग संग्रह, निदान स्थान-अध्याय 13
7. माधव निदान-अध्याय 52
8. योग रत्नाकर-विसर्प निदान एवं विसर्प चिकित्सा

1. "विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः। परिसर्पोऽथवा वाम्ना सर्वतः परिसर्पणात्॥" (च.चि. 21/11)
2. "दारुणं रोगमाशी विष विषोपमम्। विसर्पन्तं शरीरेषु देहिनामुपलक्ष्यते॥" (च.चि. 21/6)

निरुक्ति-व्युत्पत्ति

(i) "विविधं सर्पति" अर्थात् जिस रोग की गति अनेक प्रकार से शीघ्र ही होती है। 'वि' उपसर्ग, 'सृप्' धातु से घञ् प्रत्यय करने पर 'विसर्प' शब्द बनता है।

(ii) "सर्वतः परिसर्पणात्" अर्थात् सभी जगह शीघ्र प्रसरित होने के स्वभाव से इसे विसर्प कहते हैं।

परिभाषा

यह रोग अनेक प्रकार की (उर्ध्व, अध: व तिर्यक) गतियों से शरीर के सभी प्रदेशों में गमन करता है, इसलिए इसे 'विसर्प' कहते हैं[1]।

पर्याय— विसर्प, परिसर्प

निदान

विसर्प रोग के हेतु निम्न दो प्रकार के होते हैं[2]—

I निज हेतु
II आगन्तुज हेतु

I निज हेतु

(i) लवण, अम्ल, कटु व उष्ण पदार्थों का अतिसेवन।
(ii) दधि, शुक्त (सिरका), सुरा, सौवीर, विकृत मदिरा अति सेवन।
(iii) राग, षाडव का अतिसेवन करना।
(iv) हरितशाक व विदाही अन्न का अति सेवन।
(v) कूर्चिका, किलाट (छेना), मन्दक का अतिसेवन।
(vi) तिल, उड़द, कुलथी, पिष्टक, ग्राम्य मांस, आनूप मांस, औदक मांस, लशुन का अति सेवन।
(vii) प्रक्लिन्न (सड़ा), असात्म्य व विरुद्ध आहार का निरन्तर सेवन करना।
(viii) अतिभोजन, दिवास्वप्न, अजीर्ण, अध्यशन करना।
(ix) छर्दि (वमन) का वेग विधारण[3]।

1. "विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः।" (च.चि. 21/11)
2. "लवणाम्लकटूष्णानां रसानामतिसेवनात्। दध्याम्लमस्तु शुक्तानां सुरा सौवीरकस्य च।
व्यापत्र बहुमद्योष्णरागषाडवसेवनात्। शाकानां हरितानां च सेवनाच्च विदाहिनाम्॥
कूर्चिकानां किलाटानां सेवनान्मदकस्य च। दध्नः शाण्डाकिपूर्वापामासुतानां च सेवनात्।।
तिलमाषकुलत्थानां तैलानां पैष्टिकस्य च। ग्राम्यानूपौदकानां च मांसानां लशुनस्य च॥
प्रक्लिन्नानाम सात्म्यानां विरुद्धानां च सेवनात्। अत्यादानाद्दिवास्वप्नादजीर्णाध्यशनात् क्षतात्॥
क्षतबन्ध प्रपतनाद्धीनकर्मातिसेवनात्। विषवाताग्निदोषाच्च विसर्पाणां समुद्भवः॥
(च.चि. 21/16-21)
3. "कण्डूकोठारुचिव्यङ्गशोथपाण्ड्वामयज्वराः। कुष्ठहल्लासवीसर्पाश्छर्दिनिग्रहजा गदाः॥" (च.सू. 7/14)

II आगन्तुज हेतु

(i) चाकू आदि अस्त्रों से कट जाना।
(ii) वध (बन्धन) रस्सी आदि से
(iii) उच्च स्थान से गिरना - प्रपतन
(iv) आतप का अति सेवन
(v) अधिक शारीरिक श्रम
(vi) विषैली वायु का सम्पर्क होना
(vii) अग्नि से जल जाने के कारण।

विसर्प के सप्त दूष्य

रक्त, लसीका, त्वचा एवं मांस, ये चार दूष्य व वात, पित्त, कफ ये तीन मल दोष ये सातों मिलकर विसर्प रोग को उत्पन्न करते हैं[1]।

विसर्प भेद

विसर्प के विभिन्न भेदों को निम्नानुसार वर्गीकृत कर सकते हैं—

I दोष भेद से

1. **आचार्य चरक** अनुसार 7 भेद हैं[2]-

(i) वातज विसर्प
(ii) पित्तज विसर्प
(iii) कफज विसर्प
(iv) सन्निपातज विसर्प
(v) वात पित्तज (अग्नि) विसर्प
(vi) वात कफज (ग्रन्थि) विसर्प
(vii) पित्त कफज (कर्दम) विसर्प

2. **आचार्य सुश्रुत** के अनुसार 5 भेद हैं[3]

(i) वातज विसर्प
(ii) पित्तज विसर्प

1. "रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः। विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्तधातवः॥"
(च.चि. 21/15)

2. "वातिकः पैत्तिकश्चैव कफजः सान्निपातिकः। चत्वार एते वीसर्पा वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रयः॥
आग्नेयो वातपित्ताभ्यां ग्रन्थ्याख्यः कफवातजः। यस्तु कर्दमको घोरः स पित्तकफसंभवः॥"
(च.चि. 21/13-14)

3. "वातात्मकोऽसित मृदुः ..... । ..... कीर्णम्॥"
(सु.नि. 10/4-7)

(iii) कफज विसर्प
(iv) सन्निपातज विसर्प
(v) क्षतज विसर्प

II **अधिष्ठान भेद से**[1]

(i) बाह्य अधिष्ठान (त्वचाश्रित) गत
(ii) आभ्यन्तर अधिष्ठान (आन्तरिक धातु) गत
(iii) उभयाधिष्ठान (आश्रित)

ये उत्तरोत्तर कठिन व दुश्चिकित्स्य होते हैं।

सम्प्राप्ति

पूर्व वर्णित निदानों के सेवन से कुपित हुए वात, पित्त व कफ मिलकर रक्त, लसीका, त्वचा एवं मांस को दूषित कर सर्वाङ्गविसर्पि, अस्थिर, आत्मलिंग युक्त विस्तृत अनुन्नत शोफ को उत्पन्न करते हैं[2]।

शरीर की भीतरी धातुओं में कुपित दोष भीतरी मार्गों में आश्रित होकर या कुपित होकर आभ्यन्तर विसर्प रोग को उत्पन्न करते हैं। जब दोष बाहरी मार्ग में आश्रित होकर बाहरी धातुओं को दूषित करते हैं तो बाह्य विसर्प को उत्पन्न करते हैं एवं जब कुपित दोष बाहरी व भीतरी धातुओं में आश्रित होकर दोनों दोष-दूष्यों को दूषित करते हैं तो उभयाश्रित विसर्प उत्पन्न करते हैं[3]।

उपर्युक्त सम्प्राप्ति श्रृंखला को सम्प्राप्ति चक्र के माध्यम से भी समझा जा सकता है जो यहां दर्शाया जा रहा है—

1. "बहिःश्रितः श्रितश्चान्तस्तथा चोभयसंश्रितः।
विसर्पो बलमेतेषां ज्ञेयं गुरु यथोत्तरम्॥"
(च.चि. 21/23)

2. i) "एतैर्निदानैर्व्यामिश्रैः कुपिता मारुतादयः।
दूष्यान् संदूष्य रक्तादीन् विसर्पन्त्यहिताशिनाम्॥"
(च.चि. 21/22)

ii) "त्वङ्मांसशोणितगताः कुपितास्तु दोषाः,
सर्वाङ्गसारिणमिहास्थितमात्मलिङ्गम्।
कुर्वन्ति विस्तृतमनुन्नतमाशु शोफं,
तं सर्वतो विसरणाच्च विसर्पमाहुः॥"
(सु.नि. 10/3)

3. "अन्तः प्रकुपिता दोषा विसर्पन्त्यन्तराश्रये।
बहिर्बहिः प्रकुपिताः सर्वत्रोभयसंश्रिताः॥"
(च.चि. 21/25)

सम्प्राप्ति चक्र

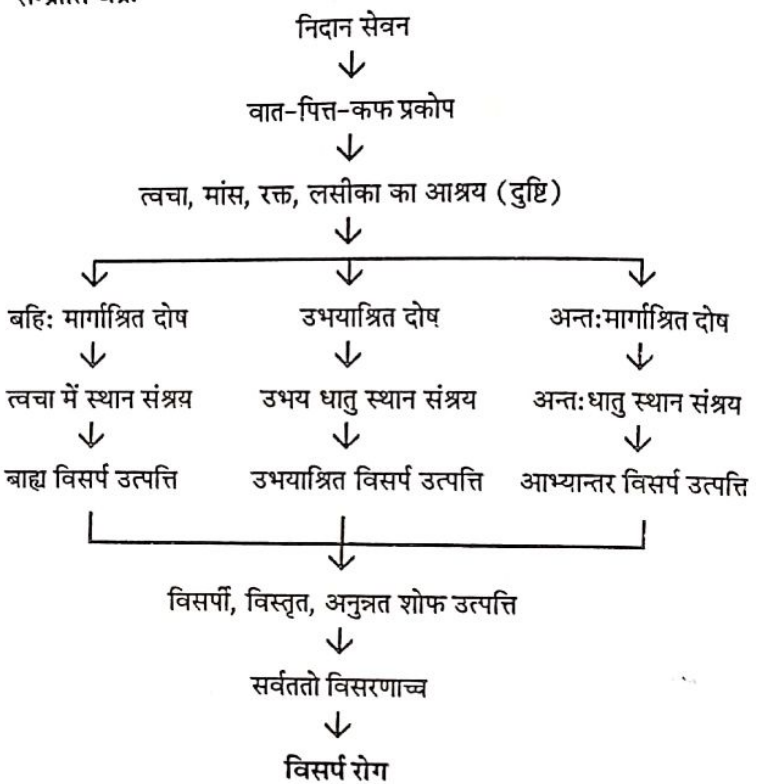

सम्प्राप्ति घटक

विसर्प रोग के विभिन्न सम्प्राप्ति घटक निम्नानुसार हैं—

दोष	:	त्रिदोष (पित्त प्रधान)
दूष्य	:	रक्त, मांस, लसीका, त्वचा
स्रोतस्	:	रक्तवह स्रोतस्
स्रोतोदुष्टि लक्षण	:	संग के पश्चात् विमार्गगमन
अधिष्ठान	:	त्वक्
व्याधिस्वभाव	:	आशुकारी

पूर्वरुप

विसर्प के पूर्वरुपों का वर्णन संहिताओं में प्राप्त नहीं होता है।

रुप

शास्त्रों में विसर्प के विभिन्न भेदों के लक्षण निम्नानुसार वर्णित हैं—

1. **वातज विसर्प-लक्षण**[1]

(i) वात ज्वर के समान पीड़ा होना।
(ii) शोथ में स्फुरण, सुई चुभने सी पीड़ा, भेदनवतपीड़ा, आयाम, अर्ति व हर्ष होना।
(iii) विसर्प युक्त स्थान का श्याव-अरुण होना
(iv) भ्रम, दवथु, तृष्णा, उद्वेष्टन, कास, अस्थि सन्धि भेद (पीड़ा), संधिविश्लेषण होना।
(v) वेपन, अरोचक, अविपाक, नेत्र आकुलता, अश्रु स्राव होना।
(vi) अंगों पर चीटियों के चलने की तरह अनुभव होना (पिपीलिका संचार)
(vii) वात, मूत्र, पुरीष की असम्यक प्रवृत्ति होना।
(viii) चिकित्सा नहीं की जाय तो शीघ्र फूटने वाली, पतली, अरुण वर्ण या श्याव वर्ण की पिड़िका अति संख्या में उत्पन्न हो जाती हैं।

2. **पित्तज विसर्प लक्षण**[2]

(i) यह विसर्प शीघ्र फैलता है।
(ii) पित्तज ज्वर के समस्त लक्षण यथा-ज्वर, तृष्णा, मूर्च्छा, मोह, छर्दि, अरोचक, अंगभेद, अतिस्वेद, अन्तर्दाह, प्रलाप, शिरःशूल, चक्षु आकुलता, अनिद्रा, भ्रम, शीतवातवारि इच्छा उत्पन्न होते हैं।
(iii) तीव्र दाह, पाक, स्फोट उत्पन्न होता है।
(iv) नेत्र, मूत्र व मल का वर्ण हरा या हल्दी के समान होना।
(v) हरित या हरिद्रा समान प्रत्येक वस्तुओं को देखना।
(vi) विसर्प स्थान का वर्ण ताम्र, हरित, हारिद्र, नील, कृष्ण, रक्त वर्णी हो सकता है।
(vii) पिड़िकाएं शीघ्र पकती हैं।

3. **कफज विसर्प लक्षण**[3]

(i) यह धीरे-धीरे फैलता है।
(ii) देर से पकता है।

---

1. i) "तस्य रुपाणि - भ्रम द्रवधुपिपासा ..... ।
..... वातविसर्पः ॥" (च.चि. 21/30)
ii) "वातात्मकोऽसित मृदुः परुषोऽङ्गमर्दसंभेदतोदपवनज्वरलिङ्गयुक्तः ।" (सु.नि. 10/4)
iii) "तत्र वातात्परीसर्पो वातज्वर समव्यथः ।
शोफ स्फुरणनिस्तोदभेदायामार्ति हर्षवान् ॥" (अ.हृ.नि. 13/47-48)

2. i) "पित्ताद्द्रुतगतिः पित्तज्वरलिङ्गोऽतिलोहितः ॥" (अ.हृ.नि. 13/48)
ii) "तस्य रुपाणि-ज्वरस्तृष्णा मूर्च्छा ..... । ..... पित्तविसर्पः ॥" (च.चि. 2/32)
iii) "पित्तात्मको द्रुतगतिर्ज्वरदाहपाक स्फोटप्रभेदबहुलः क्षतजप्रकाशः ।
दोष प्रवृद्धिहतमांस सिरो यदा स्यात् स्रोतोजकर्दमनिभो न तदा स सिध्येत् ॥" (सु.नि. 10/5)

3. i) "तस्य रुपाणि-शीतकः ..... । ..... इति श्लैष्म विसर्पः ॥" (च.चि. 21/34)

(iii) स्निग्ध, श्वेतवर्ण, अल्पशोफ युक्त तीव्र, कण्डू, युक्त पिड़का उत्पन्न होती है।
(iv) कफज ज्वर के लक्षण मिलते हैं।
(v) शीत, शीत ज्वर, गुरुता, निद्रा, तन्द्रा, अरुचि, मधुरास्यता, आस्योपलेप, निष्ठीवन, छर्दि, आलस्य, स्तैमित्य, अग्निमांद्य होता है।
(vi) त्वचा मोटी हो जाती है।
(vii) अनेक पिड़िकाएं उत्पन्न होती हैं।
(viii) नख, मूत्र, नेत्र श्वेतवर्ण के होते हैं।

उपर्युक्त विसर्पों की जब यथा समय समुचित व्यवस्था न की जाय तो उन स्थानों पर अपने-अपने दोषों के लक्षणों वाले स्फोट उत्पन्न हो जाते हैं। ये स्फोट पककर फूट जाने पर अपने-अपने दोषों से युक्त लक्षणों वाले व्रणों का रुप धारण कर लेते हैं[1]।

4. वात-पित्तज विसर्प (अग्नि विसर्प) लक्षण[2]

(i) वात-पित्त के लक्षणों वाला ज्वर, छर्दि, मूर्च्छा, अतिसार, तृष्णा, भ्रम, अस्थिशूल, अग्निमांद्य, तमक श्वास, अरोचक उत्पन्न होते हैं।
(ii) सम्पूर्ण शरीर में जलते हुए अंगार से झुलसे के समान अनुभूति होना।
(iii) जिस-जिस अवयव पर यह रोग फैलता है वह-वह अवयव बुझे हुए कोयले के समान काला, नीला या लाल हो जाता है।
(iv) अवयव अग्निदग्ध के समान फफोलों से भर जाते हैं।
(v) बेहोशी, श्वास, हिक्का, बेचैनी व मृत्यु हो जाती है।

5. वात-कफज विसर्प (ग्रंथि) लक्षण[3]

(i) कफ दोष द्वारा अवरुद्ध वात दोष, कफ दोष का अनेक प्रकार से भेदन करके सिरा, त्वचा, स्नायु तथा मांस में स्थित रक्त धातु को दूषित करके लम्बी, छोटी, गोल, मोटी, खुरदरी गांठों (ग्रंथियों) की माला को पैदा करता है।

---

ii) "श्लेष्मात्मकः सरति मन्दमशीघ्रपाकः, स्निग्धः सितश्चयथुरल्परुरुग्रकण्डूः॥" (सु.नि. 10/6)

iii) "कफात्कण्डूयुतः स्निग्धः कफज्वर समानरुक्।" (अ.हृ.नि. 13/49)

1. "स्वदोषलिङ्गैश्चीयन्ते सर्वे स्फोटैरुपेक्षिताः। ते पक्वभिन्नाः स्वं स्वं च बिभ्रति व्रणलक्षणम्॥" (अ.हृ.नि. 13/49-50)

2. i) "तदुपतापादातुरः ..... । .....विद्यात्॥" (च.चि. 21/36)

ii) "वातपित्ताज्वर ..... । .....उच्यते॥" (अ.हृ.नि. 13/50-56)

3. i) "स्थिरगुरुकठिन ..... । .....ग्रंथि विसर्प॥" (च.चि. 21/39)

ii) "कफेन रुद्धः पवनो ..... । .....कफमारुतकोपजः॥" (अ.हृ.नि. 13/56-59)

(ii) ये ग्रंथियाँ लाल वर्ण की होती है।
(iii) ग्रंथियों से तीव्र पीड़ा, ज्वर, श्वास, कास, अतिसार, मुख का सूखना, हिध्मा, छर्दि, भ्रम, मूर्च्छा, विवर्णता, मोह, अंग-भंग, मन्दाग्नि उत्पन्न होती है।

6. कफ-पित्तज (कर्दम) विसर्प लक्षण

(i) ज्वर, स्तम्भ, निद्रा, तन्द्रा, शिरःशूल, अंगसाद, विक्षेप, प्रलाप, अरोचक, भ्रम, मूर्च्छा, मन्दाग्नि, पिपासा आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।
(ii) यह विसर्प प्रायः आमाशय के किसी एक भाग में उत्पन्न होता है।
(iii) यह पीली, लाल या हल्की श्वेत वर्ण की पिड़िकाओं से घिरा रहता है।
(iv) विसर्प द्वारा आक्रान्त स्थान मेचक, काला, स्निग्ध, मलिन, शोथयुक्त, भारी, भीतर से पका हुआ, अधिक उष्मा वाला तथा छूने मात्र से फट जाता है, सड़ जाता है उस स्थान का मांस सड़कर कीचड़ (कर्दम) जैसा हो जाता है। छूने पर उस स्थान में सिरा-स्नायु समूह दिखने लगता है। उस स्थान से मुर्दे जैसी गन्ध आती है[1]।

7. अभिघातज (क्षतज) विसर्प लक्षण[2]

बाह्य कारणों यथा—विष, शस्त्र आदि आगन्तुक कारणों द्वारा क्षत हो जाने के कारण कुपित वात दोष रक्त सहित पित्त को दूषित करके विसर्प की उत्पत्ति करता है। यह विसर्प कुलथी के दानों के सदृश्य फफोलों से घिर जाता है। इसमें शोथ, ज्वर, वेदना तथा दाह होता है। इन फफोलों का वर्ण काला एवं लाल होता है।

8. सन्निपातज विसर्प लक्षण

सन्निपातज से उत्पन्न विसर्प रोग में पृथक्-पृथक् दोषों से उत्पन्न होने वाले विसर्प रोग के सभी लक्षण उत्पन्न होते हैं। यह सन्निपातज विसर्प शरीर के सम्पूर्ण अंगों में फैलने वाला होता है। सभी धातुओं में इसकी गति होती है। यह शीघ्र ही रोगी को मारने वाला होता है। यह विसर्प अधिक उपद्रव करने वाला होता है। यह अचिकित्स्य होता है[3]।

---

1. i) "तद्विकारः क्षीतज्वरः ..... । .....विद्यात्॥" (च.चि. 21/38)

ii) "कफपित्ताज्वरः स्तम्भो ..... । .....तम्॥" (अ.हृ.नि. 13/60-64)

2. i) "बाह्यहेतोः क्षतात्क्रुद्धः सरक्तं पित्तमीरयन्। विसर्पमारुतः कुर्यात् कुलत्थसदृशैश्चितम्। स्फोटैः शोफ ज्वर रुजादाहान्वयं श्यावलोहितम्॥" (अ.हृ.नि. 13/65-66)

3. "सर्वायत समुत्थं सर्वलिङ्गत्यापिनं सर्वधातनुसारिणमाशुकारिणं महात्ययिकमितिसन्निपातविसर्पमचिकित्स्यं विद्यात्॥" (च.चि. 21/41)

सापेक्ष निदान

विसर्प व कुष्ठ रोग में दोष-दूष्य समान होते हैं। अन्तर केवल इतना होता है कि विसर्प रोग में दोष, दूष्यों को शीघ्र दूषित करते हैं व कुष्ठ रोग में शनैः-शनैः दोष, धातुओं को दूषित करते हैं।

क्र.स.	कुष्ठ रोग	विसर्प रोग
i.	त्रिदोषज रोग है एवं सभी दोष समान रूप से विकृत होते हैं।	यह भी त्रिदोषज रोग है परन्तु तर-तम भेद से दोष प्रकुपित होते हैं।
ii.	विरुद्धाहार, पापकर्म, देव-गुरु का अपमान मुख्य हेतु है।	क्षत व विष प्रमुख हेतु है।
iii.	दोष क्रम कफ-पित्त-वात एवं दूष्य क्रम त्वचा, रक्त, मांस एवं लसीका है।	दोष क्रम पित्त-वात-कफ एवं दूष्य क्रम रक्त, लसीका त्वचा एवं मांस है।
iv.	चिरस्थायी, आनुवंशिक तथा जन्मान्तर में भी जाने की प्रवृत्ति होती है।	अस्थायी, अनानुवंशिक व्याधि है।
v.	कुष्ठ एक स्थान पर प्रारम्भ होकर अन्य स्थानों पर धीरे-धीरे फैलता है।	विसर्प प्रायः शीघ्र ही सर्व शरीर में फैल जाता है।
vi.	स्पर्शाज्ञत्व (loss of sensation) मिलता है।	स्पर्शाज्ञत्व नहीं मिलता है।
vii.	चिरकारी (Chronic) व्याधि है।	आशुकारी (Acute) व्याधि है।
viii.	वेदना व दाह कम मिलता है।	वेदना, दाह, स्फुरण अधिक होता है।
ix.	कष्टसाध्य या असाध्य रोग है।	सुखसाध्य या कष्टसाध्य व्याधि है।
x.	सभी प्रकार के कुष्ठों की उत्पत्ति में त्रिदोषों तथा चार दूष्यों का दूषित होना आवश्यक है।	विसर्प में त्रिदोषों तथा चार दूष्यों में से एक या दो या तीन का दूषित होना आवश्यक है।

साध्यासाध्यता[1]

i. वातज पित्तज व कफज विसर्प साध्य होते हैं।
ii. अग्नि तथा कर्दम विसर्प में यदि उपद्रव उत्पन्न न हुए हों तथा सिरा-स्नायु-मांस-क्लेद को व्याप्त न किए हो तो साध्य होते हैं।
iii. ग्रंन्थि विसर्प भी उपद्रव रहित होने पर साध्य होता है।
iv. सन्निपातज विसर्प चिकित्सा में विरुद्ध उपक्रम वाला होने से असाध्य होता है।
v. क्षतज विसर्प भी असाध्य माना गया है।
vi. पित्तज विसर्प में यदि रोगी का शरीर अंजन समान काला हो जाय तो असाध्य है।
vii. मर्म स्थान गत विसर्प कृच्छ्रसाध्य होता है।
viii. बर्हिमार्गगत (त्वचा गत) विसर्प साध्य, अन्तर्मार्गगत (धातु गत) कृच्छ्र साध्य एवं उभय आश्रित विसर्प असाध्य होता है।

उपद्रव

विभिन्न ग्रन्थों में विसर्प रोग के निम्न उपद्रव वर्णित किए गए हैं[2]—

i. ज्वर
ii. अतीसार
iii. छर्दि
iv. त्वचा व मांस का फटना
v. क्लान्ति (बिना परिश्रम के थकावट)
vi. अरुचि
vii. अविपाक

चिकित्सा सूत्र

1. विसर्प रोग की चिकित्सा में सर्वप्रथम लंघन व रुक्ष पदार्थों का सेवन करना चाहिये।

1. i) "सिध्यन्ति वातकफपित्तकृता विसर्पाः सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति।
पैत्तानिलवपि च दर्शितपूर्वलिंगौ, सर्वे च मर्मसु भवन्ति हि कृच्छ्रसाध्या॥"
(सु.नि. 10/8)
ii) "तत्र वातपित्तश्लेष्मनिमित्ता..... ..... ।..... विद्यात्॥"
(च.चि. 21/42)
iii) "बहिर्भार्गोश्रितं साध्यमसाध्यमुभयाश्रितम्। विसर्पदारुणं विद्यात् सुकृच्छ्रंत्वन्तराश्रया॥"
(च.चि. 21/24)
iv) "यस्य सर्वाणि लिङ्गानि बलवद्यस्य कारणम्। यस्य चोपद्रवाः कष्टा मर्मगो यश्च हन्ति सः॥"
(च.चि. 21/28)

2. "ज्वरातिसारवमथुत्वङ्मांसदरणक्लमाः। अरोचकाविपाकौ च विसर्पाणामुपद्रवाः॥"
(मा.नि. 52/24)/(यो.र. विसर्प चि. 2

2. वातादि दोषों की विवेचना करके तद्दोषगत वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण, प्रलेप, तिक्त रस, अविदाही पदार्थों का सेवन कराना चाहिये[1]।
3. वायु के स्थान में यदि दोष कुपित होकर विसर्प रोग उत्पन्न हो तो सर्वप्रथम वायु के स्थान को रुक्ष औषधियों द्वारा रुक्षण करना चाहिये।
4. यदि विसर्प रोग में रक्त या पित्त का अनुबन्ध हो तो प्रारम्भिक अवस्था में स्नेहन का प्रयोग नहीं करना चाहिये[2]।
5. वातज विसर्प एवं अल्प दोष युक्त पित्तज विसर्प में तिक्त घृत का पान कराना चाहिये।
6. यदि पित्तज विसर्प में दोष अति मात्रा में वृद्ध हो तो विरेचन का प्रयोग करना चाहिये। यह विरेचन, विरेचक द्रव्यों से सिद्ध घृत से ही करना चाहिये[3]।

अतः विसर्प रोग की चिकित्सा में दोषानुसार निम्न उपक्रम चिकित्सार्थ अपनाने चाहियें—

i. लंघन (रुक्षण)
ii. वमन
iii. विरेचन-घृत से
iv. रक्तमोक्षण
v. परिषेचन
vi. प्रलेप
vii. तिक्त रस सेवन

योगरत्नाकर कार ने द्वन्द्वज तथा सन्निपातज विसर्प रोग में कुष्ठ रोग चिकित्सा के अन्तर्गत वर्णित समस्त रस औषधि, क्वाथ, चूर्ण, घृत तथा रसायन औषधियां प्रयुक्त करने का निर्देश दिया है[4]।

1. i) "विरेकवमनालेपसेचनासृग्विमोक्षणैः। उपाचरेद् यथादोषं विसर्पान् विदाहिभिः॥" (च.द.विसर्प चि./1)
   ii) "लङ्घनोल्लेखने शस्ते तिक्तकानां चासेवनम्। कफस्थानगते सामे रुक्षशीतैः प्रलेपयेत्॥
   पित्त स्थानगतेऽप्येतत् सामे कुर्याच्चिकित्सितम्। शोणितस्यावसेकं च विरेकं च विशेषतः॥" (च.चि. 21/44-45)
2. "मारूताशयसंभूतेप्यादितः स्याद्विरुक्षणम्। रक्तपित्तान्वयेप्यादौ स्नेहनं न हितं मतम्॥" (च.चि. 21/46)
3. "वातोल्बणे तिक्तघृतं पैत्तिके च प्रशस्यते। लघु दोषे, महादोषे पैत्तिके स्याद्विरेचनम्॥" (च.चि. 21/47)
4. "त्रिदोषघ्नीं क्रियां कुर्याद्विसर्पे द्वंद्व सम्भवे। रसायनानि कुष्ठेषु सर्पीषि क्वाथनानि च॥
   चूर्णादीन्यपि सर्वाणि विसर्पेऽप्वृपि तान्यलम्॥' (यो.र. विसर्प चि. /9)

चिकित्सा

(I) शोधन चिकित्सा

(i) **वमनकर्म**[1]—पटोल, निम्ब, पिप्पली, मदनफल एवं इन्द्रयव से वमन कर्म कराना चाहिये।

(ii) **विरेचन**[2]
   i. त्रिफला क्वाथ में घृत एवं निशोथ चूर्ण मिलाकर विरेचनार्थ देना चाहिये।
   ii. त्रायमाण घृत से।
   iii. आमलकी स्वरस व घृत से।

(iii) **रक्तमोक्षण**[3]—शाखा (त्वचा) गत विसर्प में।

(II) शमन चिकित्सा

विसर्प रोग में निम्न औषध रोगों का प्रयोग युक्तिपूर्वक कराना चाहिये—

1. **रस/भस्म-सत्व**

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु
(i) रसमाणिक्य	: हरताल
(ii) चन्द्रकला रस	: पारद, गन्धक, ताम्र आदि
(iii) गंधक रसायन	: शु. गन्धक, चतुर्जात, गुडुची आदि
(iv) अमृता सत्व	: अमृता सत्व
(v) कालाग्निरुद्ध रस	: पारद, अभ्रक, गन्धक, स्वर्णमाक्षिक आदि

2. **वटी/गुग्गुलु**

मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: जल, मधु
(i) कैशोर गुग्गुलु	: त्रिफला, निम्ब, गुडुची आदि
(ii) आरोग्यवर्धिनी वटी	: कुटकी, ताम्र, शिलाजतु आदि
(iii) संशमनी वटी	: गुडुची
(iv) नवकषाय गुग्गुलु	: अमृता, वासा, पटोल, गुग्गुलु आदि

1. "पटोलपिचुमर्दाभ्यां पिप्पल्या मदनेन च। विसर्पे वमनं शस्तं तथा चेन्द्रयवैः सह॥' (च.चि. 21/52)
2. "त्रिफलारससंयुक्तं सर्पिस्त्रिवृतया सह। प्रयोक्तव्यं विरेकार्थं विसर्पज्वरनाशनम्॥" (च.चि. 21/66)
3. "शाखादुष्टे तु रुधिरे रक्तमेवादितो हरेत्॥" (च.चि. 21/68)

3. **क्वाथ**
   - मात्रा : 20–40 मि.ली.
   - अनुपान : जल
   - (i) मुस्तादि क्वाथ : मुस्तक, निम्ब, पटोल आदि।
   - (ii) चन्दनादि क्वाथ : चन्दन, उत्पल आदि।
   - (iii) सारिवादि क्वाथ : अनन्तमूल, आमलकी, उशीर आदि।
   - (iv) किरातादि क्वाथ : चिरायता, लोध्र, चन्दन आदि।
   - (v) पटोलादि शीत क्वाथ : परवल, निम्ब, दारुहरिद्रा आदि।

4. **आसवं/अरिष्ट**
   - मात्रा : 20–40 मि.ली.
   - अनुपान : जल
   - (i) मंजिष्ठाद्यरिष्ट : मंजिष्ठा आदि।
   - (ii) सारिवाद्यरिष्ट : सारिवा, नागरमोथा आदि।
   - (iii) खदिरारिष्ट : खदिर, देवदारु, त्रिफला आदि।

5. **घृत**
   - मात्रा : 10–20 मि.ली.
   - अनुपान : क्षीर
   - (i) शतधौत घृत : नीम के काढ़े के जल से 100 बार धोया हुआ गाय का घी सभी विसर्पों में लाभकारी है।
   - (ii) पंचतिक्त घृत : निम्ब, वासा, पटोल आदि।
   - (iii) महापद्मक घृत : मुलैठी, लोध्र, नागकेशर आदि।
   - (iv) महातिक्त घृत : अतीस, कुटकी, चिरायता आदि।
   - (v) त्रायमाणा घृत : त्रायमाणा, कुटकी, नागरमोथा आदि।
   - (vi) शौर्यादि घृत : मुलैठी, कमल, सारिवा आदि।
   - (vii) दूर्वादि घृत : वट, गूलर, जामुन, दूर्वा आदि।

6. **प्रलेप/प्रदेह** : बाह्य प्रयोगार्थ
   - (i) दशाङ्ग लेप : शिरीष, मधुयष्ठी, तगर, हरिद्रा आदि।
   - (ii) उदुम्बरादि प्रदेह : उदुम्बर, मधुयष्टी, नागकेशर आदि।
   - (iii) सारिवादि प्रलेप : अनन्तमूल, कमलकेशर, खश आदि।
   - (iv) त्रिफलादि लेप : त्रिफला, खस, मंजिष्ठा आदि।
   - (v) मांस्यादि लेप : जटामांसी, राल, लोध्र आदि।

7. **तैल** : बाह्य प्रयोगार्थ
   - (i) करञ्जादि तैल : करंज, लाङ्गली, स्नूही आदि।
8. **एकल द्रव्य** : चन्दन, निम्ब, अमृता, शिग्रु, मंजिष्ठा, हरिद्रा आदि।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. संशोधन-वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण
3. संशमन चिकित्सा

		प्रातः सायम्
i.	रसमाणिक्य	: 125 मि.ग्रा.
	गंधक रसायन	: 250 मि.ग्रा.
	अमृता सत्व	: 500 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
ii.	आरोग्यवर्धिनी वटी	: 2 वटी × तीन मात्रा
	कैशोर गुग्गुलु	: 2 वटी × तीन मात्रा
iii.	भोजनोत्तर	
	खदिरारिष्ट	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1×2 मात्रा
iv.	पंचतिक्त घृत	: 20 मि.ली.
	दूध/कोष्ण जल से	1×2 मात्रा
v.	दशांङ्ग लेप+पंचतिक घृत	: बाह्य प्रयोगार्थ
vi.	रात्रि में त्रिफला चूर्ण	: 3 ग्राम
	कोष्ण जल से	एक मात्रा

पथ्यापथ्य—विसर्प रोगी में निम्न पथ्यापथ्य आहार-विहार का युक्तिपूर्वक प्रयोग करना लाभप्रद रहता है[1]

---

1. i) "अन्नपानानि वक्ष्यामि विसर्पाणां निवृत्तये। लङ्घितेभ्यो हितो मन्थो रूक्षः सक्षौद्रशर्करः॥ मधुरः किंचिदक्लो वा दाडिमामलकान्वितः। सपरूषकमृद्वीकः सखर्जूरः कृताम्बुना॥" (च.चि. 21/108, 109)

   ii) "विदाहीन्यन्नपानानि विरुद्धं स्वप्नं दिवा। क्रोधव्यायामसूर्याग्निप्रवातांश्च विवर्जयेत्॥" (च.चि. 21/115)

पथ्य

आहार	विहार
लघु, रुक्ष अन्न-पान, मधु व चीनी मिलित मन्थ, दाड़िम, आमलकी, फालसा, मुनक्का, खर्जूर, पटोल, यव, मांस रस, शालि चावल (पुराना), सत्तू, गोधूम, मूंग-मसूर-चना आदि।	लंघन (उपवास)।

अपथ्य

आहार	विहार
विदाही अन्न-पान, विरुद्ध अन्नपान, लशुन, दधि, सुरा-मदिरा, तिल, उड़द, कुलथी, लवण, अम्ल, कटु द्रव्य आदि।	दिवा स्वप्न, क्रोध, व्यायाम, आतप सेवन, मैथुन, वेगधारण, स्वेदन कर्म आदि।

Latest Developments

Erysipelas

It is an acute contagious febrile disease with localized inflammation and redness of skin and subcutaneous tissue accompanied by systemic sings and symptoms. This is usually caused by Streptococcus pyogenes infecting the dermal tissue without involving the superficial skin.

Signs/Symptoms

(i) Lesion consists of a localized area of swelling and redness with a well defined raised border. The lession is warm and tender (Painful).
(ii) Fever & chills (In severe cases).
(iii) Nausea & vomiting.
(iv) Bullae may develop.

Diagnosis

The presence of bacteria in the lesions can be demonstrated by making a smear from the pus and using gram stain or culturing the organisms on artificial media.

Management : Principles

(i) Proper bathing & cleaning the area with soap and water.
(ii) Topical antibiotics.
(iii) Systemic antibiotics.
(iv) Cool compresses.

Prognosis

The progress is excellent with treatment. Without treatment nephritis, abscesses and septicemia may develop.

अध्याय-60

शीतपित्त, उदर्द व कोठ रोग

(URTICARIAS-ALLERGIC REACTIONS)

व्याधि परिचय

बृहत्त्रयी में शीतपित्त-उदर्द आदि रोगों का स्पष्टत: वर्णन नहीं है। आचार्य चरक ने कफ नानात्मज रोगों में 'उदर्द' रोग का वर्णन किया है। छर्दि का वेग धारण करने से कोठ की उत्पत्ति मानी गयी है। रक्त प्रदोषज विकारों में भी कोठ व असृग्मण्डल (रक्त मण्डल) का वर्णन किया गया है। आचार्य माधवकर एवं भावप्रकाश ने शीतपित्त-उदर्द-कोठ का स्पष्टत: वर्णन किया है। शीतपित्त को आजकल 'Urticaria' कहा जाता है। शीतपित्त वायु प्रधान, उदर्द कफ प्रधान एवं कोठ में रक्त दोष की प्रधानता मानी गई है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इन सभी का कारण एक प्रकार की अनूर्जता (Allergy) मानी गई है। अत: शीतपित्त, उदर्द व कोठ क्रमश: उत्तरोत्तर परिवर्धित एवं जीर्ण अवस्थायें हैं। लघु वाग्भट् (अष्टङ्ग हृदय) ने उत्कोठ व कोठ को क्षुद्ररोगों में गिना है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. माधवनिदान-अध्याय 50
2. चक्रदत्त-अध्याय 52
3. भावप्रकाश उत्तरार्ध-अध्याय 55
4. योगरत्नाकर, उत्तरार्ध-शीतपित्त-उदर्द-कोठ निदानम्
5. भैषज्य रत्नावली-अध्याय 55

परिभाषा

1. **शीतपित्त**—त्वचा के ऊपर भ्रमर के काटने के समान उत्पन्न रक्त शोथ को 'शीतपित्त' कहा जाता है।
2. **उदर्द**—त्वचा के ऊपर तीव्र कण्डू युक्त शोथ को 'उदर्द' कहा जाता है।
3. **कोठ**—त्वचा के ऊपर कण्डू युक्त रक्तशोथ को 'कोठ' कहा जाता है। बार-बार कोठ होने को 'उत्कोठ' कहा जाता है।

निदान[1]

शीतपित्त, उदर्द व कोठ के निदान शास्त्रों में निम्नानुसार वर्णित किए गए हैं—

i. शीतवायु स्पर्श
ii. छर्दि वेग धारण
iii. वमन कर्म का अयोग
iv. शीत-उष्ण का एक साथ प्रभाव होना
v. असात्म्य, वैरोधिक आहार का एक साथ सेवन
vi. अनूर्जता यथा असात्म्य प्रोटीन, विकृत मत्स्य, मांस, अण्डा, कृमिदंश (Insect Bite) भल्लातक-केवांच स्पर्श, संखिया योग सेवन
vii. अंकुशमुख या गण्डूपद कृमि का उपसर्ग।

सम्प्राप्ति[2]

निदान सेवन (शीतवायु स्पर्शादि)
↓
कफ व वायु प्रकोप (स्वकारण प्रकुपित)
↓
प्रकुपित पित्त से सह सम्बन्ध
↓
त्वचा च रक्तादि धातुओं में प्रसर
↓ ↓
बाह्य त्वक् में स्थान संश्रय — आभ्यन्तर रक्तादि धातु में स्थान संश्रय
↓
शोथ-मण्डलोत्पत्ति
↓
शीतपित्त-उदर्द-कोठ-उत्कोठ प्रादुर्भाव
(Inorder of Severity and Chronicity)

उपर्युक्त सम्प्राप्ति चक्र से स्पष्ट है कि शीतवायु के स्पर्श से कफ व वायु प्रकुपित होकर पित्त के साथ मिलकर त्वचा तथा आन्तरिक रक्तादि धातुओं में फैलकर शीतपित्त, उदर्द एवं कोठ रोग को उत्पन्न करते हैं।

1. i) "शीतमारुतसंस्पर्शात्प्रदुष्टौ कफमारुतौ। पित्तेन सह सम्भूय बहिरन्तर्विसर्पतः॥" (मा.नि. 50/1)
   ii) "दुश्छर्दिते स्फोटकोठकण्डूहृत्खाविशुद्धिर्गुरुगात्रता च॥" (च.सि. 1/16)
2. "शीतमारुतसंस्पर्शात्प्रदुष्टौ कफमारुतौ। पित्तेन सह सम्भूय बहिरन्तर्विसर्पतः॥" (मा.नि. 50/5) (भा.प्र. 55/1)

सम्प्राप्ति घटक

शीतपित्त-उदर्द व कोठ के सम्प्राप्ति घटक निम्न प्रकार हैं—

दोष	:	पित्त, कफ व वायु
दूष्य	:	त्वक् (रस) एवं रक्तादि
अधिष्ठान	:	त्वक्
व्याधि स्वभाव	:	आशुकारी (Acute)

पूर्वरूप

शीतपित्त-उदर्द व कोठ के पूर्वरूप निम्नानुसार वर्णित हैं[1]—

i. अतितृष्णा (पिपासाधिक्य) (Excessive thirst)
ii. अरुचि (Anorexia)
iii. हृल्लास (Nausea)
iv. देहसाद (शरीर की शिथिलता-Inactive body)
v. गौरवता (Heaviness in body)
vi. रक्तलोचनता (नेत्रों में लालपन Congestion of Eyes)

रूप

शीतपित्त, उदर्द व कोठ के निम्न लक्षण प्रकट होते हैं—

(1) **शीतपित्त**[2]—(शीतपित्त में वायु दोष का प्राबल्य रहता है)
(i) त्वचा पर वरटी (ततैया) के काटने के समान शोथ (चकते) उत्पन्न होना
(ii) कण्डू (खुजली)
(iii) तोद (सुई चुभने जैसी पीड़ा)
(iv) छर्दि
(v) ज्वर
(vi) दाह आदि।

(2) **उदर्द**[3]—(उदर्द में कफ दोष का प्राबल्य रहता है)
(i) उत्संग युक्त (मध्य में दबा हुआ) शोथ उत्पत्ति
(ii) रक्तवर्ण के कण्डू युक्त चकते
(iii) शिशिर ऋतु में अधिक उत्पत्ति

1. "पिपासाऽरुचि हृल्लास देहसादाङ्गगौरवम्। रक्तलोचनता तेषां पूर्वरूपस्य लक्षणम्॥" (मा.नि. 50/2)/(भा.प्र. 55/2)
2. "वरटीदष्टसंस्थानः शोथः संजायते बहिः। सकण्डूस्तोदबहुलश्छर्दिज्वरविदाहवान्॥
   उदर्दमिति तं विद्याच्छीतपित्तमथापरे। वाताधिकं शीतपित्तमुदर्दस्तु कफाधिकः॥" (मा.नि. 50/3-4)
3. "सोत्सङ्गैश्च सरागैश्च कण्डूमद्भिश्च मण्डलैः। शैशिरः कफजो व्याधिरुदर्द इति कीर्तितः॥" (मा.नि. 50/5)

(3) **कोठ**—वमन कर्म का अयोग होने से या छर्दि के वेग को रोकने से रूके हुए पित्त, कफ एवं अन्न से कण्डू-लालिमा युक्त अनेक चकत्ते (शोथ) उत्पन्न हो जाते हैं। उन्हें कोठ कहते हैं। जब कोठ का अनुबन्ध बराबर बना रहता है अर्थात् एक चकत्ते (Rash) के नष्ट होने पर दूसरा चकत्ता उत्पन्न होता रहता है तो ऐसे चकत्तों को 'उत्कोठ' कहते हैं। कोठ एवं उत्कोठ में पित्त एवं कफ दोष का प्राबल्य रहता है।

सापेक्ष निदान[1]—शीतपित्त, उदर्द एवं कोठ में निम्न लक्षणों के आधार पर भेद किया जा सकता है—

	शीतपित्त	उदर्द	कोठ*
1.	वाताधिक्यता	कफ प्रधान	कफ-रक्त प्रधान
2.	तोद (पीड़ा) अधिक	कण्डू व वमन	कण्डू अधिक
3.	किंचित् मण्डलोत्पत्ति	आवस्थिक मण्डलोत्पत्ति	आवस्थिक रक्ताभ मण्डलोत्पत्ति
4.	शीत व उष्ण के एक साथ सेवन से उत्पन्न होता है।	शिशिर ऋतु में उत्पन्न होता है	वमन (छर्दि) के अयोग या रोकने से (वर्षा ऋतु में)
5.	आशुकारी (Acute)	Subacute	जीर्ण (Chronic)

***नोट**—उत्कोठ में बार-बार मण्डलोत्पत्ति होकर यह चिरकालानुबन्धी है।

चिकित्सा सूत्र

1. सामान्यतया शीतपित्त, उदर्द व कोठ रोग की चिकित्सा एक समान है।
2. कृमि व द्रदू नाशक चिकित्सा के पश्चात् स्नेहन-स्वेदन करके संशोधन (वमन व विरेचन कर्म) कर कोष्ठ शुद्धि करनी चाहिये।
3. तत्पश्चात् कुष्ठ नाशक चिकित्सा करें[2]।
4. सर्षप तैल से अभ्यंग व गर्म जल से परिषेक कराना चाहिये[3]।
5. कोठ रोग में अम्लपित्त, कुष्ठ व उदर्द नाशक चिकित्सा अपनानी चाहिये। महातिक्त घृत का प्रयोग कर रक्तमोक्षण कराना प्रशस्त होता है[4]।

1. "असम्यग्वमनोदीर्णपित्तश्लेष्मान्ननिग्रहैः। मण्डलानि सकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च॥ उत्कोठः सानुबन्धश्च कोठ इत्यभिधीयते।" (मा.नि. 50/5-6)
2. "शीतपित्ते उदर्दे च तथा कोठभिधे गदे। कृमिद्रुहरः कार्यः शीतपित्तेऽखिलः क्रमः॥ स्निग्धस्विन्नस्य संशुद्धिमादौ कोष्ठे समाचरेत्। ततः कुष्ठहरः सर्वो विधेयो विधिरादरात्॥" (यो.र.शीतपित्तादि चि.14/15)
3. "अभ्यङ्ग कटुतैलेन सेकश्चोष्णेन वारिणा।" (भा.प्र. 55/8)
4. "कुष्ठोक्तं च क्रमं कुर्य्यादम्लपित्तघ्नमेव च। उदर्दोक्तां क्रियाञ्चापि कोठरोगे समासंतः। सर्पिः पीत्वा महातिक्तं कार्य्यं शोणितमोक्षणम्॥" (च.द. 52/8)

शीतपित्त, उदर्द व कोठ रोग में निम्न चिकित्सा सिद्धान्त अपनाना चाहियें—

(i) **निदान परिवर्जनम्**

(ii) **संशोधन चिकित्सा**
अभ्यंग, स्वेदन (परिषेक), वमन कर्म, विरेचन कर्म, रक्तमोक्षण

(iii) **संशमन चिकित्सा**
प्रलेप, उद्वर्तन, मुखमार्ग द्वारा औषध सेवन

चिकित्सा

(I) संशोधन चिकित्सा

(i) अभ्यंग : सर्षप (कटु) तैल से।
(ii) स्वेदन : उष्णोदक से सिंचन।
(iii) वमन[1] : पटोल, निम्ब, वासा से।
(iv) विरेचन[2] : त्रिफला, गुग्गुलु व पिप्पली से या नवकार्षिक कषाय से।
(v) रक्तमोक्षण : महातिक्त घृत का पान कराकर रक्तमोक्षण कराना चाहिये[3]।

(II) संशमन चिकित्सा

शीतपित्त, उदर्द व कोठ रोग में निम्न औषध योगों का प्रयोग युक्ति पूर्वक करना लाभप्रद रहता है—

1. **रस/भस्म/सत्व**
   मात्रा : 125-250 मि.ग्रा.
   अनुपान : मधु
(i) सर्वतोभद्र रस : अभ्रक, गंधक, पारद, तालीसपत्र आदि
(ii) कामदुधा : प्रवालपिष्टी, वराटिका, स्वर्णगैरिक आदि
(iii) स्वर्ण माक्षिक : स्वर्ण माक्षिक भस्म
(iv) स्वर्ण गैरिक : स्वर्ण गैरिक भस्म
(v) सूतशेखर रस : पारद, टंकण, वत्सनाभ (पित्त भञ्जी) आदि
(vi) यवक्षार : यवक्षार
(vii) अमृता सत्व : अमृता सत्व
(viii) चन्द्रकला रस : कज्जली, अभ्रकभस्म, ताम्र, भस्म आदि
(ix) प्रवाल भस्म : प्रवाल भस्म

1. "उदर्दे वमनं कार्य्यं पटोलारिष्टवारिणा।" (चक्रदत्त 52/1)
2. "त्रिफलापुरकृष्णाभिर्विरेकश्चात शस्यते। त्रिफलां क्षौद्रसहितां पिबेद्वा नवकार्षिकम्॥" (च.द्र. 52/2)
3. "सर्पिः पीत्वा महातिक्तं कार्य्यं शोणितमोक्षणम्।" (चक्रदत्त 52/8)

(x) शीतपित्तभञ्जन रस : कज्जली, कासीस, ताम्र, भृङ्गराज आदि
(xi) श्लेष्मपित्तान्तक रस : रस सिन्दूर, अभ्रक भस्म, गंधक
(xii) पित्तान्तक योग : स्वर्णगैरिक, मिश्री, अमृतधारा

2. **वटी/गुग्गुलु**
मात्रा : 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान : मधु, उदक
(i) आरोग्यवर्धिनी वटी : कुटकी, ताम्र, शिलाजतु आदि
(ii) नवकार्षिक गुग्गुलु : त्रिफला, पिप्पली, गुग्गुलु आदि
(iii) कैशोर गुग्गुलु : त्रिफला, निम्ब, गुडुची आदि
(iv) स्पर्शवातघ्नी वटी : कुचला, कज्जली, वत्सनाभ आदि

3. **चूर्ण**
मात्रा : 3-6 ग्राम
अनुपान : जल, क्षीर-शर्करा
(i) त्रिफला चूर्ण : हरीतकी, विभीतकी आमलकी
(ii) पञ्चशिरीष चूर्ण : शिरीष पञ्चांग
(iii) त्रिकटु चूर्ण : शुण्ठी, मरिच, पिप्पली
(iv) यवान्यादि चूर्ण : अजवाइन, त्रिकटु आदि

4. **क्वाथ**
मात्रा : 20-40 मि.ली.
अनुपान : जल
(i) अमृतादि योग : गुडुची, हरिद्रा, निम्ब, धन्वयास आदि
(ii) यष्टयादि योग : मुलैठी, मधूक, रास्ना, लालचन्दन आदि

5. **आसव/अरिष्ट**
मात्रा : 20-40 मि.ली.
अनुपान : जल
(i) अमृतारिष्ट : दशमूल, अमृता, मुस्तक आदि
(ii) मंजिष्ठारिष्ट : मंजिष्ठा आदि

6. **पाक/खण्ड/लेह**
मात्रा : 3-6 ग्राम
अनुपान : उष्ण जल
(i) हरिद्रा खण्ड : हरिद्रा, त्रिकटु, एला आदि
(ii) आर्द्रक खण्ड : पिप्पली, आर्द्रक, तेजपत्र आदि
(iii) निम्बपत्रादि लेह : निम्बपत्र, आमलकी, घृत आदि

7. **घृत**
मात्रा : 10-20 मि.ली.
अनुपान : क्षीर, उष्ण जल
(i) महातिक्त घृत : अतीस, कुटकी, चिरायता आदि

8. **प्रलेप/उदवर्त्तन** : बाह्य प्रयोगार्थ
(i) दूर्वादि लेप : दूर्वा, हरिद्रा
(ii) सैंधवादि योग : सैंधव, कूठ, घृत-लेपार्थ
(iii) सिद्धार्थादि योग : सर्षप, हरिद्रा, कूठ, चक्रमर्द, सर्षप तैल (उद्वर्त्तनार्थ)

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. जीर्णावस्था (Chronic Stage) में संशोधन यथा वमन-विरेचन कर्म
3. संशमन चिकित्सा

प्रातः सायम्

i शुद्ध स्वर्ण गैरिक : 250 मि.ग्रा.
सूतशेखर रस : 125 मि.ग्रा.
अमृता सत्व : 500 मि.ग्रा.
त्रिकटु चूर्ण : 1 ग्राम
मधु से 1×2 मात्रा

ii कैशोर गुग्गुलु : 2 वटी × तीन मात्रा
आरोग्यवर्धिनी वटी : 2 वटी × तीन मात्रा

iii भोजनोत्तर
चन्दनासव : 20 मि.ली.
समभाग जल से 1×2 मात्रा

iv हरिद्रा खण्ड : 3 ग्राम
दूध से 1×2 मात्रा

v रात्रि
पंचसकार चूर्ण : 3 ग्राम
कोष्ण जल से 1 मात्रा

vi पथ्य सेवन

पथ्यापथ्य

शीत पित्त, उदर्द व कोठ के रोगी को निम्न पथ्यापथ्य आहार-विहार का पालन किया जाना रोगी के लिए लाभप्रद रहता है[1]—

पथ्य

आहार	विहार
पुराण शालि चावल, जांगल मांसरस, मूंग, कारवेल्लक (करेला), शिग्रू (सहजन), दाड़िम (अनार), मधु, सर्षप तैल आदि।	लंघन अभ्यंग आदि।

अपथ्य

आहार	विहार
इक्षु विकार, आनूप मांस रस, नवीन मद्य, विरुद्ध भोजन, अम्ल रस आदि।	छर्दि वेगावरोध वायु सेवन दिवास्वप्न, स्नान, आतप सेवन, मैथुन आदि

Latest Developments

URTICARIA

A vasular reaction of the skin characterized by a sudden general eruption of pale wheals or papules, which are associated with severe itching.

Causes—Contact with external irirtants such as nettle, physical agents, foods, insect bites, serum sickness, pollens, drugs (aspirin, penicillin), milk, egg, meat, food preservatives etc.

Types

i. Solar Urticaria
ii. Pressure urticaria
iii. Cold urticaria
iv. Urticaria pigmentosa
v. Urticaria papulosa
vi. Urticaria bullosa
vii. Urticaria haemorrhagica etc.

Diagnosis— By appropriate provocation test.

Management : Principles

i. Avoidance of causes
ii. Symptomatic treatment
iii. Antihistaminic drugs
iv. Corticosteroids drugs
v. Immune therapy etc.

1. "शालिमुद्ग कुलत्थांश्च कारवेल्लमुपोदिकाम्। वेत्राग्रं तक्रनीरं च पित्तश्लेष्महराणि च॥ शीतपित्तोदर्दकोठरोगिणां पथ्यमीरितम्। स्नानमातपमम्लं च गुर्वन्नं च विवर्जयेत्॥" (यो.र. शीतपित्तादि चि. पथ्यापथ्य/1-2)

अध्याय-61

त्वचा रोगों में रोगाणु जन्य संक्रमण

आचार्य सुश्रुत ने निदान स्थान[1] में स्पष्ट किया है कि प्रसंग (संक्रमित व्यक्ति से मैथुन करना) से, गात्रस्पर्श (संक्रमित व्यक्ति के शरीर स्पर्श) से, निःश्वास से, सहभोजन से, सह शय्यासन से, वस्त्र-माला-अनुलेपन प्रयोग से संक्रमण एक-दूसरे व्यक्ति में फैलता है। इससे कुष्ठ (skin disorders), ज्वर, शोष, नेत्राभिष्यन्द आदि औपसर्गिक (infectious) रोग एक-दूसरे व्यक्ति में संक्रमित होते हैं।

संसर्ग

जब प्रत्यक्ष सम्पर्क (direct contact) से कोई आतुर अन्य स्वस्थ व्यक्ति को रोग का संक्रमण पहुंचाता है तो उसे संसर्ग कहा जाता है।

उपसर्ग

जब अप्रत्यक्ष सम्पर्क या कारणों से (यथा भोजन, पेय पदार्थ, दूषित वायु, उदक से) कोई आतुर स्वस्थ व्यक्ति में रोग उत्पन्न करता है तो उसे उपसर्ग कहते हैं।

संसर्ग-उपसर्ग के कारण (Sources of Infections)

एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में रोग के जीवाणुओं के संक्रमण (infections) के निम्न कारण होते हैं—

I प्रत्यक्ष

यथा कुष्ठ, विसर्प, मसूरिका, उपदंश, फिरंग, पूयमेह, ज्वर, नेत्राभिष्यन्द, अतर्क रोग में प्रत्यक्ष संसर्ग, खांसने, छींकने, बोलने, थूंकने (छींक्न) आदि से रोगाणुओं का संवाहन होता है।

II अप्रत्यक्ष

मोतीझरा (Typhoid), विसूचिका (Choera), डिप्थीरिया आदि रोगों में खाद्य-पेय पदार्थों के माध्यम से संक्रमण फैलता है।

III कीट या कृमि द्वारा

मच्छर, मक्षिका, कीट, पिस्सू, जुओं आदि के माध्यम से उत्पन्न होने वाले प्लेग, मलेरिया, फाइलेरिया आदि रोग इस वर्ग में आते हैं।

1. "प्रसङ्गात् गात्रसंस्पर्शात्निःश्वासात् सहभोजनात्। सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥ कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च। औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥" (सु.नि. 5/33-34)

IV भूमि द्वारा

धनुर्वात (Tetanus), वातकोथ या गलन रोग (Gangrene) आदि रोग संक्रमित भूमि के माध्यम से एक से दूसरे व्यक्ति में संक्रमित होते हैं।

संसर्ग-उपसर्ग (संक्रमण) का प्रसार (Spread of Infections)

संसर्ग-उपसर्ग (संक्रमण) के प्रसार हेतु निम्न माध्यम विशेष योगदान देते हैं—

I अन्तर्ग्रहण द्वारा (By ingestion)
II अन्तःक्षेपण द्वारा (By injection)
III वायु द्वारा (By air)
IV बिन्दूत्क्षेप द्वारा (Droplet infection)
V धूलकण द्वारा (By dust particles)

शरीर में संक्रमण के मार्ग

I **पाचन संस्थान (अन्नवह स्त्रोतस्) द्वारा**— यथा विसूचिका (हैजा), अतिसार, आन्त्रिक ज्वर (Typhoid) आदि रोग।

II **श्वसन संस्थान (प्राणवह स्त्रोतस्) द्वारा**— यथा— राजयक्ष्मा, रोहिणी (Diphtheria) मसूरिका, रोमान्तिका, इन्फ्लूएंजा, कुक्कुर कास (Whooping cough) आदि रोग।

III **त्वक् संस्थान द्वारा**— यथा मलेरिया, कालाजार, अलर्क, मूषक दंश ज्वर, फाइलेरिया, कुष्ठ आदि रोग।

IV **जननेन्द्रिय (शुक्रवह/आर्त्तववह स्त्रोतस्) द्वारा**— यथा एड्स, फिरंग, उपदंश, पूयमेह आदि रोग।

Common Skin Infections

I.	**Bacterial**	:	Tuberculosis
			Leprosy
			Pyodermas (Erysipelas, Folliculitis, Cellulitis, Boil, Impetigo etc.)
II.	**Viral**	:	Verruca vulgaris
			Fillifrom warts
			Genital warts
			Molluscum Contagiosum
			Herpes zoster
			Herpes simplex

III **Fungal** :

i.	Dermatophytes	:	Microsporon Trichophyton Epidermophyton
	Produce Diseases such as :		Ring worm Tinea infection Dhobie itch
ii.	Candidiasis :		Vulvo - vaginitis Oral thrush, Phimosis, Chronic Paronychia
iii.	Pityriasis vericolor		
iv.	Mycetoma etc.		

दशम-खण्ड

चयापचय एवं धातु विकृति जन्य रोग
(METABOLIC DISORDERS)

चयापचय जनित एवं धातु विकृतिजन्य व्याधियों का चिकित्सा सूत्र एवं चिकित्सा यथा— प्रमेह (मधुमेह), वातरक्त, धमनी-प्रतिचय, तरल-वैद्युत, अम्ल-क्षार असन्तुलन जन्य विकार

चयापचय परिचय

आयुर्वेदीय चिकित्सा विज्ञान में अग्नि व्यापार (Metabolism) का महत्वपूर्ण स्थान है और अग्नि को प्राण की संज्ञा दी गई है। आयु, बल, वर्ण, स्वास्थ्य, उत्साह, शरीर का उपचय (Anabolism), अपचय (Catabolism), प्रभा, ओज, तेज इन सभी का मूल अग्नि ही है[1]। चयापचय प्रक्रिया (Metabolism) को धातुपाक कहा गया है। शरीर में ग्रहण किए गए चतुर्विध आहार द्रव्यों का जठराग्नि द्वारा पाचन एवं शोषण होने के पश्चात्, धातुओं में कोषों (Cells) के द्वारा उपभोग करके अपने-अपने नियत कर्मों का सम्पादन एवं मलों की उत्पत्ति होती है। आयुर्वेद शास्त्र में इस सम्पूर्ण क्रियाश्रृंखला को धातु पाक कहते हैं[2]।

शरीर में ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा हृदय, मस्तिष्क, यकृत्, वृक्क आदि कोष्ठांगों की स्वाभाविक क्रियाएं सदैव अनवरत रूप से चलती रहती हैं। इन क्रियाओं को सम्पादित करने के लिए ऊर्जा (Calory / Energy) की आवश्यकता पड़ती है। यह ऊर्जा दोष-धातु, मलों, विशेषत: शारीरिक धातुओं से उत्पन्न होती है। धातुओं में विशिष्ट रासायनिक (Biochemical) प्रक्रियाएं अनवरत चलती रहती हैं जिनसे ऊर्जा उत्पन्न होती है और इस प्रक्रिया में धातुओं का विनाश होता है। धातु विनाश की प्रक्रिया को अपचय (Catabolism) कहा जाता है।

इस प्रकार शरीर में ऊर्जा को उत्पन्न करने के लिए धातुओं का निरन्तर क्षय (अपचय) होता रहता है, इस धातु क्षय की पूर्ति नियमित रुप से आहार सेवन के द्वारा

1. "आयुर्वर्णबलं स्वास्थ्यमुत्साहोऽपचयौ प्रभा। ओजस्तेजोऽग्नय: प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुका:॥" (च.चि. 15/3)
2. "विविधमशितं पीतं लीढं खादितं .....।
.....धातवो हि धात्वाहारा: प्रकृतिमनुवर्तन्ते॥" (च.सू. 28/3)

करते हैं। भुक्त आहार, आहार रस में परिवर्तित होकर उसका जठराग्नि के द्वारा पाचन एवं शोषण सम्पादित होकर सर्वशरीर गत (दोष-धातु-मल-मन आदि) समस्त धातुओं का पोषण करता है। इस शरीर पोषण की प्रक्रिया को उपचय या चय (Anabolism) कहते हैं।

इन उपचय (Anabolism) व अपचय (Catabolism) की प्रक्रियाओं को संयुक्त रुप से धातुपाक या चयापचय प्रक्रिया (Metabolism) कहा जाता है। स्वस्थ मनुष्य के शरीर में जब तक अग्नि व्यापार (जाठराग्नि, धात्वाग्नि एवं भूताग्नि का सम प्रमाण) सामान्य रुप से चलता रहता है तब तक चयापचय से संबंधित सभी प्रक्रियाएँ (Metabolic Activities) सुचारु रुप से चलती रहती हैं और मनुष्य पूर्ण रुपेण स्वस्थ रहता है। किन्तु किन्हीं कारणों से अथवा विशिष्ट परिस्थितियों में उपचय (Anabolism) एवं अपचय (Catabolism) की प्रक्रियाओं में विषमता उत्पन्न हो जाती है तब विभिन्न चयापचय विकृति जनित विभिन्न व्याधियां (Metabolic Disorders) शरीर में उत्पन्न हो सकती हैं।

सम्पूर्ण चयापचय प्रक्रिया का ग्रहण 'काय' शब्द से होता है और काय चिकित्सा में उन सभी रोगों का अन्तर्भाव हो जाता है जो इस चयापचय प्रक्रिया की विकृति से उत्पन्न होते हैं अथवा जिन रोगों में चयापचय सम्बन्धी विकृति पाई जाती है। चयापचय सम्बन्धी प्रक्रियाओं के सम्यक् कार्य मनुष्य शरीर में करने के लिए 'कायाग्नि' को उत्तरदायी माना गया है। भुक्त आहार द्रव्य शारीरिक धातुओं द्वारा ग्राह्य तथा चयापचय प्रक्रिया उपयोगी तभी बनते हैं जबकि जठराग्नि के द्वारा उन्हें पाचन एवं शोषण के योग्य बना दिया जाय।

धातुपाक (चयापचय) भेद

मनुष्य द्वारा भुक्त आहार द्रव्यों का शारीरिक धातुओं द्वारा उपभोग निम्न दो प्रकार से होता है—

(i) प्रसाद पाक
(i) मल पाक

(i) प्रसाद पाक (Anabolism)

आहार का जठराग्नि द्वारा पाक होकर शरीर में नवीन द्रव्यों की उत्पत्ति होती है जैसे— प्रोभूजिनों (Proteins) के पाकोपरान्त विघटन होकर तिक्त अम्लों (Amino acids) की, स्नेहों (Fats) के पाकोपरान्त विघटन होकर स्नेहाम्ल (Fatty acids) व ग्लिसराल्स (Glycerols) की, कार्बोज (Carbohydrates) का पाकोपरान्त विघटन होकर मधुम (Glucose) की उत्पत्ति होती है[1]। यहाँ जठराग्नि से तात्पर्य विभिन्न किण्व

1. "साभार कायचिकित्सा परिचय प्रो.सी. द्वारकानाथ पृष्ठ 47"

(Enzymes) का लिया जाना उचित होगा जो भुक्त आहार के पाचन में सक्रिय योगदान देते हैं। यह अवस्था मधुर अवस्था पाक को प्रदर्शित करती है। इस प्रक्रिया को उपचय (Anabolism) भी कहा जाता है।

(ii) मल पाक (Catabolism)

पूर्व वर्णित प्रसाद पाक (Anabolism) में उत्पन्न हुये उत्पाद (यथा-तिक्ताम्ल, स्नेहाम्ल एवं मधुम आदि) का अन्तिम विघटन होकर शरीरोपयोगी ऊर्जा (Calory) का निर्माण होकर शारीरिक क्रियाओं का संचालित होना ही मल पाक है। यहाँ किण्व (Enzymes) की भूमिका में विभिन्न धातुस्तरीय धात्वग्नि व कोषास्तरीय भूताग्नि को लेना उचित प्रतीत होता है। इसे धातु चयापचय (Tissue metabolism) भी कहा जाता है।

इन सभी प्रकार के पाकों को सम्पन्न कराने के लिए अग्नि की भूमिका में विभिन्न भौतिक-रासायनिक, जैव-भौतिक व जैव-रासायनिक (Physio-chemical, Biophysical and Biochemical) प्रक्रियायें आवश्यक होती हैं। अत: मानव शरीर में अग्नि व्यापार को निम्न दो प्रकार से ग्रहण किया जा सकता है—

(i) कायाग्नि या जठराग्नि व्यापार (Intestinal & Hepatic Metabolism)
(ii) धात्वग्नि व भूताग्नि व्यापार (Tissue & Cellular Metabolism)

चयापचय विकृति जनित विकार (Metabolic Disorders)

आयुर्वेद के सिद्धांत 'रोगा: सर्वेऽपि मन्देग्नौ' के आधार पर मनुष्य में सभी रोग मन्दाग्नि अर्थात् चयापचित जन्य (Metabolic) विकृति के परिणामस्वरुप ही उत्पन्न होते हैं। शरीर की विभिन्न अग्नियों (जठराग्नि, धात्वग्नि एवं भूताग्नि) के क्षय या वृद्ध होने पर शारीरिक चयापचय (धातुप) जन्य प्रक्रियाओं पर प्रभाव पड़ता है। अग्नि के मन्द होने पर (मंदाग्नि) आहार के अंतिम उत्पाद (End products) न बनकर विभिन्न मध्यवर्ती उत्पाद (Intermediate products) जैसे प्रोटीन के अपूर्ण पाक से यूरिक एसिड, स्नेह के अपूर्ण पाक से लेक्टिक एसिड, कार्बोज के अपूर्ण पाक से कीटोन बॉडीज आदि बनकर आमदोष के रुप में शरीर में विभिन्न रोग उत्पन्न करते हैं, जैसे- वातरक्त, मधुमेह, ग्रहणी, आमवात, स्थौल्य, धमनी प्रतिचय आदि। अग्नि के वृद्ध होने पर (तीक्ष्णाग्नि) आहार के अंतिम उत्पाद मात्रा में कम बनकर व क्षय को प्राप्त होकर भस्मक जैसे रोग को उत्पन्न करते हैं।

Metabolism[1]

Metabolism can be defined as the sum of all physical and chemical changes that take place within an organism; all energy and material

1. "साभार Taber's Cyclopedic Medical Dictionary"

transformations that occur within living cells. It includes material changes and energy changes. Metabolism involves two fundamental processes—

i. Anabolism (Assimilation)
ii. Catabolism (Disintegration)

i. Anabolism

Anabolism is defined as the building up of the body's substance; the constructive phase of Metabolism by which a cell takes from the blood the substances required for repair and growth; building it into a cytoplasm; thus converting a non living material into the living cytoplasm of the cell.

ii. Catabolism

The destructive phase of metabolism i.e. the opposite of anabolism is called as catabolism which includes all the processes in which complex susbtances are converted into simpler ones, usually with the release of energy.

Examples

(i) Carbohydrates —Anabolism→ Monosaccharides (Glucose) →Glycogen (Storage)
Catabolism (Oxidation)
Co_2+H_2O+Energy

(ii) Proteins —Anabolism→ Amino acids (Storage)
Catabolism (Oxidation)
Urea+Energy

(iii)Fats —Anabolism→ Fatty acids and Glycerols (Storage)
Catabolism (Oxidation)
Co_2+H_2O+Energy

संक्षेप में सम्पूर्ण चयापचय प्रक्रिया को निम्न चित्र द्वारा समझा जा सकता है—

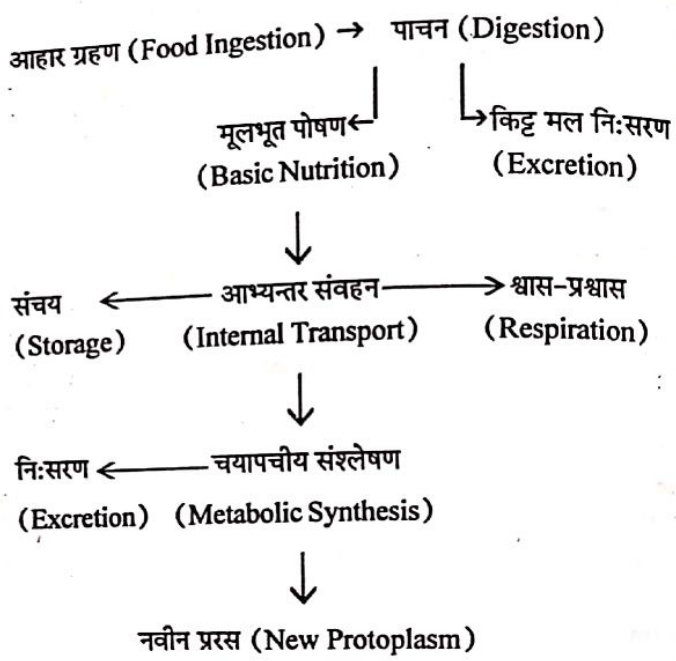

चिकित्सा सिद्धान्त

चयापचय प्रक्रिया जनित विकारों में निम्न चिकित्सा सूत्रों का प्रयोग कर बांछित लाभ प्राप्त किया जा सकता है—

1.	दीपन	2.	पाचन
3.	आमपाचन	4.	स्रोतोशोधन
5.	शोधन चिकित्सा	6.	धात्वग्निवर्धन आदि

धातु परिचय एवं विकृति जन्य विकार

धातु शब्द की निष्पत्ति 'डुधाञ्-धारण-पोषणयो:' नामक धातु से होती है जिसका अर्थ 'धारण करना' व 'पोषण करना' होता है[1]। आयुर्वेद की प्रधान संहितओं में 'धातु' शब्द से विशिष्ट अर्थ में 'सप्तधातु'[2] एवं सामान्य अर्थ में जीवन के आधारभूत दोष एवं मलों का ग्रहण किया गया है। विकृति की अवस्था में इन धातुओं में वृद्धि या क्षय होता है[3]। यह वृद्धि या क्षय द्रव्यत:, गुणत:, कर्मत: सार्वदैहिक या एकदेशीय होता है। शरीर का पोषण आहार से होता है। सन्तुलित मात्रा में लिये गये आहार का सम्यक पाचन होकर

1. "तं एते शरीरधारणाद् धातव इत्युच्यन्ते॥" (सु.सू. 14/20)
2. "रसासृङ्मांसमेदोऽस्थि मज्जशुक्राणि धातवः। सप्त दूष्याः।" (अ.हृ.सू. 1/13)
3. "विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते॥" (च.सू. 9/4)

शरीर की विभिन्न धातुओं में साम्यावस्था स्थापित होती है। असन्तुलित मात्रा में लिया गया आहार शारीरिक धातुओं में विषमता (क्षय या वृद्धि) उत्पन्न करता है। व्याधि प्रकरण में अनुमानत: 99% रोगों में प्राय: दोष वृद्धि व धातुक्षय ही मिलता है। अपवाद स्वरूप अतिस्थौल्य, रक्तपित्त, कुष्ठ, प्रमेह आदि रोगों में धातु वृद्धि एवं अग्निमांद्य की अवस्था में दोषक्षय की स्थिति देखने को मिलती है। अत: सप्तधातु विकृति जन्य मुख्य व्याधियाँ निम्नानुसार हैं—

सप्त धातुगत विकृति जन्य प्रमुख रोग[1]

(i)	रस धातुगत	: ज्वर, पाण्डु, क्लैब्य, पलित आदि
(ii)	रक्त धातुगत	: कुष्ठ, विसर्प, कामला, रक्तपित्त, वातरक्त आदि
(iii)	मांस धातुगत	: अर्बुद, गलगण्ड, गण्डमाला आदि
(iv)	मेद धातुगत	: प्रमेह (मधुमेह), अति स्थौल्य, धमनी प्रतिचय आदि
(v)	अस्थि धातुगत	: अस्थि शूल, सन्धिवात, दन्तशूल आदि
(vi)	मज्जाधातुगत	: भ्रम, मूर्च्छा आदि
(vii)	शुक्र धातुगत	: क्लीबता, अप्रहर्ष (Erectile dysfunction) आदि

सप्त धातु विकृति जन्य रोगों का चिकित्सा सूत्र[2]

(i)	रस धातुगत	: लंघन
(ii)	रक्त धातुगत	: विरेचन, उपवास, रक्तमोक्षण एवं रक्तपित्त चिकित्सा
(iii)	मांस धातुगत	: संशुद्धि (वमन-विरेचन), शस्त्र कर्म, क्षारकर्म, अग्निकर्म
(iv)	मेद धातुगत	: कर्षण, बृंहण
(v)	अस्थि धातुगत	: पंचकर्म, वस्ति, क्षीर-सर्पि, तिक्त रस प्रधान द्रव्य सेवन
(vi)	मज्जा व शुक्रगत	: मधुर-तिक्त अन्न, मैथुन, व्यायाम, उचित काल में संशोधन

1. "अश्रद्धा..... । ..... बाधते नरम्॥" (च.सू. 28/9-19)
2. "रसजानां विकाराणां..... । ..... काले च मात्रया॥" (च.सू. 28/25-28)

अध्याय-62

मधुमेह (प्रमेह)

(DIABETES MELLITUS)

व्याधि परिचय

आदिकाल से मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ बुद्धिबल से विकसित होता हुआ अपने लिये भौतिक सुख सुविधाओं को एकत्रित करने में प्रयत्नशील रहा है। इसी विकास क्रम में वह प्रकृति व परिश्रम से विमुख होता हुआ दिनचर्या-रात्रिचर्या-ऋतुचर्या-स्वास्थ्यचर्या, सद्वृत व आचार रसायन से दूर होते हुए पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में फास्टफूड, जंकफूड, मिर्च मसालेदार, तले हुए पदार्थो का अधिक मात्रा में सेवन करने लगा। सुख-सुविधाओं की चाहत में निरन्तर मानसिक रूप से तनाव ग्रस्त रहने के कारण व गरिष्ट-विदाही-श्लेष्मल-अतिस्निग्ध-मधुर आहार द्रव्य सेवन करने के कारण आधुनिक युग में कैंसर, स्थौल्य, हृदय रोग एवं मधुमेह जैसे रोगों से ग्रसित रोगियों की संख्या में निरन्तर तेजी से वृद्धि होती जा रही है। मधुमेह (प्रमेह) मिथ्या आहार-विहार से उत्पन्न विकृत त्रिदोषों के द्वारा होने वाली विशिष्ट लक्षण समूह वाली जटिल व्याधि है। इस रोग में मुख्य रूप से धातुओं की दुष्टि होती है। आचार्यों ने इसकी गणना 'महागद' में की है।

मधुमेह रोग में, रोगी के शरीर में आहार से प्राप्त शर्करा (मधुर द्रव्य) का मधुनिषूदिनी (Insulin) के अभाव या अक्रियाशील होने से समुचित उपयोग नहीं हो पाता है जिससे रक्त में शर्करा का स्तर क्रमशः बढ़ता जाताा है तथा वृक्कों की सामर्थ्य (Renal Thresold) से अधिक होने पर मूत्र के साथ शर्करा का बाहर उत्सर्ग होना प्रारम्भ हो जाता है। शरीर की समस्त कोशिकाओं को अपनी सामान्य क्रियाओं के संचालन के लिये व नये कोशिकाओं के निर्माण के लिये सदैव ऊर्जा (Adenosine Tri Phosphate-ATP) और पोषक तत्वों की आवश्यकता होती है। कोशिकाओं को यह ऊर्जा मुख्यतः शर्करा से ही प्राप्त होती है। किन्तु मधुमेह रोग की अवस्था में जब शर्करा का समुचित उपयोग नहीं हो पाता है तो कोशिकायें उसके अभाव में संचित भण्डारों (Stored-energy) का उपयोग करने लगती हैं। परिणाम स्वरूप शरीर की समस्त कोशिकाओं में विकार उत्पन्न होकर हृदय, वृक्क, नेत्र, मस्तिष्क, स्नायु, रक्त वाहिनी एवं नाड़ियां दुर्बल

व अकार्यक्षम होने लगती हैं। इन्हीं उपद्रवों के कारण मधुमेह रोग असाध्य हो जाता है।

सम्पूर्ण विश्व की तुलना में भारतवर्ष में मधुमेह रोगियों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। अनुमान लगाया गया है कि सन् 2025 तक भारत विश्व की 'मधुमेह राजधानी' बन जायेगा।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता, सूत्र स्थान-अध्याय 17
2. चरक संहिता, निदान स्थान-अध्याय 4
3. चरक संहिता; चिकित्सा स्थान-अध्याय 6
4. सुश्रुत संहिता, निदान स्थान-अध्याय 6
5. सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 11, 12, 13
6. अष्टांङ्ग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 10
7. अष्टांङ्ग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 12
8. माधव निदान-अध्याय 33

निरुक्ति/व्युत्पत्ति

प्रमेह

प्र+मिहक्षरणे+करणेधञ् ''प्र'' उपसर्गक मिह क्षरणे अर्थात् क्षरणार्थक ''मिह'' धातु से ''घ'' प्रत्यय लगने से प्रमेह शब्द बनता है, जिसका तात्पर्य प्रकर्षेण मेहति क्षरति वीर्यादिरनेन इति प्रमेह होता है।

मधुमेह

(I) मधु+मेह=(वैद्यक शब्द सिन्धु) 'मेहेषु उच्च मधुइव मधुरं मेहति' अतः पर ततोश्च् माधुर्यात् सर्वेऽपि प्रमेह, क्रमथु मेहाख्यां भवन्त।'

अर्थात मेहों में जो उच्च है, मधु के समान मधुर मूत्र त्याग करता है वह मधुमेह है।

(II) मधुमेह-मधु+मिह (वाचस्पत्यम्)

मधुन मन उ नस्यः घः॥

मिह-सेचने भवादि धातु पर से पद अनिट् प्रत्यय् अक् प्रत्यय (मेहति अभिक्षतः) मधुमेह शब्द मधु और मेह इन दो शब्दों से मिलकर बना है। मधु मन् धातु और उ प्रत्यय से तथा न के स्थान पर घ हो जाने से बनता है। जो निम्न अर्थो में प्रयुक्त होता है— मद्य, क्षौद्र, पुष्परस, जल, मधुर रस आदि।

परिभाषा

(अ) प्रमेह

प्रकर्षेण प्रभूतं=प्रचुर बारं-बारं वा मेहति-
मूत्र त्यांग करोति यस्मिन् रोगे स प्रमेहः। (माधवनिदान)
प्रकर्षेण मेहति इति प्रमेह।

अर्थात् अत्यधिक या बार-बार और प्रायः गँदले मूत्र का त्याग की प्रमेह कहलाता है।

(ब) मधुमेह

जिस रोग में रोगी मधु के समान मूत्र त्याग करता है और शरीर में भी माधुर्य रहता है, उसे मधुमेह कहते हैं। अर्थात् जिस रोग में शहद के समान गुण व वर्ण का मूत्र अथवा मधुर रस युक्त मूत्र का क्षरण होता है उसे मधुमेह कहते हैं[1]।

आचार्य शार्ङ्गधर के अनुसार मधु या क्षौद्र के तुल्य वर्ण का मूत्र त्याग ही मधुमेह है[2]।

सभी प्रकार के प्रमेह क्रियाकाल (चिकित्सा का अवसर) में चिकित्सा न करने पर मधुमेह में परिवर्तित होकर असाध्यता की की श्रेणी में आ जाते हैं[3]।

पर्याय

(अ) प्रमेह

i. मेह
ii. मूत्र दोष
iii. बहुमूत्रता
iv. प्रमीढ़ा

(ब) मधुमेह

i. क्षौद्रमेह
ii. ओजोमेह
iii. मधुमेह

1. "मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मांध्यव मेहति।
सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः॥"
(अ.हृ.नि. 10/21)
2. "मधुक्षौद्रं तस्य तुल्यं तद्वर्णं वा मधुमेहः॥" (शा.स. 7/62)
3. "सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकुर्वतः।
मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि॥"
(सु.नि. 6/27)

निदान (हेतु)

मधुमेह (प्रमेह) के निदानों को सुविधा की दृष्टि में निम्नानुसार विभाजित कर सकते हैं[1]—

संतर्पक हेतु		अपतर्पक हेतु	
आहारज	विहारज	आहारज	विहारज
• अतिदधि सेवन	आस्यासुख	कटु-तिक्त	काम-क्रोध-शोक-
• गाम्यौदक आनूप-मांस सेवन	स्वप्न सुख	कषाय रस अति सेवन	भय-चिन्ता
• इक्षुविकार अति-सेवन	स्नान त्याग	कर्षण प्रयोग	वमन-विरेचन-आस्थापन अतिसेवन
• मेदकफ वर्धक-आहार	व्यायाम त्याग	अनशन	आतप अतिसेवन
• नवीन अन्नधान्य सेवन	दिवास्वप्न	विषमाशन	
• नवपानीयपान	आलस्य		
• मद्यपान			

आचार्य चरक ने सूत्र स्थान अध्याय 17 में वर्णित किया है कि गुरु व स्निग्ध द्रव्य एवं अम्ल व लवण रस का अतिमात्रा में सेवन, नवीन अन्नपान का सेवन, अतिनिद्रा सेवन, अधिक देर तक आराम तलबी करना, बिस्तर पर बैठे रहता, व्यायाम न करना, चिन्ता न करना, यथा समय संशोधन (वमन-विरेचन) न करना आदि इन सभी कारणों से मधुमेह की उत्पत्ति हो सकती है[2]। अतः मधुमेह के निदानों को निम्न दो विभागों में बांट सकते हैं—

i. संतर्पक कारण
ii. अपतर्पक कारण

संतर्पक जन्य हेतुओं के सेवन से उत्पन्न मधुमेह रोगी स्थूल-Non-Insulin Dependent Diabetes mellitus (NIDDM) व अपतर्पण जन्य हेतु सेवन से उत्पन्न

1. i) "आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसाः पयांसि।
नवान्नपानं गुडवैकृतं च प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम्॥" (च.चि. 6/4)
ii) "दिवास्वप्नाव्यायामालस्य प्रसक्तंशीतस्निग्धमधुरमेद्यद्रवान्न पान सेविनं पुरुषं जानीयात् प्रमेही भविष्यतीति॥" (सु.नि. 6/3)
2. "गुरुस्निग्धाम्ललवणान्यतिमात्रं समश्नताम्। नवमन्नं च पानं च निद्रामास्या सुखानि च॥
त्यक्त व्यायाम चिन्तानां संशोधनमकुर्वताम्।" (च.सू. 17/78-79)

मधुमेह रोगी कृश-Insulin Dependent Diabetes mellitus (IDDM) होता है। मधुमेह (प्रमेह) रोग के निदानों को निम्न तीन वर्गों में बांट सकते हैं[1]—

i. सहज प्रमेह-बीज दोषात् (Hereditary Diabetes)
ii. कुलज प्रमेह-कुलज प्रवृत्ति (Familial Diabetes)
iii. अपथ्य निमित्तज (Acquired Diabetes)
   (क) आहारज (High Caloric Diet)
   (ख) विहारज (Sedentary Life Style)

सम्प्राप्ति

प्रमेह/मधुमेह रोग की सम्प्राप्ति को सामान्य व विशिष्ट सम्प्राप्ति भेद से दो वर्गों में बांटा गया है—

सामाान्य सम्प्राप्ति

i. **सहज प्रमेह**—प्रमेह के उत्पादक दोषों से, जीव के उत्पादक बीज (Chromosomes) के दुष्ट हो जाने से मधुमेही माता-पिता की सन्तान में असाध्य स्वरूप के मधुमेह (Congenital/Hereditary) रोग की उत्पत्ति होती है। प्रमेह रोग कुलज रोगों में सबसे प्रबल होता है[2]। मुधमेही व्यक्ति की सन्तान जन्म से ही मधुमेह ग्रस्त हो यह आवश्यक नहीं होता।

ii. **कफज प्रमेह**[3]—कफ व मेदवर्धक आहार-विहार के सेवन से वस्ति प्रदेश में स्थित कफ शरीर के मेद, मांस तथा क्लेद को दूषित करके दश प्रकार की कफज प्रमेहों को उत्पन्न करता है।

iii. **पित्तज प्रमेह**[4]—उष्ण-अम्ल-लवण-क्षार-कटु आहार सेवन से प्रकुपित बस्ति प्रदेश में स्थित पित्त मेद, मांस व क्लेद को दूषित करके छह प्रकार के पित्तज प्रमेहों को उत्पन्न करता है।

iv. **वातज प्रमेह**[5]—कफ व पित्त के क्षीण होने पर वृद्ध वायु धातुओं (वसा, मज्जा, ओज, लसिका) का कर्षण करके वस्ति में लाकर चार प्रकार के वातिक प्रमेहों को उत्पन्न करता है।

1. "जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात्।
चापि केचित्कुलजा विकारा भवन्ति ये तांस्तान् प्रवदन्त्यसाध्यान्॥" (च.चि. 6/57)
2. "प्रमेहोऽनुषङ्गिणाम्॥" (च.सू. 25/40)
3-5. "मेदश्च मांसं च शरीरजं च क्लेदं कफो बस्तिगतः प्रदूष्य।
करोति मेहान् समुदीर्णमुष्ठौस्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि॥
क्षीणेषु दोषेष्ववकृष्य धातून् सन्दूष्य मेहान् कुरुतेऽनिश्च।" (च.चि. 6/5-6)

विशिष्ट सम्प्राप्ति

पूर्व वर्णित निदानों के सेवन से शरीर में श्लेष्मा, पित्त एवं मांस की वृद्धि अधिक रूप में हो जाती है। इनके वृद्ध होने से रुकी हुयी वायु कुपित होकर ओज के साथ मूत्राशय में प्रविष्ट होती है तब कष्टकारी मधुमेह रोग की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह मधुमेह वात, पित्त एवं कफ दोष के लक्षणों को बार-बार शरीर में प्रगट करता है एवं बार-बार क्षय एवं वृद्धि को प्राप्त होता है[1]। ओज मधुर स्वभाव वाला होता है उसको जब प्रकुपित वायु रूक्षता के कारण कषाय रस से मिलकर मूत्राशय में ले जाती है तब मधुमेह नामक रोग को उत्पन्न करती है[2]।

दोष-दूष्य

मधुमेह रोग में अत्यन्त द्रव कफ दोष विशेष दूष्य है[3]। 1. अबद्धमेद, 2. मांस, 3. क्लेद (जल), 4. शुक्र, 5. शोणित, 6. वसा, 7. मज्जा, 8. लसिका, 9. रस और 10. ओज, ये मधुमेह रोग के दश दूष्य विशेष हैं। ये सभी दूष्य कफ के समान धर्मी हैं[4]। इन दोष-दूष्यों की विशेषता से बीस प्रकार के प्रमेह रोग उत्पन्न होते हैं।

मधुमेह सम्प्राप्ति चक्र

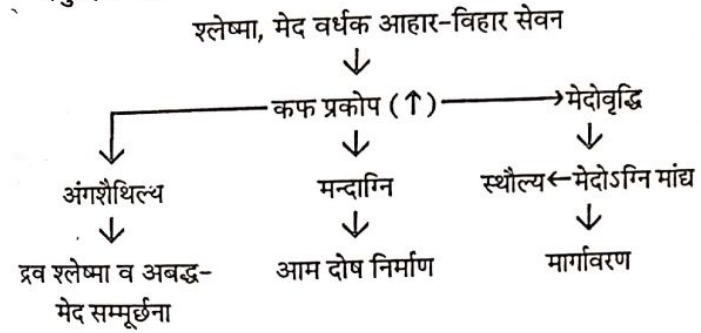

1. "श्लेष्मा पित्तं च मेदश्च मांसं चातिप्रवर्धते॥ तैरावृतगतिर्वायुरोज आदाय गच्छति।
यदा बस्तिं तदा कृच्छ्रो मधुमेहः प्रवर्तते॥ स मारुतस्य पित्तस्य कफस्य च मुहुर्मुहुः।
दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाप्याप्यते पुनः॥" (च.सू. 17/79-81)
2. "ओजः पुनर्मधुरस्वभावं तद् यदा रौक्ष्याद्वायुः कषायत्वेनाभिसंसृज्य मूत्राशयेऽभिवहति तदामधुमेहं करोति॥" (च.नि. 4/37)
3. "बहुद्रवः श्लेष्मादोष विशेषः॥" (च.नि. 4/6)
4. i) "बहवबद्धं मेदो मांस शरीरजक्लेदः शुक्रं शोणितं वसा।
मज्जा लसीका रसश्चौजः सेव्यात इति दूष्य विशेषः॥" (च.नि. 4/7)
ii) "कफः सपित्तः पवनश्च दोषामेदोऽस्रशुक्राम्बुवसा लसीकाः।
मज्जा रसौजः पिशितं च दूष्याः प्रमेहिणां, विंशतिरेव मेहाः॥" (च.चि. 6/8)

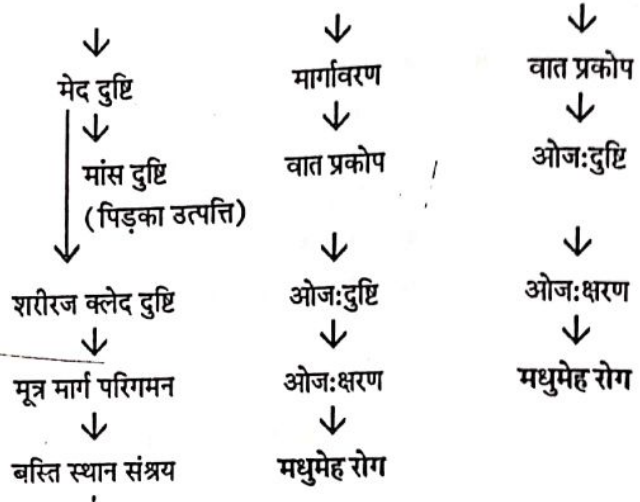

सम्प्राप्ति घटक

दोष	:	द्रव श्लेष्मा प्रधान त्रिदोष, अपान-व्यान वायु
दूष्य	:	अबद्ध मेद, मांस, क्लेद, शुक्र, शोणित, वसा, मज्जा लसिका, रस, ओज
स्रोतस्	:	मूत्रवह स्रोतस्, मेदोवह स्रोतस्
स्रोतोदुष्टि प्रकार	:	संग, अतिप्रवृत्ति
संचार	:	रसायनी द्वारा
अधिष्ठान	:	बस्ति, सर्वशरीर
उद्भव	:	अन्तः कोष्ठ (आम पक्वाशयोत्थ)
अग्नि	:	धात्वग्निमांद्य
आम	:	आम अन्नरस
व्याधिस्वभाव	:	चिरकारी
साध्यासाध्यता	:	याप्य/असाध्य

भेद

विभिन्न संहिताओं में वर्णित प्रमेह के भेद निम्न प्रकार हैं—

10 कफज प्रमेह भेद

क्र.म.	भेद नाम	चरक सं.	सुश्रुत सं.	अष्टांङ्ग हृदय	माधव निदान
1.	उदकमेह	+	+	+	+
2.	इक्षुबालिका रसमेह	+	–	–	–
3.	इक्षुबालिकामेह	–	+	–	–
4.	इक्षुमेह	–	–	+	+
5.	सान्द्रमेह	+	+	+	+
6.	सान्द्रप्रसादमेह	+	–	–	–
7.	सुरामेह	–	+	+	+
8.	शुक्लमेह	+	–	–	–
9.	पिष्टमेह	–	+	+	+
10.	शुक्रमेह	+	+	+	+
11.	शीतमेह	+	–	+	+
12.	सिकतामेह	+	+	+	+
13.	शनैर्मेह	+	+	+	+
14.	आलालमेह	+	–	–	–
15.	लालामेह	–	–	+	+
16.	लवणमेह	–	+	–	–
17.	फेनमेह	–	+	–	–

नोट—उपर्युक्त तालिका में '+' चिन्ह उपस्थिति व '–' चिन्ह अनुपस्थिति को दर्शाता है।

6 पित्तज प्रमेह भेद

क्र.म.	भेद नाम	चरक सं.	सुश्रुत सं.	अष्टांङ्ग हृदय	माधव निदान
1.	क्षारमेह	+	+	+	+
2.	कालमेह	+	–	+	+
3.	नीलमेह	+	+	+	+
4.	लोहितमेह	+	–	–	–

5.	शोणितमेह	–	+	–	–
6.	रक्तमेह	+	–	+	+
7.	माञ्जिष्ठमेह	+	+	+	+
8.	हारिद्रमेह	+	+	+	+
9.	अम्लमेह	–	+	–	–

4 वातज प्रमेह भेद

क्र.म.	भेद नाम	चरक सं.	सुश्रुत सं.	अष्टांङ्ग हृदय	माधव निदान
1.	वसामेह	+	+	+	+
2.	मज्जामेह	+	–	+	+
3.	सर्पिमेह	–	+	–	–
4.	हस्तिमेह	+	+	+	+
5.	मधुमेह	+	–	+	+
6.	क्षौद्रमेह	–	+	–	–

विभिन्न कफज मेहों के लक्षण निम्न प्रकार हैं—

1. **उदक मेह (Diabetes Insipidus)**—उदक मेह में स्वच्छ, मात्राधिक्य, सफेद, शीतल, गंधरहित, जल के समान एवं कुछ गंदला-पिच्छिल मूत्र त्याग होता है।
2. **इक्षुबालिकारस मेह (Alimentary Glycosuria)**—कफ प्रकोप के कारण रोगी मधुर, शीत, चिपचिपा, गन्दा एवं गन्ने के रस की तरह मूत्र त्याग करता है। इसे ही इक्षुबालिका मेह या इक्षुमेह कहा गया है।
3. **सान्द्र मेह (Phosphaturia)**—कफ प्रकोप के कारण पात्र में रखा हुआ बासी मूत्र गाढ़ा हो जाता है।
4. **सान्द्रप्रसाद मेह (Phosphaturia)**—जिस प्रमेह में मूत्र के नीचे का भाग गाढ़ा हो एवं ऊपर का भाग स्वच्छ हो।
5. **शुक्ल मेह (Chyluria)**—चावल के आटे के वर्ण का बार-बार मूत्र त्याग होना।
6. **शुक्र मेह (Spermaturia)**—शुक्र की तरह या शुक्र मिला हुआ बार-बार मूत्र त्याग होना।
7. **शीत मेह (Polyurea with Glycosuria)**—अति मधुर व शीतल मूत्र का बार-बार त्याग।

8. **सिकता मेह (Crystalluria or Gravelluria)**—मूत्र में बालु के छोटे-छोटे कण (Gravel or Crystal) आना।
9. **शनैर्मेह (Frequency)**—मन्द-मन्द, वेगरहित, कठिनता से मूत्र त्याग होना।
10. **लालामह (Albuminuria)**—लार के समान तन्तु की तरह बँधे हुये तार से युक्त चिपचिपा मूत्र त्याग होना।

विभिन्न पित्तज मेहों के लक्षण निम्नानुसार हैं—

1. **क्षार मेह (Alkaline Urine)**—इसमें क्षार के जल के समान मूत्र त्याग होता है।
2. **काल मेह (Blackish/Haematuria)**—काले रंग का मूत्र त्याग होता है।
3. **नील मेह (Bluish/Indicouria)**—नीले रंग का मूत्र त्याग होता है।
4. **लोहित/रक्तमेह/शोणित मेह (Frank Haematuria)**—रक्त मिला हुआ या रक्त के समान मूत्र त्याग होता है।
5. **हारिद्र मेह (Biliuria)**—हल्दी के समान पीला मूत्र त्याग होता है।
6. **माञ्जिष्ठ मेह (Haemoglobinuria/Haematuria)**—इसमें रोगी मंजीठ के वर्ण (रक्त वर्ण) के समान मूत्र त्याग करता है।

विभिन्न वातज मेहों के लक्षण निम्नानुसार हैं—

1. **वसा मेह (Chyluria/Lipiduria)**—वसा कण मिला हुआ या वसा की तरह बार-बार मूत्र त्याग।
2. **मज्ज मेह (Pyuria/Chyluria)**—मूत्र के साथ मज्जा का बार-बार त्याग।
3. **हस्ति मेह (Polyuria with Incontinence)**—मतवाले हाथी की तरह अधिक मूत्र का बार-बार त्याग।
4. **मधुमेह/क्षौद्र मेह (Diabetic Glycosuria)**—कषाय, मधुर, पाण्डु वर्णी व रुक्ष मूत्र का बार-बार त्याग होना। इसे ओजोमेह भी कहा गया है।

उपर्युक्त सभी प्रकार के प्रमेह यथा समय उचित चिकित्सा न करने पर अन्त में मधुमेह में परिवर्तित हो सकते हैं।

प्रमेह रोग के अन्य भेद

विभिन्न आचार्यों ने निम्न नामकरण से प्रमेह रोग के अनेक भेद किए हैं जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—

आचार्य सुश्रुत[1] : I. सहज प्रमेह (Hereditary Diabetes) II. अपथ्य निमित्तज प्रमेह (Acquired Diabetes)

1. "दौ प्रमेहौ भवतः-सहजोऽपथ्यनिमित्तश्च॥" (सु.चि. 11/3)

आचार्य चरक : I. स्थूल प्रमेही (Obese Diabetic) II. कृश प्रमेही (Lean Diabetic)

आचार्य वाग्भट् : I. धातुक्षय जन्य प्रमेह II. दोषावृत जन्य प्रमेह

आचार्य भेल : I. प्रकृतिज प्रमेह II. स्वकृत प्रमेह

अन्य : कुलज प्रमेह (Familial Diabetes)

पूर्वरूप

मधुमेह की पूर्वरूपावस्था (Pre-Clinical-Stage) में निम्न पूर्व लक्षण (Prodromal Sign/Symptoms) पाये जा सकते हैं[1]—

i. केशों का जटिल होना
ii. मुख माधुर्य (मुख में मधुरता)
iii. हस्त व पाद में दाह-सुप्तता
iv. मुख-तालु-कण्ठ शोष
v. पिपासाधिक्य (प्यास ज्यादा लगना)
vi. आलस्य
vii. नेत्र-कर्ण-दन्त मल अधिकता (आँख, कान व दाँत में मल अधिकता)
viii. केशनखाति वृद्धि (बाल व नाखून का तेजी से बढ़ना)
ix. सर्वाङ्गशून्यता (समस्त शरीर में सुन्नता)
x. [illegible] (शरीर से गन्ध आना)
xi. [illegible] व मूत्र पर छोटे पर वाली चीटियों का लगना)
xii. मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च (मूत्र पर चीटों का लगना)

1. i) "त्रयस्तु खलु दोषाः..... ।..... सर्वकालमिति ॥" (च.नि. 4/47)
ii) "स्वेदोऽङ्गगन्धः शिथिलाङ्गता च शय्यासनस्वप्नसुखे रतिश्च ।
हन्नेत्रजिह्वाश्रवणोपदेहो घनाङ्गता केशनखाति वृद्धिः ॥
शीतप्रियत्वं गलतालुशोषो माधुर्यतास्ये करपाददाहः ।
भविष्यतो मेहगदस्य रूपं मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च ॥" (च.चि. 6/13-14)
iii) "तेषां तु पूर्वरूपाणि-हस्तपादतलदाहः स्निग्धपिच्छिलगुरुता गात्राणां मधुरशुक्लमूत्रता तद्वत्सादः पिपासा दुर्गन्धश्च श्वासस्तालुगलजिह्वादन्तेषु मलोत्पत्तिर्जटिलीभावः केशानां वृद्धिश्च नखानाम् ॥" (सु.नि. 6/5)
iv) "दन्तादीनां मलाढ्यत्वं प्रागूपं पाणिपादयोः । दाहचिक्कणता देहे तृट्स्वाद्वास्यं च जायते ॥" (माधव निदान 33/5)

xiii. शीत प्रियत्व (शीत व ठण्डे पदार्थ का अच्छा लगना)
xiv. शिथिलाङ्गता (अंगों में ढीलापन)
xv. शय्यासनस्वप्नसुखरतिश्च (बैठने वे सोने में अच्छा लगना)
xvi. घनाङ्गता (अंगों का घना होना)
xvii. देह चिक्कणता (शरीर में चिकनापन होना)

रूप

विभिन्न संहिताओं में मधुमेह (प्रमेह) रोग के निम्न लक्षणों का वर्णन प्राप्त होता है। अतः मधुमेह रोग में पूर्वोक्त वर्णित पूर्वरूपों के साथ-साथ निम्न रूप (लक्षण) भी उत्पन्न हो सकते हैं[1]—

i. प्रभूत मूत्रता (Polyuria)
ii. आविल मूत्रता (Turbid Urine)
iii. शरीर गौरवता (Heaviness in Body)
iv. विबन्ध (Constipation)
v. शरीर जाड्यता (Stiffness in Body)
vi. अकस्मात् मूत्र निर्गम (Bed Wetting in Children)
vii. कषाय-मधुर-रूक्ष मूत्र
viii. पाण्डुवर्ण मूत्र (Yellowish White Urine)
ix. श्वेत घन मूत्र (White Urine)
x. मुख माधुर्य व शरीर माधुर्य (Sweetness in Mouth & Body)

इसके अतिरिक्त निम्न लक्षण भी मधुमेह रोगी में मिल सकते हैं—

i. मूत्रबारम्बारता
ii. तृष्णाधिक्य
iii. क्षुधाधिक्य
iv. दौर्बल्य

1. i) "सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताविलमूत्रताः ॥" (अ.हृ.नि. 10/7)
ii) "कषायमधुर पाण्डु रूक्षं मेहति यो नरः । वातकोपादसाध्यं तं प्रतीयान्मधुमेहिनम् ॥" (च.नि. 4/44)
iii) "क्षौद्ररसवर्ण क्षौद्रमेही ॥" (सु.नि. 6/12)
iv) "गौरवं बद्धता जाड्यमकस्मान्मूत्रनिर्गमः । प्रमेहे मक्षिकाक्रान्तं मूत्रं श्वेतं घनं तथा ॥" (का.स.सू. 25/16)

v. आलस्य
vi. थकावट
vii. चिरकालीन व्रण रोपण
viii. बार-बार संक्रमण
ix. स्वेदाधिक्य
x. भारक्षय
xi. कण्डु (गुप्ताङ्गों में)
xii. भ्रम आदि

आचार्य सुश्रुत ने सहज तथा अपथ्य निमित्तज प्रमेह के निम्न लक्षण वर्णित किए हैं[1]-

I **सहज प्रमेह (Hereditary Diabetes)** - माता-पिता के बीज दोष से उत्पन्न प्रमेह में निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं-
   i. कृशता (Lean & thin built)
   ii. रुक्षता (Dryness in body)
   iii. अल्पाशी-थोड़ा खाने वाला (Less appetite)
   iv. पिपासायुक्त (Polydypisa)
   v. परिसरणशील-घूमने-फिरने वाला (wants to roam around)

II **अपथ्य निमित्तज प्रमेह (Acquired Diabetes)** - अहित आहारजन्य प्रमेह में निम्न लक्षण प्राप्त हो सकते हैं-
   i. स्थूलता (Obesity)
   ii. बह्वाशी-बहुत से खाने वाला (Increased Appetite)
   iii. स्निग्ध शरीर (Unctous Body)
   iv. शय्यासन (Sendentary Habits)
   v. स्वप्नशील (Excess Sleep)

आचार्य सुश्रुत ने वर्णित किया है कि मधुमेही रोगी पैदल चलने की अपेक्षा खड़ा रहना, खड़े रहने की अपेक्षा बैठ जाना, बैठने की अपेक्षा लेटना एवं लेट जाने की अपेक्षा निद्रा लेना पसन्द करता है[2]।

1. "द्वौ प्रमेहौ भवतः-सहजोऽपथ्यनिमित्तश्च। तत्र सहजो मातृपितृबीजदोषकृतः, अहिताहारजोऽपथ्यनिमित्तः। तयोः पूर्वेणोपद्रुतः कृशो रुक्षोऽल्पाशीपिपासुर्भृशं परिसरणशीलश्च भवति, उत्तरेण-स्थूलो बह्वाशी स्निग्धः शय्यासनस्वप्नशीलः प्रायेणेति॥" (सु.चि. 11/3)
2. "स चापि गमनात् स्थानं स्थानादासन मिच्छति। आसाद् वृणेतु शय्यां शयनात् स्वप्नमिच्छति॥" (सु.नि. 6/25)

सापेक्ष निदान

मधुमेह रोग में मूत्र माधुर्य एवं शरीर माधुर्य भी रहता है। इसका विभेदक निदान इक्षुबालिका रसमेह तथा शीतमेह से करना चाहिए जिनमें केवल मूत्र माधुर्य रहता है। अतः इन तीनों के विभेदक लक्षण निम्न प्रकार हैं—

	मधुमेह	इक्षुबालिका रसमेह	शीतमेह
1.	वातज प्रमेह भेद	कफज प्रमेह भेद	कफज प्रमेह भेद
2.	रोगी कृश या स्थूल	रोगी स्थूल	रोगी प्रायः स्थूल
3.	ओजःक्षय के लक्षण मिलते हैं	ओजक्षय नहीं	ओजक्षय नहीं
4.	याप्य या असाध्य	साध्य	साध्य
5.	मूत्र आविल	मूत्र आविल	मूत्र आविलता नहीं
6.	शरीर माधुर्य	नहीं	नहीं
7.	मूत्र किंचित् उष्ण	मूत्र किंचित् उष्ण	मूत्र शीत
8.	चिरकारी	आशुकारी	आशुकारी

प्रयोगशालीय एवं रोग-रोगी परीक्षा

आयुर्वेद साहित्य में मूत्र परीक्षा पर विशिष्ट वर्णन शार्ङ्गधर संहिता, वृन्दमाधवीयम एवं योगरत्नाकर ग्रंथों में मिलता है। मूत्र की भौतिक परीक्षा निम्न दश बिन्दुओं के आधार पर की जाती है-

(i) धार परीक्षा
(ii) वेग परीक्षा
(iii) फेन परीक्षा
(iv) मात्रा परीक्षा
(v) वर्ण परीक्षा
(vi) गन्ध परीक्षा
(vii) रस परीक्षा
(viii) स्पर्श परीक्षा
(ix) वैशद्य व गुरुत्व परीक्षा
(x) तैलबिन्दू परीक्षा

रक्त शर्करा वृद्धि

(i) माधुर्याच्चतनोरतः। (अ.ह.नि. 10/21)

जब शरीर मधुर भक्ष्य-भोज्यों की प्रधानता के कारण मधुर हो जाता है तो यह रक्त गत शर्करा वृद्धि का द्योतक है।

(ii) षट्पद पिपीलिकाभिश्च शरीराभिसरणम्। (च.नि. 4/47)

शरीर पर मक्खियों व चीटियों का बैठना रक्तशर्करा वृद्धि को प्रदर्शित करता है।

मूत्र शर्करा उपस्थिति

(i) क्षौद्ररसवर्ण क्षौद्रमेही। (सु.नि. 6/12)

मधु के समान रस एवं वर्ण युक्त मूत्र त्याग मूत्रगत शर्करा का द्योतक है।

(ii) मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च॥ (च.चि. 6/14)

मूत्र पर चीटियों का लगना मूत्रगत शर्करा का द्योतक है।

अन्य मूत्र परीक्षा

(i) भौतिक परीक्षा

(i) रासायनिक परीक्षा-शर्करा, एल्बुमिन, कीटोन

रक्त विशिष्ट परीक्षा

(i) निरन्न शर्करा (Fasting blood sugar)

(ii) सान्न शर्करा (Post prandial blood sugar)

(iii) आकस्मिक शर्करा (Random blood sugar)

Criteria for Diagnosis of Diabetes mellitus

Blood Sugar	Normal Range	Diabetes
i. Fasting Glucose	<110 mg/dl	126 mg/dl
ii. Post Prandial Glucose	<140 mg/dl	200mg/dl
iii. Random Glucose		200 mg/dl with symptoms

प्रमेह मुक्ति लक्षण[1]

प्रमेही का मूत्र जब पिच्छिलता रहित, गंदलेपन से रहित, विशद (रूक्ष), तिक्त एवं कटु रस प्रधान हो तब मधुमेही को मधुमेह रोग से मुक्त समझना चाहिए।

1. "प्रमेहिणो यदा मूत्रमपिच्छिलमनाविलम्। विशदं तिक्तकटुकं तदाऽऽरोग्यं प्रचक्षते॥" (सु.चि. 12/20)

साध्या साध्यता

कफज प्रमेह की साध्यता[1]

समान गुणवाले मेद के आश्रय होने से, कफ की प्रधानता से तथा दोष-दूष्यों की समान चिकित्सा वाला होने से दश कफज प्रमेह साध्य होते हैं। दोष एवं दूष्यों की चिकित्सा के लिए कटु, तिक्त व कषाय रस वाले द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। इसमें समान गुण धर्मी दोष एवं दूष्य दोनों समान होते हैं। यद्यपि समानगुण धर्मी दोष एवं दूष्य के होने पर रोग कृच्छ्रसाध्य होता है लेकिन रोग के प्रभाव से प्रमेह सुख साध्य होता है[2] (**समक्रियत्वात्**)।

पित्तज प्रमेह की याप्यता[3]

पित्तज प्रमेह में कफ व पित्त संसृष्ट दोषों का आश्रय मेद धातु होता है और यह विरुद्धोपक्रम होने से याप्य होते हैं। दोष व दूष्य में से एक की चिकित्सा दूसरे के विरुद्ध पड़ती है। यदि पित्त के विरुद्ध मधुर व शीत द्रव्यों से चिकित्सा की जाय तो प्रमेह के मुख्य उपादान कफ दोष के वृद्ध होने से रोग वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत यदि कफनाशक द्रव्यों से चिकित्सा की जाय तो प्रमेह के उत्पादक हेतु पित्त की वृद्धि होने से प्रमेह यथा रुप रहता है। इस प्रकार पित्तज प्रमेह विषम क्रिया होने से याप्य होते हैं (**विषमक्रियत्वात्**)।

वातज प्रमेह की असाध्यता

दोष व दूष्य की विरुद्ध चिकित्सा होने से वातज प्रमेह असाध्य होते हैं। वातज प्रमेह में धातु ह्रास जितनी तीव्रता से होता है उसकी क्षतिपूर्ति के लिए उतनी शीघ्र प्रभावकारी द्रव्यों का अभाव है। वातनाशक जो स्निग्ध द्रव्य हैं वे मेदवर्धक होते हैं एवं जो मेदनाशक रूक्ष द्रव्य हैं वे वातवर्धक होते हैं। अतः चिकित्सा में वातज प्रमेह विषमक्रिय होने से असाध्य है[4] (**महात्ययत्वात्**)।

पित्त या कफ वृद्ध होने पर वृद्धतर वायु से जो वातज प्रमेह उत्पन्न होता है उसकी चिकित्सा शास्त्रों में निर्दिष्ट है किन्तु धातुओं के अत्यन्त क्षीण हो जाने पर वृद्ध वायु से जो वातज प्रमेह उत्पन्न होता है वे प्रमेह असाध्य हैं[5]।

1. "ते दश प्रमेहाः साध्याः समानगुण भेदः स्थानकत्वात् कफस्य प्राधान्यात् समक्रियत्वात् च॥" (च.नि. 4/11)
2. "ज्वरेतुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता। रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्॥" (अ.स.सू. 7/246)
3. "सर्व एव ते याप्याः, संसृष्टदोषमेदःस्थानत्वा-द्विरुद्धोपक्रमत्वाच्चेति॥" (च.नि. 4/27)
4. "इमाश्चतुरः प्रमेहान् वातजानसाध्यानाचक्षतेभिषजः। महात्ययिक त्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वाच्चेति॥" (च.नि. 4/38)
5. "या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्बणानां विहितावायुर्हि मेहेष्वतिकर्शितानां कुप्यत्यसाध्यान् क्रिया सा प्रतिनास्ति चिन्ता॥" (च.चि. 6/52)

प्रमेह पिड़िकाओं से पीड़ित एवं उपद्रवों से युक्त मधुमेही भी असाध्य होता है। जात: प्रमेही या कुलज प्रमेही भी असाध्य होता है[1]।

आचार्य चरक ने निर्दिष्ट किया है कि गुल्म, मधुमेह व राजयक्ष्मा रोग से पीड़ित रोगी बल व मांस के क्षीण होने पर अचिकित्स्य (असाध्य) होते हैं[2]।

आचार्य वाग्भट के मतानुसार तृष्णा, दाह, पिड़िका, मांसकोथ (Gangrene) व अतिसार से पीड़ित प्रमेही अरिष्ट के कारण मृत्यु को प्राप्त हो सकता है[3]।

उपद्रव

प्रमेह (मधुमेह) रोग की समुचित चिकित्सा न करने पर एवं रोगी द्वारा अपथ्य सेवन करने की स्थिति में निम्न उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं[4]—

(i) तृष्णा
(ii) अतिसार
(iii) दाह
(iv) दौर्बल्य
(v) अरोचक
(vi) अविपाक
(vii) पूतिमांस
(viii) पिड़िका
(ix) अलजी
(x) विद्रधि
(xi) अनिद्रा
(xii) आलस्य
(xiii) उदावर्त
(xiv) कण्डू
(xv) छर्दि

1. "पिड़िकापीड़ितं गाढमुप सृष्टमुपद्रवैः। मधुमेहिनमाचष्टे स चासाध्यः प्रकीर्तित॥" (सु.नि. 6/24)
2. "गुल्मी च मधुमेही च राजयक्ष्मी च यो नरः। अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांसक्षये सति॥" (च.इ. 9/8-9)
3. "मेहस्तृड्दाहपिटिकामांसकोथातिसारिणम्॥" (अ.हृ.शा. 5/85)
4. i) "उपद्रवास्तु खलु प्रमेहिणां तृष्णातीसारदाहदौर्बल्यारोचकाविपाकाः पूतिमांसपिडकालजीविद्रध्यादयश्च तत्प्रसङ्गाद्भवन्ति॥" (च.नि. 4/48)
ii) "मक्षिकोपसर्पणमालस्यं.....।.....सोपद्रवा व्याख्याताः॥" (सु.नि. 6/13)

(xvi) प्रतिश्याय
(xvii) मक्षिकोपसर्ग
(xviii) बद्ध पुरीष।

प्रमेह पीड़िका

सभी आचार्यों ने मधुमेह रोग चिकित्सा में उपेक्षा करने से शरीर में पिड़का की उत्पत्ति होना स्वीकार किया है। ये पिड़िकायें मांसल प्रदेशों, मर्मस्थानों तथा सन्धियों में विशेष रुप से उत्पन्न होती हैं तथा ये कष्टदायक होती हैं[1]। विभिन्न आचार्यों के अनुसार प्रमेह पिड़िका निम्न हैं—

क्र.सं.	पिड़िका नाम	चरक सं.	सुश्रुत सं.	अ.हृ.	माधव निदान	वङ्गसेन	भेल सं.
1.	शराविका	+	+	+	+	+	+
2.	कच्छपिका	+	+	+	+	+	—
3.	जालिनी	+	+	+	+	+	+
4.	सर्षपी	+	+	+	+	+	+
5.	अलजी	+	+	+	+	+	+
6.	विनता	+	+	+	+	+	—
7.	विद्रधि	+	+	+	+	+	+
8.	मसूरिका	—	+	+	+	+	—
9.	पुत्रिणी	—	+	+	+	+	+
10.	विदारिका	—	+	+	+	+	+
11.	कूर्मिका	—	—	—	—	—	+
12.	कुलत्थिका	—	—	—	—	—	+

नोट—उपर्युक्त तालिका में '+' चिन्ह उपस्थिति एवं '—' चिन्ह अनुपस्थिति को दर्शाता है।

विभिन्न पीड़िकाओं के लक्षण निम्न प्रकार हैं—

1. **शराविका लक्षण**—जिस पिड़का का आकार शराब (Bowl) के आकार का हो।

1. i) "उपेक्षयाऽस्य जायन्ते पिडकाः सप्त दारुणाः। मांसलेष्वकाशेषु मर्मस्वपि च संधिषु॥
शराविका कच्छपिका जालिनी सर्षपी तथा। अलजी विनताख्या च विद्रधी चेति सप्तमी॥" (च.सू. 17/82-83)
ii) "शरावमात्रा तद्रूपा.....।.....विद्रधिका बुधैः॥" (सु.नि. 6/15-19)

2. **कच्छपिका लक्षण**—जो पिड़िका कछुवे की पीठ के आकार की हो।
3. **जालिनी लक्षण**—जिस पिड़का के चारों तरफ सिराओं का जाल हो एवं जिसमें छोटे-छोटे अनेक छिद्र दिखाई पड़े।
4. **सर्षपी लक्षण**—जिस पिड़का के चारो तरफ सरसों के समान कान्ति हो।
5. **अलजी लक्षण**—जो पिड़का अग्नि के सामन दुख देती हो।
6. **विनता लक्षण**—पृष्ठ या उदर पर होने वाली नील वर्ण की पिड़का विनता कहलाती है।
7. **विद्रधि लक्षण**—बाह्य व आभ्यन्तर भेद से जो विद्रधि के लक्षणों से युक्त होती है।
8. **मसूरिका लक्षण**—मसूर के समान आकार वाली पिड़का है।
9. **पुत्रिणी लक्षण**—यह पिड़का स्थूल एवं छोटी-छोटी पिड़काओं से व्याप्त रहती है।
10. **विदारिका लक्षण**—विदारीकन्द के समान गोल व कठिन होती है।
11. **कूर्मिका लक्षण**—यह कच्छपिका के समान लक्षण वाली होती है।
12. **कुलत्थिका लक्षण**—कुलत्थ या कुल्थी के समान वाली पिड़का।

आचार्य सुश्रुत ने वर्णन किया है कि कुष्ठी, दूषीविष पीड़ित, शोषी व मधुमेही के व्रण कठिनाई से ठीक होते हैं[1]।

चिकित्सा[2]

प्रमेह पीड़िका की चिकित्सा में रक्तमोक्षण व व्रणवत उपचार (संशोधन, रोपण) करने का विधान है।

आधुनिक मतानुसार मधुमेह रोग के प्रमुख उपद्रव (Complications of Diabetes Mellitus)

मधुमेह रोग एक जटिल व्याधि है। अचिकित्स्य होने पर मधुमेह रोग शरीर के सभी अवयवों में विभिन्न उपद्रव पैदा कर सकता है जिनमें से अधिकांश गम्भीर हो सकते हैं। मधुमेह के कुछ प्रमुख उपद्रव यहां पर वर्णित किए जा रहे हैं—

(I) **Acute & Subacute Complications of Diabetes Mellitus**
(a) **Metabolic**
Ketoacidosis, Coma
Hyper Osmolar non Ketonic-coma
Lactic acidosis

1. "कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम्। व्रणाः कृच्छ्रेण सिध्यन्ति येषां चापि व्रणे व्रणाः॥" (सु.सू. 23/7)
2. "प्रमेहिणां याः पिड़िका भयोक्ता रोगाधिकारे पृथगेव सद्भः।
ताः शल्यविद्भिः कुशलैश्चिकित्साया: शस्त्रेण संशोधन रोपणैश्च॥" (च.चि. 6/58)

(b) **Infection**
Bacterial/Fungal infection of skin, mucosa, UTI, Lungs etc
(c) **Hypoglycaemia**

(II) **Chromic Complications of Diabetes Mellitus**
(a) **Neuropathy**
(i) Somatic-Poly & Mononeuropathy
(ii) Visceral-Cardiovascular, Genitourinary etc.
(b) **Micro Vascular Complications**
(i) Retinopathy (Blindness)
(ii) Nephropathy (ESRF)
(c) **Macro Vascular Complications**
(i) Coronary artery disease
(ii) Angina (Silent) & M.I.
(iii) Peripheral Vascular disease
(iv) Atherosclerosis

(III) **Miscellanceous Complications of Diabetes Mellitus**
(a) Cardiomyopathy
(b) Erectile Dysfunction (Impotency)
(c) Collagen disturbances.

मधुमेह रोग चिकित्सा सूत्र

मधुमेह रोग की चिकित्सा से पूर्व रोग एवं रोगी की पूर्ण परीक्षा करनी चाहिये। मधुमेह रोगी निम्न दो प्रकार का होता है—

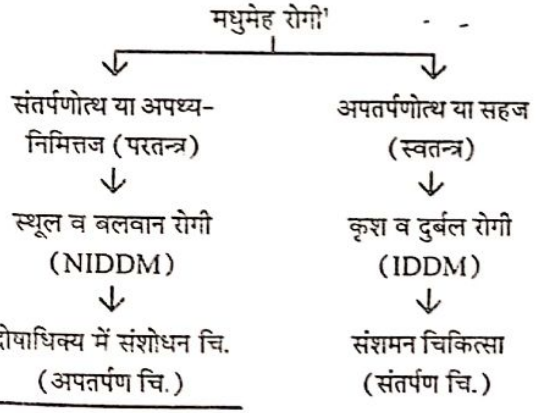

1. "स्थूलः प्रमेही बलवानिहैकः कृशस्तथैकः परिदुर्बलश्च।
संबृंहणं तत्र कृशस्य कार्यं संशोधनं दोषबलाधिकस्य॥" (च.चि. 6/15)

(I) संशोधन चिकित्सा

स्थूल व बलवान (दोष बलाधिक) मधुमेही में सर्वप्रथम संशोधन करवाना चाहिये। पूर्वकर्म के रूप में स्नेहन कराते हैं—

(अ) **स्नेहन**—मधुमेही को मध्यम मात्रा में 3 से 5 दिन तक त्रिफला घृत, पिप्पली घृत द्वारा आभ्यांतर स्नेहन कराना चाहिये। कुष्ठी, शोथी व प्रमेही में गुड़, दधि, दूध, तिल, माष, आनूप व जलीय जीवों का मांस स्नेहन हेतु प्रयोग न करें[1]। मधुमेह रोगी में स्वेदन कर्म निषिद्ध है।

(ब) **संशोधन**—कफज प्रमेह में 'वमन' एवं पित्तज प्रमेह में 'विरेचन' कर्म कराना चाहिये। यह वमन-विरेचन तीक्ष्ण प्रकार का होना चाहिये। इसके लिये तुवरक तैल, प्रियंगु आदि गण से सिद्ध घृत या तैल का प्रयोग करना चाहिये। विरेचन के पश्चात् सुरसादि गण कषाय के साथ शुण्ठी, देवदारु, मुस्तक चूर्ण, मधु व सैंधव मिश्रित आस्थापन बस्ति दें। संशोधन पश्चात रोगी का अग्नि बल देखकर संतर्पक अन्न-पान का प्रयोग करना चाहिये[2]। संशोधन (वमन-विरेचन) पश्चात यदि अपतर्पण का प्रयोग किया जाता है तो वृद्ध वायु गुल्म, धातुक्षय, लिङ्ग बस्ति वेदना एवं मूत्रग्रह उत्पन्न कर देती है। मधुमेह रोग में अनुवासन (बृंहण) बस्ति निषिद्ध है[3]। इस प्रकार संशोधन से दोष बलाधिक्य मधुमेही के वृद्ध दोष शरीर से बाहर निकलकर रोग को शान्त करते हैं।

(स) मधुमेह नाशक बस्तियां

i. पञ्चतिक्त पंचप्रासृतनिरुह बस्ति (च.सि. 8/8)
ii. प्रमेहे तु कषाय: सोमवल्कज: ॥ (च.सि. 10/43)
iii. मुस्तादि यापना बस्ति (च.सि. 12/15-16)
iv. प्रमेहहर आस्थापन बस्ति (सु.चि. 38/76)
v. माधुतैलिक बस्ति (अ.हृ.क. 4/27-28)

1. i) "ग्राम्यानूपौदकं मांसं गुड़ं दधि पयस्तिलान्। कुष्ठी शोथी प्रमेही च स्नेहने न प्रयोजयेत्॥।" (च.सू. 13/91)
   ii) "स्नेहैर्यथार्ह तान..... वा॥" (च.सू. 13/92)
2. "स्निग्धस्य योगा विविधा: प्रयोज्या: कल्पोपदिष्टा मल शोधनाय।
   उर्ध्वं तथाऽधश्च मलेऽपनीते मेहेषु संतर्पणमेव कार्यम्॥"
   (च.चि. 6/16)
3. "उदरी च प्रमेही च कुष्ठी स्थूलश्च मानव:।
   अवश्यं स्थापनीयास्ते नानुवास्या: कथञ्चन॥"
   (सु.चि. 35/22)

(II) संशमन चिकित्सा

कृश व दुर्बल रोगी में वात दोष की प्रधानता होती है। अत: इसकी संतर्पण (बृंहण) चिकित्सा करनी चाहिये[1]। अत: संशोधन अयोग्य कृश व दुर्बल रोगी में मन्थ, कषाय, यव चूर्ण, लेह आदि कल्पों द्वारा चिकित्सा करते हुए लघु आहार प्रयुक्त करते हैं[2]।

* औषध व आहार में तिक्त रस प्रधान द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिये।
* यव को मधु के साथ प्रयुक्त करायें।
* आमलकी स्वरस को हरिद्रा चूर्ण व मधु के साथ प्रयुक्त करायें। (सु.चि. 11/18)
* असाध्य प्रमेही में एक तुला (5 कि.ग्रा.) शिलाजीत को सालसरादि गण क्वाथ से भावित कर इसी क्वाथ के अनुपान के साथ संशोधन पश्चात् प्रात: में प्रयुक्त करना चाहिये (अ.हृ.चि. 12/44)। पथ्य रूप में लालशालि चावल को जांगल मांस रस के साथ दें।
* प्रमेही को व्यायाम, कुश्ती, क्रीड़ा, गज-तुरग-रथ-पदातिचर्या, परिक्रमण एवं धनुष आदि का प्रयोग कर शारीरिक व्यायाम करना चाहिये[3]।

अर्थ (साधन) रहित प्रमेही की विशेष चिकित्सा[4]

आचार्य सुश्रुत ने धनहीन व अनाथ प्रमेही की निम्न चिकित्सा वर्णित की है—

(i) बिना जूता व छाता के सूर्य के नीचे भिक्षावृत्ति पर रहकर टहलें।
(ii) मुनि व सन्तों के समान इन्द्रियों को वश में रखकर 100 योजन या अधिक यात्रा करें।
(iii) साँवा, निवार खाकर आँवला, कपित्थ, तिन्दुक, अरमन्तक के फलों का सेवन करें।
(iv) गोमूत्र व गोबर का सेवन करते हुये गायों के साथ रहें।
(v) ब्राह्मण रोगी शिला एवं उञ्छवृत्ति पर रहकर ब्रह्मरथ अर्थात् वेदों का पठन-पाठन करें।
(vi) ब्राह्मण के अतिरिक्त प्रमेह रोगी हल चलाये या कूप खोदे।

1. "संवृहणं तत्र कृशस्य कार्यं-संशोधनं दोषबलाधिकस्य॥" (च.चि. 6/15)
2. "संशोधनं नार्हति यह प्रमेही तस्य क्रिया संशमनीप्रयोज्या।
   मन्था: कषाया यवचूर्णलेहा: प्रमेहशान्त्यै लघवश्च भक्ष्या:॥" (च.चि. 6/18)
3. "प्रवृद्धप्रमेहास्तु व्यायामनियुद्धक्रीड़ागजतुरगरथपदातिचर्यापरिक्रमणान्यस्त्रोपास्त्रे वा सवरन्॥"
   (सु.चि. 11/11)
4. i) "अधनस्त्वबान्धवो वा..... । ..... रक्षेत्॥"
   (सु.चि. 11/12)
   ii) "अधनो वैद्यसन्देशादेवं कुर्वन्नतन्द्रित:। संवत्सरादन्तराद्धा प्रमेहात् प्रतिमुच्यते॥"
   (सु.चि. 11/13)

(vii) कृश व्यक्ति की सदा रक्षा करें उससे हल न चलवायें।

(viii) इस तरह उपर्युक्त चिकित्सा का प्रयोग करने से प्रमेही एक वर्ष में रोग मुक्त हो सकता है।

मधुमेह चिकित्सा

(I) संशोधन चिकित्सा

(अ) **स्थूल व बलवान रोगी**—संशोधन पश्चात संतर्पण देकर संशमन चिकित्सा दें।

(ब) **कृश व दुर्बल रोगी**—संशमन व बृहंण चिकित्सा दें। वातज प्रमेही यदि संशोधन सहन योग्य हो तो मृदु संशोधन दें।

(II) संशमन चिकित्सा

(1) निदान परिवर्जन
(2) व्यायाम
(3) रूक्ष अन्नपान
(4) औषध व्यवस्था

मधुमेही एवं प्रमेह में संशमन चिकित्सा के अन्तर्गत निम्न औषध कल्पों को युक्ति पूर्वक प्रयुक्त कर सकते हैं—

बीस प्रमेह चिकित्सा औषध योग

1. **उदक मेह**—हरीतकी, कट्फल, मुस्तक, लोध्र कषाय या पारिजात कषाय दें।
2. **इक्षु मेह**—पाठा, विडंग, अर्जुन, धन्वन्त्वक् कषाय या निम्ब कषाय दें।
3. **सान्द्र मेह**—हरिद्रा, दारुहरिद्रा, तगर, विडंग कषाय या सप्तपर्ण कषाय दें।
4. **सान्द्रप्रसाद मेह**— कदम्ब, शाल, अर्जुन, दीप्यक (यवानी) कषाय या सप्तपर्ण कषाय दें।
5. **शुक्ल मेह**—दारुहरिद्रा, विडंग, खदिर, धव कषाय दें।
6. **शुक्र मेह**—देवदारु, कुष्ठ, अगरु, चन्दन कषाय या दूर्वा, शैवाल, प्लव, करंज, कसेरु कषाय या अर्जुन-चन्दन कषाय दें।
7. **शीत मेह**—दारुहरिद्रा, अग्निमन्थ, त्रिफला, पाठा कषाय या पाठा-गोक्षुर कषाय दें।
8. **शनै मेह**—पाठा, मूर्वा, गोक्षुर क्वाथ या त्रिफला-गुडुची कषाय दें।
9. **लाला मेह**—यवानी, उशीर, हरीतकी, गुडुची कषाय या त्रिफला-आरग्वध कषाय दें।
10. **सिकता मेह**—चव्य, अभया, चित्रक, सप्तपर्ण क्वाथ या निम्ब क्वाथ दें।
11. **क्षार मेह**—त्रिफला क्वाथ दें।

12. **काल मेह**—न्योग्रोधादि गण कषाय दें।
13. **नील मेह**—सालसरादि गण या अश्वत्थ कषाय दें।
14. **लोहित मेह**—गुडुची, तिन्दुक, काश्मरी, खर्जूर क्वाथ दें।
15. **हारिद्र मेह**—राजवृक्ष कषाय दें।
16. **माञ्जिष्ठ मेह**—मंजिष्ठा-चन्दन क्वाथ दें।
17. **वसा मेह**—अग्निमंथ, शिंशपा कषाय दें।
18. **मज्जा मेह**—अमृता, चित्रक, कुष्ठ, कुटज, पाठा, कुटकी क्वाथ दें।
19. **हस्ति मेह**—पाठा, शिरीष, मूर्वा, तिन्दुक क्वाथ दें।
20. **मधुमेह/क्षौद्रमेह**—कदर, खदिर, क्रमुक कषाय दें।

1. **रस/भस्म**

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, त्रिफलास्वरस आदि
(i) बसन्तकुसुमाकर रस	: स्वर्ण, रजत, वङ्ग, अभ्रक आदि।
(ii) बृहद् वङ्गेश्वर रस	: पारद, गन्धक, वङ्ग, अभ्रक
(iii) तारकेश्वर रस	: पारद, गन्धक, तङ्ग, गोक्षुर आदि
(iv) स्वर्णवङ्ग भस्म	: पारद, सैंधव, गन्धक, वङ्ग आदि
(v) त्रिवङ्ग भस्म	: नाग, वङ्ग, यशद भस्म
(vi) अपूर्वमालिनी बसन्त रस	: वैक्रान्त, अभ्रक, ताम्र आदि
(vii) हरिशंकर रस	: पारद, गन्धक, स्वर्ण माक्षिक आदि
(viii) स्वर्ण माक्षिक भस्म	: शुद्ध स्वर्ण माक्षिक भस्म सालसरादि गण भावित

2. **वटी**

मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, उष्णोदक आदि
(i) शिवागुटिका	: शिलाजतु, त्रिफला, कुटकी आदि
(ii) चन्द्रप्रभा वटी	: शिलाजतु, त्रिफला, त्रिकटु आदि
(iii) शिलाजत्वादि वटी	: शिलाजतु, अभ्रक, स्वर्ण, गुग्गुलु आदि
(iv) इन्द्रवटी	: रससिन्दूर, वङ्ग, अर्जुन आदि
(v) त्रिकटु गुटिका	: शुण्ठी, मरिच, पिप्पली, आदि

3. **चूर्ण**

मात्रा	: 3-6 ग्राम
अनुपान	: मधु, त्रिफला क्वाथ
(i) न्यग्रोधाद्य चूर्ण	: अश्वत्थ, अमलतास, बड़, असन आदि
(ii) त्रिफला चूर्ण	: हरीतकी, विभीतकी, आमलकी

4. **क्वाथ**
   - मात्रा : 20-40 मि.ली.
   - अनुपान : मधु
   - (i) फलत्रिकादि क्वाथ : त्रिफला, दारुहरिद्रा, विशाला, मुस्तक, हरिद्रा आदि
   - (ii) दार्व्यादि क्वाथ (चरक)
   - (iii) विडंगादि क्वाथ (यो.र.)
   - (iv) त्रिफलादि क्वाथ (वृन्द)
   - (v) पलाशपुष्प क्वाथ (यो.र.)
   - (vi) सालसारादि गण क्वाथ

5. **आसव / अरिष्ट**
   - मात्रा : 20-40 मि.ली.
   - अनुपान : मधु, मिश्री
   - (i) लोध्रासव : लोध्र, कर्पूर, पुष्करमूल आदि
   - (ii) मध्वासव : उपर्युक्त सभी द्रव्य
   - (iii) दन्त्यासव : दन्तीमूल, लोध्र, मूर्वा, विडंग आदि
   - (iv) देवदार्वादि अरिष्ट : देवदारु, वासा, मंजिष्ठा आदि

6. **घृत / तैल**
   - मात्रा : आवश्यकतानुसार
   - (i) धान्वन्तर घृत : दशमूल, करञ्ज, देवदारु आदि
   - (ii) दाड़िमाद्य घृत : अनार, विडंग, हरिद्रा आदि
   - (iii) त्रिकण्टकाद्य घृत : गोक्षुर, पाषाणभेद, भल्लातक आदि
   - (iv) त्रिफलादि घृत : त्रिफला, भृङ्गराज, वासा ,आमलकी आदि
   - (v) प्रमेहमिहिर तैल : शतपुष्पा, देवदारु, हरिद्रा आदि

7. **लेह**
   - मात्रा : 5-10 ग्राम
   - अनुपान : उष्णोदक
   - (i) शालसारादि लेह : शालसारादिगण, दन्ती, हरड़ आदि
   - (ii) कुशावलेह : कुशा, खस, वीरण, मुलेठी आदि
   - (iii) वङ्गावलेह : वङ्ग, मधु, गन्धक आदि

8. **उदक (जल)**
   - (i) सारोदक : विजयसार लकड़ी को ताम्रपात्र में रख जलपान
   - (ii) कुशोदक : कुशा का जल

   - (iii) मधुदक : मधु व जल
   - (iv) त्रिफला रस : क्वाथ या स्वरस
   - (v) सीधू : जौ, मद्य,
   - (vi) माध्वीक : पुराण मुनक्का से बना मद्य

9. **रसायन प्रयोग** यथावश्यक :
   - (i) आमलकी
   - (ii) शिलाजतु (शालसरादि गण भावित) : अपथ्य-कपोतमांस, कुल्थी
   - (iii) गुग्गुलु
   - (iv) लशुन

आचार्य सुश्रुत ने प्रमेह के लिए शिलाजतु को नैमित्तिक रसायन कहा है।

10. **कल्प चिकित्सा**
    - (i) शिलाजतु कल्प : 1 तुला (5 किलोग्राम)
    - (ii) तुवरक कल्प : यथावश्यक

11. **एकल औषध - यथावश्यक**

पलान्डु	कारवेल्लक	भल्लातक	तेजपत्र
निम्ब	जम्बु	आम्र बीज	सप्तचक्रा
मेषश्रृङ्गी	बिम्बी	लोध्र	खदिर
बिल्व	मामज्जक	पलाश	अमृता
विजयसार	हरिद्रा	बबूल	सेम
मेथी	आमलकी	बला	

12. **अन्य चिकित्सा**

योगासन— कूर्मासन, मयूरासन, पश्चिमोत्तासन आदि।

प्राणायाम (भस्त्रिका)

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. प्रातः सायम्
   - बसन्त कुसुमाकर रस : 125 मि.ग्रा.
   - त्रिफला चूर्ण : 2 ग्राम
   - यव चूर्ण
   - मधु से : 1 ग्राम
   - 1×2 मात्रा
2. शिलाजत्वादि वटी : 2 वटी × तीन मात्रा
   - चन्द्रप्रभावटी : 2 वटी × तीन मात्रा

3. भोजनोत्तर
   देवदार्वाद्यरिष्ट : 20 मि.ली.
   समभाग जल से 1×2 मात्रा
4. भोजनोत्तर
   न्योग्राद्य चूर्ण : 2-4 ग्राम
   मधु से 1×2 मात्रा
5. विबंध होने पर रात्रि में
   पंचसकार चूर्ण : 2 ग्राम
   गर्म जल से 1 मात्रा

पथ्यापथ्य

मधुमेह रोग में पथ्यापथ्य एवं आहार-विहार का विशेष महत्व है। अत: मधुमेही में निम्न पथ्यापथ्य प्रयुक्त करना चाहिए[1]-

पथ्य

आहार	विहार
यव, मूंग, अतसी, चना, साँवा, कोदों, गवेधुक, गोधूम, मधु, पूग, सैंधव, जांगल मांस, पटोल, करेला, गाजर, शलजम, आँवला, हरिद्रा, कपित्थ, मरिच आदि।	चंक्रमण (पदातिचर्या), लघु व्यायाम, रूक्ष उद्वर्त्तन, स्नान, क्रीड़ा, कुश्ती, रथचर्या आदि।

अपथ्य

आहार	विहार
दुग्ध, दधि, तक्र, घृत, तैल, इक्षुविकार, गुड़, पिष्टान्न, सुरा, मद्य, आनूप मांस, ताम्बुल, उड़द, अध्यशन, विरुद्धाशन, कफ मेदवर्धक, आहार, मधुर-अम्ल-लवण रस आदि।	दिवाशयन, अति मैथुन, स्वेदन, धूम्रपान, वेग धारण, रक्तमोक्षण आदि।

1. i) "व्यायामयोगैर्विविधैः प्रगाढ़ैरुद्वर्तनैः स्नानजलावसेकैः।
   सेव्यत्वगेलागुरुचन्दनाद्यैर्विलेपनैश्चाशु न सन्तिमेहाः॥" (च.चि. 6/58)
   ii) "श्यामाककोद्रवोदालगोधूमाश्चणकास्तथा। आढयश्च कुलत्थाश्च पुराणा मेहिनां हिताः॥
   मेहिनां तिक्तशाकानि जाङ्गला हरिणाण्डजाः। यवान्नविकृतिर्मुद्गाः शस्यन्ते शालिषष्टिकाः॥
   सौवीरकं सुरा तक्रं तैलं क्षार घृतं गुडम्। अम्लेक्षुरसमिष्टान्नानूप मांसानि वर्जयेत्॥"
   (भा.प्र.चि. 38/41-43)

Latest Developments
Diabetes Mellitus

आयुर्वेद में वर्णित मधुमेह रोग का सामंजस्य आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित 'Diabetes mellitus' नामक रोग से करते हैं।

Diabetes mellitus is a matabolic clinical syndrome characterised by hyperglycaemia due to absolute or relative deficiency of insulin and by long term complications involving the eyes, kidneys, nerves and blood vessels.

Types of Diabetes mellitus

i. IDDM (Type 1st) : Insulin Dependent Diabetes Mellitus
ii. NIDDM (Type IInd) : Non Insulin Dependent Diabetic Mellitus
iii. MRDM : Malnutrition related Diabetes Mellitus
iv. MODY : Maturity onset Diabetes of Young (Juvenile Diabetes Mellitus)

Signs/Symptoms

i. Hyperglycaemia
ii. Frequent urination (Glycosuria)
iii. Always hunger (Polyphagia)
iv. Crave for extra liquid (Polydypsia)
v. Always tired / Debility
vi. Genital itching
vii. Sexual dysfunction etc.

Diagnosis

i. Fasting plasma Glucose > 126 mg/dl
ii. Randon plasma Glucose > 200 mg/dl & symptoms
iii. Post prandial plasma Glucose > 200 mg / dl
iv. Urinary glycosuria - present

Management : Principles

i. Diet control
ii. Active exercises
iii. Life style modifications
vi. Drugs-Insulin, Biguanides, Sulphonylureas etc.
v. Mass Education /Councelling to the patient.

अध्याय-63

वातरक्त
(Gout)

व्याधि परिचय

इस रोग में मुख्यत: वात दोष व रक्त धातु की दुष्टि होती है, अत: इसे वातरक्त कहते हैं। इस रोग में मुख्यत: छोटी सन्धियों में शोथ, शूल एवं विवर्णता उत्पन्न होती है। आचार्य चरक ने चिकित्सा स्थानान्तर्गत स्वतंत्र अध्याय के रुप में इसका वर्णन किया है। आचार्य सुश्रुत ने वातव्याधि प्रकरण में ही इसका वर्णन किया है। लक्षणों एवं निदान-सम्प्राप्ति की दृष्टि से वात रक्त की तुलना आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित गाउट (Gout) नामक रोग से की जाती है।

निरुक्ति / व्युत्पत्ति

वात बलास— वातस्यावरणेन बलमत्स्यस्मिन् शोणित इति वात बलास:।
अर्थात् वात के आवृत हो जाने से रक्त अधिक दूषित होकर इस रोग को उत्पन्न करता है। अत: इसे वात बलास भी कहते हैं।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 29
2. सुश्रुत संहिता, निदान स्थान-अध्याय 1
3. सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 5
4. अष्टाङ्ग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 16
5. अष्टाङ्ग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 22
6. माधव निदान-अध्याय 23
7. चक्रदत्त-अध्याय 23
8. भाव प्रकाश-अध्याय 29
9. भैषज्य रत्नावली - वातरक्त चिकित्सा प्रकरण

पर्याय— वातरक्त के निम्न पर्याय शास्त्रों में वर्णित हैं[1]—

(i) वातशोणित (ii) खुड्डरोग
(iii) वातबलास (iv) आढ्यवात

1. "तज्ज्ञेयं वातशोणितम्। खुडं वातबलासाख्यमाढ्यवातं च नामभि:॥" (च.चि. 29/11)

(v) वातासृक (vi) मेदसावृत वात आदि

निदान

वातरक्त के निदानों को निम्न प्रकार से विभाजित कर सकते हैं—

I. **आहार सम्बन्धी निदान[1]**

(i) कटु-अम्ल-लवण-क्षार-स्निग्ध-उष्ण पदार्थों का अति सेवन।
(ii) क्लिन्न, शुष्क, आनूप मांस सेवन
(iii) पिण्याक (खली), मूली, कुल्थी, माष (उड़द) सेम आदि का अति सेवन
(iv) मांस, ईख, दही, कांजी, सौवीर, सिरका, तक्र, सुरा, आसव का अति सेवन
(v) विरुद्ध भोजन, अध्यशन, अजीर्णाशन करना
(vi) मिथ्या आहार सेवन
(vii) मिष्ठान्न सेवन आदि।

II. **विहार सम्बन्धी निदान[2]**

(i) अत्यधिक क्रोध
(ii) दिवाशयन
(iii) रात्रि जागरण
(iv) अनशन
(v) ऊंट व घोड़े की अधिक सवारी
(vi) चोट लगना
(vii) जल में क्रीड़ा करना, तैरना, कूदना
(viii) ग्रीष्म ऋतु में अधिक विषम रास्ता चलना
(ix) अधिक मैथुन करना
(x) मल-मूत्रादि का वेग धारण करना
(xi) पंचकर्म नहीं करना

1. "लवणाम्लकटुक्षारस्निग्धोष्णाजीर्णभोजनै:। क्लिन्नशुष्काम्बुजानूपमांसपिण्याकमूलकै:॥
कुलत्थमाषनिष्पावशाकादिपललेक्षुभि:। दध्यारनाल सौवीर शुक्तक्र सुरासवै:॥"
(च.चि. 29/5-6)

2. "क्रोधदिवास्वप्न प्रजागरै:। प्राय: सुकुमाराणां मिष्ठान्न सुखभोजिनाम्॥
अचङ्क्रमणशीलानां कुप्यते वातशोणितम्॥ अभिघातादशुद्धया च प्रदुष्टे शोणिते नृणाम्॥
हयोष्ट्रयानयानाम्बुक्रीडाप्लवनलङ्घनै:॥"
(च.चि. 29/7-9)

III. **प्रकृति सम्बन्धी निदान**[1]

(i) सुकुमार, स्थूल, सुखी तथा मिथ्या आहार-विहर सेवी होना

(ii) अव्यायामी होना।

अत: वात रक्त के निदानों को वात प्रकोपक निदान व रक्तप्रकोपक निदानों में विभक्त कर सकते हैं। कुछ निदान प्राय: धनी व्यक्तियों में पाए जाते हैं। अत: वातरक्त को आढ्यवात भी कहा गया है।

भेद— आचार्य चरक ने वातरक्त के निम्न भेद वर्णित किए हैं—

I. **आश्रय के आधार पर**[2]

(i) उत्तान वातरक्त

(ii) गम्भीर वातरक्त (अवगाढ़ वातरक्त)

(iii) उभयाश्रित वातरक्त

II. **दोष के आधार पर**[3]

(i)	वातज वातरक्त	(ii)	पित्तज वातरक्त
(iii)	रक्तज वातरक्त	(iv)	कफज वातरक्त
(v)	द्वन्द्वज वातरक्त (3 भेद)	(vi)	सन्निपातज वात रक्त

सम्प्राप्ति[4]

(i) **सामान्य सम्प्राप्ति**

पूर्वोक्त वर्णित निदानों के सेवन से वात एवं रक्त एक साथ प्रकुपित होते हैं। बढ़े हुए

1. "प्रायश: सुकुमाराणां मिथ्याऽऽहाराविहारिणाम्। रोगाध्वप्रमदामद्यव्यायामैश्चातिपीडनात्॥
ऋतुसात्म्य विपर्यासात् स्नेहादीनां च विभ्रमात्। अव्यवाये तथा स्थूले वातरक्तं प्रकुप्यति॥"
(सु.नि. 1/40-41)

2. "उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं तत् प्रचक्षते। सर्वलिंगैश्च विज्ञेयं वातासृगुभयाश्रयम्॥"
(च.चि. 29/19, 23)

3. "तत्र वातेऽधिके वा स्याद्रक्ते पित्ते कफेऽपि वा। संसृष्टेषु समस्तेषु यच्च तच्छृणु लक्षणम्॥"
(च.चि. 29/24)

4. i) "वायुर्विवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावारित: पथि। कृत्स्नं संदूषयेद्रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितम्॥"
(च.चि. 29/10-11)

ii) "क्षिप्रं रक्तं दुष्टिमायाति तच्च, वायोर्मार्गं संरुणद्धयाशुयात:।
कुद्धोऽत्यर्थं मार्गरोधात् स वायुरत्युद्रिक्तं दूषयेद्रक्तमाशु॥
तत् संपृक्तं वायुना दूषितेन तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम्।
तद्वत् पित्तं दूषितेनासृजाऽऽक्तं श्लेष्मादुष्टो दूषितेनासृजाऽऽक्त:॥"
(सु.नि. 1/43-44)

दूषित रक्त के द्वारा वायु का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। रुकी हुई वायु पुन: सम्पूर्ण रक्त को दूषित कर देती है। यह दुष्ट रक्त खिसक कर नीचे पैरों में इकट्ठा हो जाता है एवं वायु के साथ मिलकर वातरक्त रोग उत्पन्न करता है।

(ii) **विशिष्ट सम्प्राप्ति**[1]

वायु सूक्ष्म व सम्पूर्ण संधियों या मार्गों में फैलने वाला होता है तथा रक्त द्रव और सम्पूर्ण स्रोतों में फैलने वाला होता है। इन दोनों गुणों के कारण कुपित हुआ वात व रक्त सिरामार्गों से सम्पूर्ण शरीर में गमन करते हैं। गमन करते हुए संधियों के टेढ़े होने से वहाँ वात-रक्त की गति में आघात होता है और वह क्षुब्ध होकर वहीं रुक जाते हैं। पित्त आदि दोषों से युक्त होकर उन संधियों में रुके हुए वात एवं रक्त भिन्न-भिन्न प्रकार से वेदनाओं को उत्पन्न दूषित करते हैं। इस प्रकार संधि प्रदेश में रुके दूषित वात एवं रक्त मनुष्यों के शरीर में अत्यन्त कष्टप्रद एवं विकृत दोषानुसार विभिन्न वेदनाओं को उत्पन्न करते हैं। इस अवस्था को ही वातरक्त नामक रोग कहते हैं।

वात रक्त का स्थान[2]

वातरक्त सर्वप्रथम हाथ व पैर में अपना मूल स्थान बनाकर, पश्चात् सम्पूर्ण शरीर में फैलता है। यह विशेषकर हस्त, पाद, अंगुलि व संधियों में स्थान बनाता है। आचार्य सुश्रुत के अनुसार वातरक्त हस्त व पाद में आश्रय प्राप्त करके चूहे के विष के समान सम्पूर्ण शरीर में फैलता है।

1. "सौक्ष्म्यात्.....।
.....नृणाम्॥" (च.चि. 29/13-15)

2. i) "तस्य स्थानं करौ पादावङ्गुल्य: सर्वसन्धय:।
कृत्वाऽऽदौ हस्तपादे तु मूलं देहे विधावति॥" (च.चि. 29/12)
ii) "पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि।
आखोर्विषमिव क्रुद्धं तद्देहमनुसर्पति॥" (सु.नि. 1/48)

सम्प्राप्ति चक्र

वात व रक्त प्रकोपक आहार-विहार सेवन

+

सुकुमारता, स्थूलता, आलस्यता व अचंक्रमणशील होना

↓

अन्न विदग्धता

↓

रक्तदुष्टि

↓

दुष्ट रक्त का पादमूल में संचय

+

स्वकारणों से प्रकुपित वात्त

↓

सम्पूर्ण रक्त दुष्टि

↓

प्रकुपित वात एवं रक्त का सर्व शरीर में प्रसरण

↓ ↓

त्वक-मांस में आश्रय — सन्धि में आश्रय

↓ ↓

उत्तान वातरक्त — **गम्भीर वातरक्त**

सम्प्राप्ति घटक

दोष	:	वात, रक्त
दूष्य	:	रक्त, त्वक, मांस
स्रोतस्	:	रक्तवहस्रोतस्
अधिष्ठान	:	सन्धि, त्वक, मांस, रसवह स्रोतस
स्रोतोदुष्टिलक्षण	:	संग पश्चात् विमार्गगमन
स्वभाव	:	चिरकारी

पूर्वरुप[1]—वातरक्त रोग के सम्पूर्ण लक्षण उत्पन्न होने से पूर्व मनुष्य शरीर में निम्न पूर्वरुप प्रकट होते हैं—

1. i) "स्वेदोऽत्यर्थ..... । .....सृकपूर्वलक्षणम्॥" (च.चि. 29/16-18)
   i) "प्राग्रूपे शिथिलौ स्विन्नौ शीतलौ सविपर्ययौ। वैवर्ण्यतोदसुप्तत्वगुरुत्वौपसमन्वितौ॥" (सु.नि. 1/47)

i. स्वेदाधिक्य या स्वेद का अभाव होना (Abnormal perspiration)
ii. कृष्णता (Hyperpigmentation of skin)
iii. स्पर्शाज्ञत्वं (Anaesthesia)
iv. क्षतेऽतिरुक (Pain on injury)
v. सन्धि शैल्थिल्य (Subluxation of joints)
vi. आलस्य (Easy fatigue)
vii. सदन (Stiffness in body)
viii. पिड़कोद्गम (Boils and carbuncles)
ix. जानु-जंघा-उरु-कटि-अंश-हस्त-पाद की संधियों में निस्तोद, स्फुटण, भेदन, गुरुता व सुप्तता (Hyperaesthesia)
x. कण्डू (Itching)
xi. त्वक् वैवर्ण्य (Discolouration of skin)
xii. मण्डलोत्पत्ति (Blister formation)

रूप

वातरक्त रोग के सामान्य लक्षण एवं विभिन्न भेदों के लक्षण निम्नानुसार वर्णित हैं—

सामान्य लक्षण

(i) यह रोग संधियों, विशेषत: छोटी संधियों से प्रारंभ होता है। हाथ या पैर की अंगुलियों में या अंगूठे में तीव्र वेदना के साथ रोग का प्रारंभ होता है।
(ii) यह वेदना प्राय: रात्रि के समय प्रारंभ होती है, रोगी को निद्रा नहीं आती है।
(iii) ज्वर
(iv) तृष्णा
(v) शरीर में कम्पन
(vi) सन्धि में लालिमा व शोथ

विशिष्ट लक्षण

I **उत्तान वातरक्त लक्षण**[1]

जो वातरक्त जन्य लक्षण त्वचा व मांस में आश्रित रहते हैं, उसे उत्तान वातरक्त कहते हैं। इसमें निम्न लक्षण मिल सकते हैं—

(i) कण्डू
(ii) दाह
(iii) पीड़ा

1. i) "त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं।" (च.चि. 29/19)
   ii) "कण्डूर्दाहरुगायागतोदस्फुरण कुञ्चनैः। अन्विता श्यावरक्ता त्वग्बाह्य ताम्रा तथेष्यते॥" (च.चि. 29/20)

(iv) आयाम (खिंचावट)
(v) तोद (सुई चुभने सा पीड़ा)
(vi) स्फुरण (अंगों का फड़कना)
(vii) कुञ्चन (अंगों का ट्रेढापन)
(viii) श्याव या ताम्र वर्ण त्वचा

II गम्भीर वातरक्त लक्षण[1]

जो वातरक्त जन्य लक्षण रक्त, मांस, मेदा आदि अवगाढ़ धातुओं में आश्रित होते हैं उसे गम्भीर वातरक्त कहा जाता है। इसमें निम्न लक्षण पाए जाते हैं—

(i) कठिन शोथ
(ii) स्तब्धता
(iii) शोथ के भीतरी भाग में पीड़ा होना
(iv) त्वचा श्याव या ताम्र वर्ण की होना
(v) संधियाँ दाह, तोद, स्फुरण तथा पाक से युक्त हो जाती हैं।

III उभयाश्रित वातरक्त लक्षण[2]

जब वातरक्त उत्तान व गम्भीर (आभ्यन्तर) धातुओं में एक साथ उपस्थित रहता है तब निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं—

(i) संधि-अस्थि-मज्जा स्थित वायु अंगों को टेढ़ा करके कभी-कभी खंज या पंगु उत्पन्न कर देता है।

वस्तुतः उत्तान वातरक्त कालान्तर में गम्भीर स्वरुप धारण कर गम्भीर वातरक्त भी बन जाता है जिससे उभय वातरक्त के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

IV वातज वातरक्त के लक्षण[3]

वातोल्बण वातरक्त में निम्न लक्षण मिल सकते हैं—

(i) सिरा आयाम (खिंचाव)

1. i) "गम्भीरं त्वन्ताश्रयम्॥" (च.चि. 29/19)
   ii) "गम्भीरे श्वयथुः स्तब्धः कठिनोऽन्तर्भृशार्तिमान्। श्यावस्ताम्रोऽथवा दाहतोदस्फुरणपाकवान्॥" (च.चि. 29/21)
2. "रुग्विदाहान्वितोऽभीक्ष्णं वायुः सन्ध्यस्थितमज्जसु। छिन्दन्निव चयत्यन्तर्वक्रीकुर्वंतश्च वेगवान्॥ करोति खञ्जं पङ्गुं वा शरीरे सर्वतश्चरन्। सर्वैं लिङ्गैश्च विज्ञेयं वातासृगुभयाश्रयम्॥" (च.चि. 29/22-23)
3. i) "विशेषतः सिरायामशूलस्फुरणतोदनम्। शोथस्य कार्ष्ण्य रौक्ष्यं च श्यावतावृद्धिहानयः॥ धमन्यङ्गुलिसन्धीनां सङ्कोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक्। कुञ्चनस्तम्भने शीतप्रद्वेषश्चानिलेऽधिकै॥" (च.चि. 29/25-26)
   ii) "स्पर्शोद्विग्नौ तोदभेदप्रशोषस्वापापेतौ वातरक्तेन पादौ॥" (सु.नि. 1/45)

(ii) शूल, स्फुरण व तोद
(iii) शोथ कृष्ण या श्याव वर्ण का एवं रूक्ष होता है
(iv) वातरक्त के लक्षण घटते-बढ़ते रहते हैं
(v) धमनी-अंगुलि व संधियों में संकोच हो सकता है
(vi) अंगों में जकड़ाहट होना
(vii) वेदनाधिक्य, आकुंचन व स्तम्भन होना
(viii) शीतल अन्न व विहार से द्वेष होना

V पित्तज वातरक्त के लक्षण[1]

पित्तोल्वण वातरक्त में निम्न लक्षण प्राप्त होते हैं

(i) शरीर में विदाह, वेदना, मूर्च्छा होना
(ii) स्वेदाधिक्य होना
(iii) तृष्णाधिक्य होना
(iv) मद होना व चक्कर आना
(v) रोगाक्रान्त प्रदेश में लालिमा, पाक, भेदनवत पीड़ा होना
(vi) अंगों में शोष व उष्माधिक्य (ज्वर) होना

VI रक्तज वातरक्त के लक्षण[2]

रक्त की अधिक विकृति से उत्पन्न होने वाले वातरक्त में निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं—

(i) कण्डू व क्लेद युक्त शोथ
(ii) वेदना युक्त सन्धि शोथ
(iii) तोद व चिमचिमायमन (चुनचुनाहट) युक्त शोथ
(iv) स्निग्ध व रूक्ष द्रव्यों से रोग की वृद्धि होना

1. i) "विदाहो वेदना मूर्च्छा स्वेदस्तृष्णा मदो भ्रमः।
   रागः पाकश्च भेदश्च शोषश्चोक्तानि पैत्तिके॥" (च.चि. 29/28)
   ii) "पित्ते विदाहः सम्मोहः स्वेदो मूर्च्छा मदः सतृट्।
   स्पर्शाक्षमत्वं रूग्रागः शोफः पाको भृशोष्मता॥" (अ.हृ.नि. 16/15)
2. "श्वयथुर्भृशरुक् तोदस्ताम्रश्चिमिचिमायते।
   स्निग्धरुक्षैः शमं नैति कण्डूक्लेदान्वितोऽसृजि॥" (च.चि. 29/27)

VII कफज वातरक्त के लक्षण[1]

कफ दोषाधिक्य से वातरक्त में निम्न लक्षण प्रकट हो सकते हैं—

(i) स्तैमित्य (गीले कपड़े से शरीर ढका प्रतीत होना)

(ii) शरीर में भारीपन, स्निग्धता, शून्यता होना

(iii) मन्द वेदना होना

(iv) कण्डू होना

VIII द्वन्द्वज व सन्निपातज वातरक्त लक्षण[2]

जब वात रक्त में दो दोषों की प्रधानता रहती है तब इन दोनों दोषों के मिश्रित लक्षण एवं सन्निपातज वातरक्त में त्रिदोषों के मिश्रित लक्षण पाए जाते हैं।

सापेक्ष निदान

वातरक्त रोग का सापेक्ष निदान विभिन्न व्याधियों से किया जाता है, जिनका तालिकाबद्ध तुलनात्मक वर्णन निम्नानुसार है—

तालिका संख्या-1

वातरक्त	रक्तगतवात	रक्तावृतवात	सिरागतवात
1. वात व रक्त अपने-अपने कारणों से दूषित होते हैं। दोनों मिलकर विकृति उत्पन्न करते हैं। निदान, सम्प्राप्ति के कारण विशिष्ट रोग है।	इसमें केवल वात दूषित होता है। दूषित वात ही सामान्य रक्त में आश्रय करके 'रुज स्तीव्राः संतापा' द्वारा रक्तगत वात उत्पन्न करता है।	इसमें वृद्ध रक्त के कारण आवरण हो कर वायु विकार उत्पन्न करता है।	इसमें दूषित वात सिरा में अधिष्ठान लेकर वात सिरागत रोग उत्पन्न करती है
2. अधिष्ठान-हस्त-पाद की अंगुलि	अधिष्ठान सर्वशरीर	अधिष्ठान त्वचा व मांस	अधिष्ठान सिरा
3. Gout से तुलना की जाती है।	Hypertension से तुलना की जाती है।	Myopathy से तुलना की जाती है।	Varicose Vein से तुलना की जाती है।

1. i) "स्तैमित्यं गौरवं स्नेहः सुप्तिर्मन्दा च रुक् कफे।" (च.चि. 29/29)
   ii) "कण्डूमन्तौ श्वेतशीतौ सशोफो पीनस्तब्धो श्लेष्मदुष्टे तु रक्ते॥" (सु.नि. 1/46)
2. "हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्याद्द्वन्द्व त्रिदोषजम्॥" (च.चि. 29/29)

तालिका संख्या-2

आमवात	सन्धिवात	वातरक्त	क्रोष्टुक शीर्ष
i. प्रायः बड़ी सन्धियों में प्रारम्भ होता है।	सभी सन्धियों में एक समान रहता है। (प्रायः जानू व कटि संधि में)	यह प्रायः छोटी सन्धियों (अंगुष्ठ-मूल) से प्रारम्भ होता है।	केवल जानु संधि में होता है
ii. ज्वर उपस्थित रहता है	ज्वर नहीं रहता है।	ज्वर प्रायः नहीं रहता कभी-कभी पाया जाता है।	ज्वर नहीं रहता है
iii. सन्धि शोथ व शूल रहता है	सन्धि शूल रहता है।	शोथ व शूल रहता है।	जानुसन्धि शोथ, शूल व शृङ्गालशिर समान आकृति होती है।
iv. वृश्चिक दंशवत् एवं भ्रमणशील शूल सन्धियों में रहता है	संधि शूल सामान्य रहता है।	मूषक विषवत् शूल सन्धियों में रहता है।	सामान्य सन्धि शूल रहता है।
v. आम रस व कफ की प्रधानता	वात की प्रधानता	वात व रक्त की प्रधानता	वात व रक्त की प्रधानता
vi. सन्धियों में पाक नहीं	संधियों में पाक नहीं	सन्धियों में पाक होता है	सन्धि में पाक नहीं होता
vii. हृद्गौरव उपस्थित	हृद्गौरव नहीं	हृद्गौरव नहीं	हृद गौरव नहीं
viii. रक्तमोक्षण से लाभ नहीं होता है।	रक्त मोक्षण से लाभ नहीं होता	रक्तमोक्षण से लाभ होता है।	रक्तमोक्षण से लाभ नहीं होता
ix. Rheumatoid Arthritis से तुलना की जाती है	Osteoathritis से तुलना की जाती है।	Gout से तुलना की जाती है	Synovitis of knee joint से तुलना की जाती है
x. बाल्यावस्था में प्रारम्भ हो सकता है	मध्यावस्था व वृद्धावस्था में प्रारम्भ होता है।	प्रायः 40 वर्ष के बाद प्रारम्भ होता है	40 वर्ष के बाद प्रारम्भ होता है

साध्यासाध्यता[1]

i. एकदोषज व नवीन वातरक्त साध्य होता है।
ii. द्विदोषज (द्वन्द्वज) वातरक्त याप्य होता है।
iii. त्रिदोषज एवं समस्त उपद्रव युक्त वातरक्त असाध्य होता है।
iv. जिस वातरक्त में उपद्रवों का अभाव हो वह साध्य होता है।
v. जिस वातरक्त में सम्पूर्ण उपद्रव न हों वह याप्य होता है।

असाध्य वातरक्त लक्षण[2]

i. व्रण फूटकर पूयस्राव होता हो।
ii. आक्रान्त प्रदेश में विवर्णता, जकड़ाहट एवं अर्बुद उत्पन्न हो गया हो।
iii. इन्द्रियों में ताप उत्पन्न हो गया हो।
iv. जो वातरक्त अंगुष्ठ मूल से प्रारम्भ होकर जानु सन्धि तक पहुँच गया हो, जिसमें त्वचा स्फुटित हो गयी हो, जिसमें स्रावाधिक्य हो, जिसमें मांस का क्षय हो गया हो तथा जो एक वर्ष पुराना हो गया हो वह वातरक्त असाध्य होता है।

वातरक्त की असाध्यता का कारण[3]

वायु शाखा व सन्धियों में प्रवेशकर रक्त के मार्ग को दुष्ट कर देती है अर्थात् बन्द कर देती है और बढ़ा हुआ रक्त भी वायु के मार्गों को रोक देता है। इस प्रकार रक्त के मार्ग को वायु और वायु के मार्ग को रक्त रोक देता है। इससे वेदना उत्पन्न होती है एवं उस वेदना से रोगी में असाध्य लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।

उपद्रव[4]

वातरक्त रोग की समुचित चिकित्सा न करने पर निम्न उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं–

i. अनिद्रा
ii. अरोचक

1. i) "एकदोषानुगं साध्यं नवं, याप्यं द्विदोषजम्। त्रिदोषजमसाध्यं स्याद्यस्य च स्युरुपद्रवाः॥" (च.चि. 29/30)
   ii) "अकृत्स्नोपद्रवं याप्यं साध्यं स्यान्निरुपद्रवम्॥" (च.चि. 29/34)
2. i) "संप्रस्रावि विवर्णं च स्तब्धमर्बुदकृच्च यत्॥ वर्जयेच्चैव संकोचकरमिन्द्रियतापनम्।" (च.चि. 29/33-34)
   ii) "आजानुस्फुटितं यच्च प्रभिन्नं प्रसृतं च यत्। उपद्रवैश्च यज्जुष्टं प्राणमांसक्षयादिभिः॥ शोणितं तदसाध्यं स्याद्याप्यं संवत्सरोत्थितम्।" (च.चि. 1/49-50)
3. "रक्तमार्गं निहन्त्याशु शाखासन्धिषु मारुतः। निविश्यान्योन्यमाधार्य वेदनाभिहरिदसून्॥" (च.चि. 29/35)
4. "अस्वप्नारोचकश्वासमांसकोथशिरोग्रहाः। मूर्च्छायमदरुक्तृष्णाज्वरमोहप्रवेपकाः॥ हिक्कापाङ्गुल्यवीसर्पपाकतोदभ्रमक्लपाः। अङ्गुलीवक्रता स्फोटा दाहमर्मग्रहार्बुदाः॥" (च.चि. 29/31-32)

iii. श्वास
iv. मांस का सड़ना (मांसकोथ)
v. शिरोग्रह
vi. मूर्च्छा
vii. मद-वेदना-तृष्णा-ज्वर व मोह
viii. हिक्का, पांगुल्य, विसर्प, भ्रम व क्लम
ix. अंगुलिवक्रता-दाह-मर्मग्रह-अर्बुद आदि

चिकित्सा सूत्र

1. वातरक्त रोग में शृङ्ग, जलौका, सूची, अलाबू, प्रच्छान व शिरावेध द्वारा कुपित दोष के अनुसार या रोग-रोगी के बलानुसार रक्तमोक्षण कराना चाहिये[1]।
2. वातोल्वण वातरक्त में रक्तमोक्षण कराना निषिद्ध है। रक्तमोक्षण के पूर्व स्नेहन, मृदु विरेचन तथा वस्ति द्वारा समुचित पूर्वकर्म करना चाहिये। अभ्यंग, सेक, प्रदेह, लेप, अन्न, स्नेह इत्यादि द्वारा उपर्युक्त बहिःपरिमार्जन करायें[2]।

उत्तान वात रक्त चिकित्सा सूत्र[3]

उत्तान वात रक्त में विभिन्न लेप, अभ्यंग, सेचन तथा अवगाहन का प्रयोग करना चाहिये।

गम्भीर वात रक्त चिकित्सा सूत्र[4]

गम्भीर वात रक्त में विरेचन, आस्थापन वस्ति तथा स्नेहपान कराना चाहिये।

वातज वातरक्त चिकित्सा सूत्र[5]

वातोल्वण वातरक्त में घृतपान, तैलमर्दन या तैलपान, वस्ति, वसा या मज्जा का पान या अभ्यंग एवं इन्हीं स्नेहों से युक्त अनुवासन वस्ति, तथा गर्म उपनाह (Poultice) द्वारा चिकित्सा करें।

पित्त व रक्त प्रधान वातरक्त चिकित्सा सूत्र[6]

विरेचन, घृतपान, क्षीरपान, परिषेक, अनुवासन वस्ति, शीत व दाहशामक प्रलेप द्वारा चिकित्सा करें।

1. "तत्र मुञ्चेदसृक् शृङ्गजलौकः सूच्यलाबुभिः। प्रच्छनैर्वा सिराभिर्वा यथादोषां यथाबलम्॥" (च.चि. 29/36)
2. "विरेच्यः स्नेहयित्वाऽऽदौ स्नेहयुक्तैर्विरेचनैः। रूक्षैर्वा मृदुभिः शस्तममसंकृद्वस्तिकर्म च॥ सेकाभ्यङ्गप्रदेहान्नस्नेहाः प्रायोऽविदाहिनः। जात रक्ते प्रशस्यन्ते॥" (च.चि. 29/41-42)
3. "उत्तानं लेपनाभ्यङ्गपरिषेकावगाहनैः॥" (अ.हृ.चि. 22/38)
4. "विरेकास्थापनस्नेहपानैर्गम्भीरमाचरेत्॥" (अ.हृ.चि. 22/38)
5. "सर्पिस्तैलवसामज्जपानाभ्यञ्जनवस्तिभिः। सुखोष्णैरुपनाहैश्च वातोत्तरमुपाचरेत्॥" (च.चि. 29/44)
6. "विरेचनैर्घृतक्षीरपानै सेकैः सवस्तिभिः। शीतैर्निर्वापणैश्चापि रक्तपित्तोत्तरं जयेत्॥" (च.चि. 29/45)

कफज वात रक्त चिकित्सा सूत्र[1]

इसमें मृदुवमन, स्नेह, परिषेक, लंघन, उष्ण लेप द्वारा चिकित्सा करें।

मेदावृत्त वात चिकित्सा सूत्र[2]

जब मेद या कफ के बढ़ जाने से वायु का मार्ग रुक जाता है तो ऐसी दशा में सर्वप्रथम स्नेहन व बृहंण चिकित्सा न करें। इसमें मेद व कफ नाशक व्यायाम, शोधन, अरिष्टपान, गोमूत्रपान, विरेचन, तक्र सेवन एवं हरड़ का प्रयोग करना चाहिये।

वातरक्त रोग की चिकित्सा हेतु निर्दिष्ट उपर्युक्त चिकित्सा सूत्रों को निम्न रूप में तालिका बद्ध कर सकते हैं—

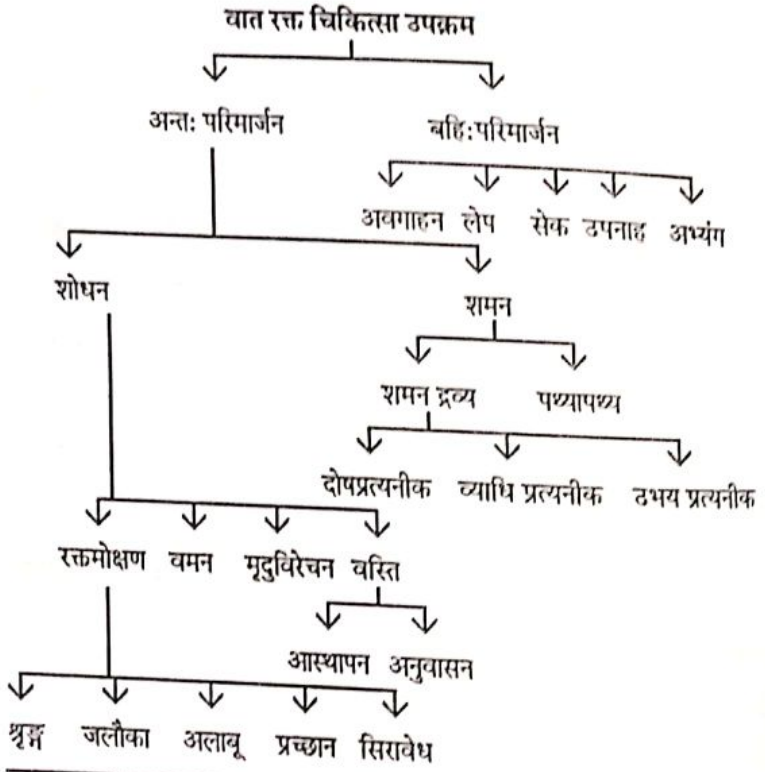

1. "वमनं मृदु नात्यर्थं स्नेहसैको विलङ्घनम्। कोष्णालेपाश्च शस्यन्ते वातरक्ते कफोत्तरे॥" (च.चि. 29/46)
2. "पित्तेमार्ग संरोधान्मेदसो वा कफस्य वा। अतिवृद्धयाऽनिले नादौ शस्त्रं स्नेहनबृंहणम्॥ व्यायामशोधनारिष्टमूत्रपानैर्विरेचनैः। तक्राभ्याप्रयोगैश्च क्षपयेत् कफमेदसी॥" (च.चि. 29/156-157)

चिकित्सा

वातरक्त रोग की शोधन एवं शमन चिकित्सा व्यवस्था निम्नानुसार की जा सकती है—

(1) शोधन चिकित्सा

(i) **स्नेहन**—घृत, तैल, वसा या मज्जा द्वारा करें।

(ii) **वमन**—मदनफल देकर मृदु वमन करायें।

(iii) **विरेचन**—एरण्डतैल व क्षीर से विरेचन करायें।

(iv) **वस्ति**—घृत मिश्रित क्षीर वस्ति देना चाहिये।

(v) **रक्तमोक्षण**—उत्तान वातरक्त में श्रृङ्ग, जलौका व अलाबू द्वारा एवं गम्भीर वातरक्त में (जो संधिगत भी हो) सिरावेध द्वारा रक्त मोक्षण करावें।

(2) शमन चिकित्सा

वातरक्त रोग की शमन चिकित्सा के लिये निम्न औषध योग युक्तिपूर्वक प्रयोग करें—

1. **रस/भस्म**
   - मात्रा : 125-250 मि.ग्रा.
   - अनुपान : मधु
   - (i) वातरक्तान्तक रस : कज्जली, लौह, अभ्रक, हरताल आदि
   - (ii) विश्वेश्वर रस : कज्जली, वत्सनाभ, तुत्थ, पलाश आदि
   - (iii) पित्तान्तक लौह : कज्जली, अभ्रक, गुडुची आदि
   - (iv) ताल भस्म : हरताल, वत्सनाभ, अंकोल आदि
   - (v) महातालेश्वर रस : हरताल, गंधक, ताम्र आदि
   - (vi) रसमाणिक्य : हरताल, कूष्माण्ड स्वरस आदि
   - (vii) शिलाजतु : शु.शिलाजतु, गुडुची क्वाथ आदि
2. **वटी/गुग्गुलु**
   - मात्रा : 250-500 मि.ग्रा.
   - अनुपान : गुडुची क्वाथ, उष्ण जल
   - (i) आरोग्यवर्धिनी वटी : ताम्र, निम्ब, कुटकी आदि
   - (ii) कैशोर गुग्गुलु : त्रिफला, गुडुची, गुग्गुलु आदि
   - (iii) अमृता गुग्गुलु : गिलोय, त्रिफला, पुनर्नवा, गुग्गुलु आदि
   - (iv) पुनर्नवा गुग्गुलु : पुनर्नवा, एरण्ड, गुग्गुलु आदि
   - (v) रसाभ्रगुग्गुलु : कज्जली, लौह, अभ्रक, गुग्गुलु आदि

3. **चूर्ण**

मात्रा	: 3-6 ग्राम
अनुपान	: उष्ण जल
(i) मंजिष्ठादि चूर्ण	: मंजीठ, हरड़, निशोथ आदि
(ii) हरीतकी चूर्ण	: हरीतकी
(iii) सुरंजान चूर्ण	: सुरंजान
(iv) निम्बादि चूर्ण	: निम्ब, गुडुची, हरीतकी, बाकुची आदि
(v) मुण्डीतिका चूर्ण	: गोरखमुण्डी, घृत, मधु, गुडुची आदि
(vi) चोपचीन्यादि चूर्ण	: चोपचीनी

4. **आसव/अरिष्ट**

मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: जल
(i) सारिवाद्यासव	: अनन्तमूल, नागरमोथा, पाठा आदि
(ii) मंजिष्ठाद्यरिष्ट	: मंजिष्ठा
(iii) अमृतारिष्ट	: गुडुची, दशमूल, त्रिकटु आदि
(iv) रक्त शोधकारिष्ट	: अनन्तमूल, कांचनार, मंजिष्ठा आदि

5. **कषाय/क्वाथ**

मात्रा	: 20-30 मि.ली.
अनुपान	: मधु, जल
(i) दशमूल क्वाथ	: दशमूल आदि
(ii) लघुमंजिष्ठादि क्वाथ	: मंजिष्ठा, त्रिफला, गुडुची आदि
(iii) बृहत् मंजिष्ठादि क्वाथ	: मंजिष्ठा, गुडुची, निम्ब आदि
(iv) नवकार्षिक कषाय	: त्रिफला, निम्ब, मंजिष्ठा, कुटकी आदि
(v) अमृतादि क्वाथ	: गुडुची, शुंठी, धान्यक आदि
(vi) वासादि क्वाथ	: वासा, गुडुची, एरण्ड आदि

6. **घृत**

मात्रा	: 10-20 मि.ली.
अनुपान	: क्षीर (दुग्ध)
(i) बलाघृत	: बला, अतिबला, शतावरी आदि
(ii) पञ्चक घृत	: त्रायमाणा, तामलकी, शतावरी आदि
(iii) जीवनीय घृत	: दशमूल, पुनर्नवा, एरण्ड आदि
(iv) गुडुची घृत	: गिलोय आदि
(v) शतावरी घृत	: शतावरी आदि

7. **तैल**

मात्रा	पान, अभ्यंग, बस्ति, नस्य अनुसार
अनुपान	
(i) मधुपर्ण्यादि तैल	: मुलैठी, शतावरी, मंजीठ आदि
(ii) सुकुमारक तैल	: मुलैठी, मुनक्का, खर्जूर आदि
(iii) अमृताद्य तैल	: गुडुची, मुलैठी, लघुपंचमूल आदि
(iv) खड्गाकपंचक तैल	: पद्माकाष्ठ, खश, मुलैठी आदि
(v) पिण्ड तैल	: मोम, मंजीठ, राल, अनन्तमूल आदि (बाह्य प्रयोग)
(vi) गुडुची तैल	: गुडुची, मुनक्का, गम्भारी आदि
(vii) महापिण्ड तैल	: अनन्तमूल, राल, मुलैठी आदि

8. **बहि:परिमार्जन औषध योग (For External Use)**

i. **लेप**—कृष्ण तिल, मधूच्छिष्ट, दशाङ्ग लेप, तगरादि लेप, प्रपौण्डरीकादि लेप या शतधौत घृत संधियों पर लगावें।

ii. **सेक**—निम्ब पत्र या गुडुची पत्र से अवगाहन करायें।

iii. **उपनाह**—वातघ्न स्निग्ध उपनाह, तिलपिण्ड उपनाह का प्रयोग करायें।

9. **एकल औषध प्रयोग**

अमृता	भल्लातक
सारिवा	चोपचीनी
सुरंजान	बला आदि
गुग्गुलु	

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. संशोधन चिकित्सा (यथोचित)
3. बहि:परिमार्जन चिकित्सा (यथोचित)
4. संशमन चिकित्सा

(i) प्रात: सायम्

रस माणिक्य	: 125 मि.ग्रा.
गुडुची सत्व	: 500 मि.ग्रा.
आरोग्यवर्धिनी वटी	: 250 मि.ग्रा.
चोपचीन्यादि चूर्ण	: 2 ग्राम
मधु से	1×2 मात्रा

(ii) कैशोर गुग्गुलु : 2 वटी × तीन मात्रा
अमृता गुग्गुलु : 2 वटी × तीन मात्रा
(iii) भोजनोत्तर
मंजिष्ठाद्यरिष्ट : 20 मि.ली.
समभाग जल से 1×2 मात्रा
(iv) अभ्यंगार्थ : पिण्डतैल स्थानिक प्रयोगार्थ
(v) शतावरी घृत : 20 मि.ली.
दूध से 1×2 मात्रा
(vi) पथ्यसेवन

पथ्यापथ्य

वातरक्त रोगी को निम्न पथ्य-अपथ्य आहार-विहार का प्रयोग कराना हितकर होता है-

पथ्य[1]

आहार	विहार
पुराण यव (जौ), गोधूम, शालि चावल, विष्किर, प्रतुद्र मांसरस, अरहर, बथुआ, चना, पेठा, मूंग, घृत, मसूर, परवल, मोठ, मकोय, शतावर आदि।	अभ्यंग, परिषेचन आदि।

अपथ्य[2]

आहार	विहार
कटु रस, उष्ण-गुरु पदार्थ, नमक, मद्य, अम्ल, पिण्याक, कुल्थी, कांजी, मटर, अभिष्यन्दी, क्षार, दधि, मूली आदि।	दिवाशयन, आतप सेवन, व्यायाम, मैथुन आदि।

1. "पुराणा यवगोधूमनीवाराः शालिषष्टिकाः। भोजनार्थं रसार्थं वा विष्किरप्रतुदा हिताः॥ आढक्यश्चणका मुद्गा मसूराः समकुष्टकाः। यूषार्थं बहुसर्पिष्काः प्रशस्ता वातशोणिते॥" (च.चि. 29/50-51)
2. "दिवास्वप्नं ससंतापं व्यायामं मैथुनं तथा। कटूष्णं गुर्वभिष्यन्दि लवणाम्लं च वर्जयेत्॥" (च.चि. 29/49)

Latest Developments

GOUT (HYPERURICAEMIA)

Gout is a hereditary metabolic disorder.

Gout is not a single disease, the term is used to describe a number of disorders in which crystals of monosodium urate monohydrate derived from hyper uricaemic body fluids give rise to inflammatory arthritis, tenosynovitis, bursitis, cellulitis, tophaceous deposits, urolithiasis and renal disease. It is more prevalent in upper social classes and alcohol drinkers. It affects men after puberty and women after the menopause. Several different metabolic abnormalities may cause the hyperuricaemia.

Clinical Features

i. Acute arthritis affects the big toe (MTR) in 75% of attacks. Ocassionally, ankle, other toes, knees or fingers are affected.
ii. Joint is extensively painful, red, hot, swollen and very tender.
iii. When an attack of acute gouty arthritis develops, it usually begins at night with moderate pain that increases in intensity to the point where no body position provides relief.
iv. Tophi may occur on the outer ears, hands and feet.
v. Hypertension, obesity, low grade fever, renal uric acid stone may occur.

Investigations

(i) **Radidogical**

X-ray findings have characteristic "Punched-out" radiolucent areas around joint in which there are tophaceous deposits.

(ii) **Laboratory**

i. Serum uric acid is greater than 6mg%
ii. ESR is raised
iii. Leucocytosis in acute phase
iv. Synovial fluid and tophi contain needle-shaped crystals

Management : Principles

(i) **In Acute Attacks**—Colchicine, Indomethacin & other Non Steroidal Anti Inflammatory drugs. (e.g. Naproxen).
(ii) **Long Term Therapy**
(a) Urate Lowering drugs (Uricosurics) such as Allopurinol, Probenacid may be given.
(b) The diet should be well balanced and devoid of purine rich (Protein) foods.

अध्याय-64

धमनी प्रतिचय
(ARTERIOSCLEROSIS)

व्याधि परिचय

आचार्य चरक ने कफ दोष के नानात्मज विकारों में 'धमनी प्रतिचय' रोग का नाम उल्लेख किया है[1]। जब शरीर में पायी जाने वाली धमनियों (Arteries) की दीवारों में कफ धातु (अपाचित मेद) का संचय होता है तो उससे उत्पन्न होने वाले विकार धमनी प्रतिचय (Arteriosclerosis) कहलाते हैं। यहां पर कफ धातु या अपाचित मेद से कोलेस्टेरोल (Cholesterol) का ग्रहण किया जाना उचित है। इस धमनी प्रतिचय से धमनी गत व हृदय गत अनेक विकार उत्पन्न होते हैं। आयुर्वेद में वर्णित समस्त संतर्पण जन्य रोग इस श्रेणी में आते हैं यथा मधुमेह, अतिस्थौल्य आदि।

निदान

धमनीप्रतिचय एक कफज रोग है। अतः इसके निदानों को हम निम्न वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

(1) आहारज निदान

(i) मधुर, अम्ल, लवण, स्निग्ध, गुरु व पिच्छिल अन्न का अधिक सेवन
(ii) स्नेह, क्षीर, दधि, मिष्ठान्न, अतिस्निग्ध आदि स्नेहवर्गीय द्रव्यों का अतिसेवन
(iii) आनूप मांस का अति सेवन
(iv) जलीय द्रव्यों का अतिसेवन
(v) अत्यशन, अध्यशन, विषमासन में लिप्त रहना

(2) विहारज निदान

(i) दिवा शयन (ii) व्यायाम नहीं करना
(iii) सुख पूर्वक शय्यासन करना (iv) आलस्य

1. "श्लेष्मविकारांश्च विंशतिमत ऊर्ध्वं व्याख्यास्याम; तद्यथा-तृप्तिश्च ..... धमनीप्रतिचयश्च, ... व्याख्याता भवन्ति॥" (च.सू. 20/17)

(3) मानसिक कारण

(i) तनाव, क्रोध

(4) अन्य कारण

(i) मध्यावस्था (Age above 40 years)
(ii) पारिवारिक इतिवृत्त (Hereditary)

सम्प्राप्ति

उपर्युक्त वर्णित निदानों के सेवन से रस-रक्त धातु का अतिपोषण होने लगता है। इन अति पोषित रस-रक्त धातुओं को व्यानवायु एक साथ सम्पूर्ण शरीर में पहुंचाती है। यह रस-रक्त धातुएं जिसमें अपाचित मेद (Low Density-Lipoprotein-LDL) भी अधिक मात्रा में होता हैं सर्वप्रथम यकृत में संग्रहित होते हैं, तत्पश्चात मांस धातु (Muscles) में संचित होकर अन्त में धमनियों में संचित होने लगते हैं। इससे धमनियों का अन्तः विवर (Inner Space) सिकुड़कर कम होने लगता है। इस तरह धमनियों का चिरकारी संकोच हो जाता है और उनकी स्थिति स्थापकता (Elasticity) पहले जैसी नहीं रह पाती है। धीरे-धीरे संग पूर्ण रूप से होकर रस-रक्त धातुओं का विमार्ग गमन होने लगता है एवं धमनियों में रस-रक्त गत दबाब बढ़कर उच्च रक्तचाप सदृश व्याधि उत्पन्न होती है। इसलिये विभिन्न आचार्यों ने 'धमनीप्रतिचय' को 'धमन्युपलेप', 'अतिपूरण' संज्ञा भी दी है।

सम्प्राप्ति घटक

दोष	:	कफ प्रधान वात दोष
दूष्य	:	रस, रक्त, मेद, सर्वशरीर
स्रोतस्	:	रसवह स्रोतस्, प्राणवह स्रोतस्
स्रोतो दुष्टि लक्षण	:	संग, तत्पश्चात् विमार्ग गमन
अधिष्ठान	:	सर्वशरीर गत धमनियां
अग्नि	:	धात्वग्निमांद्य

लक्षण

धमनी प्रतिचय की अवस्था में शरीर में निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं—

(i) शरीर में भारीपन
(ii) लालास्राव
(iii) अरुचि
(iv) अग्निमांद्य
(v) मुखमाधुर्य

(vi) क्लम
(vii) श्रमजन्य श्वास
(viii) बिवन्ध
(ix) मूर्च्छा
(x) शिरोरोग
(xi) हृदय रोग
(xii) वृक्क रोग
(xiii) उच्च रक्तचाप आदि

चिकित्सा सिद्धान्त

(i) निदान परिवर्जन यथा मधुर, अम्ल, लवण, स्निग्ध, पौष्टिक कफ-मेद वर्धक भोजय पदार्थों का त्याग
(ii) आचार रसायन का नियमित सेवन
(iii) कफ मेद नाशक उपचार करें
(iv) उचित मात्रा में व्यायाम, प्राणायाम
(v) लेखनीय, दीपनीय व हृद्य महाकषाय की औषधियों को प्रयुक्त करना चाहिये।

चिकित्सा

1. **रस/भस्म/पिष्टी**

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, उष्ण जल
(i) रसराज रस	: रससिन्दूर, अभ्रक, स्वर्ण आदि
(ii) मेदोहरविडंगादि लैह	: विडंग, त्रिफला, लौह, आदि
(iii) शिलाजत्वादि लौह	: शिलाजीत, त्रिकटु, स्वर्णमाक्षिक आदि
(iv) हृदयार्णव रस	: कज्जली, ताम्र भस्म, मकोय आदि
(v) प्रवाल पिष्टी	: प्रवाल, कुमारी आदि
(vi) अकीक पिष्टी	: अकीक, गुलाबजल आदि
(vii) नागार्जुनाभ्र रस	: वज्राभ्रक, अर्जुन आदि

2. **वटी/गुग्गुलु**

मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, उष्ण जल
(i) आरोग्यवर्धिनी वटी	: कुटकी, निम्ब, ताम्र आदि
(ii) नवक गुग्गुलु	: त्रिफला, त्रिकटु, त्रिमद, गुग्गुलु आदि
(iii) अमृताद्य गुग्गुलु	: अमृता, एला, विडंग आदि

(iv) प्रभाकर वटी	: स्वर्णमाक्षिक, लौह, अभ्रक, शिलाजतु आदि

3. **चूर्ण**

मात्रा	: 3-6 ग्राम
अनुपान	: उष्ण जल
(i) पिप्पल्यादि चूर्ण	: पिप्पली, वचा, यवक्षार आदि
(ii) हरीत्क्यादि चूर्ण	: हरीतकी, वचा, कर्चूर, पुष्कर मूल आदि
(iii) ककुभादि चूर्ण	: अर्जुन, वचा, रास्ना आदि
(iv) पाठाद्य चूर्ण	: पाठा, वचा, यवक्षार आदि
(v) विडंगादि चूर्ण	: विडंग, यवक्षार, लौह भस्म आदि

4. **क्वाथ**

मात्रा	: 20-30 मि.ली.
अनुपान	: उष्ण जल
(i) दशमूल क्वाथ	: दशमूल
(ii) अर्जुन क्वाथ	: अर्जुन

5. **आसव/अरिष्ट**

मात्रा	: 20-30 मि.ली.
अनुपान	: जल
(i) लोहारिष्ट	: शालसरादिगण, पिप्पल्यादि गण, लौह आदि
(ii) पार्थाद्यरिष्ट	: अर्जुन, मुनक्का, मधूक पुष्प आदि

पथ्यापथ्य

पथ्य

आहार	विहार
मूंग, जौ, कोद्रव, मधु, परवल, अनार, सैंधव नमक, तक्र, शुण्ठी, आर्द्रक, लशुन, आदि। आमलकी, हरड़, उष्ण जल आदि।	व्यायाम, श्रम, उबटन, लंघन, उपवास

अपथ्य

आहार	विहार
अध्यशन, विरुद्ध अन्न, मधुर, लवण, अम्ल रस, पिष्टान्न, मिष्ठान्न अति सेवन, गुड़, खाण्ड, शर्करा, दधि	वेगधारण, आलस, सुखशय्यासन, अभ्यंग, दिवाशयन आदि।

अति सेवन आदि।

Latest Developments

ARTERIOSCLEROSIS

A disease of the arterial vessels, marked by thickening, hardening and loss of elasticity in the arterial walls. This results in altered functions of tissues and organs. Changes may occur in the intima, media or both. Atherosclerosis is a most common type of arteriosclerosis involving Cholesterol deposits and Triglycerides.

Etiology

The cause is unknown. Risk factors include age, familial predisposition, sedentary lifestyle, hypertension, increased blood lipids (Particular'y Cholesterol & Triglycerides), obesity, cigarette smoking, Diabetes Mellitus, inability to cope with stress and male sex.

Symptoms

(i) Depending on the organ-system involved.
(ii) Intermittent claudication.
(iii) Headache.
(iv) Dizziness.
(v) Memory defects.
(vi) Changes in skin temperature and intensity of life.

Management : Principles

(i) Avoidance of causes.
(ii) Regular exercise.
(iii) Diet low in saturated fats.
(iv) Stress management.
(v) Therapy of treatable disease such as obesity, Diabetes mellitus, Hypertension etc.
(vi) Yoga, Pranayam, Meditation etc.

अध्याय-65

तरल-वैद्युत-अम्ल-क्षार असन्तुलन जन्य विकार
(WATER-ELECTROLYTE'S IMBALANCE)

व्याधि परिचय

मानव शरीर का 70% भाग जल से निर्मित है। अस्थि जैसी कठोर धातु में भी 50% जल है। शारीरिक धातुओं के निर्माण के लिये एवं नित्य-प्रतिदिन होने वाली क्षतिपूर्ति (Wear and tear-phenomena) के लिये सन्तुलित आहार (Balanced-diet) के नियमित सेवन की आवश्यकता रहती है। इस सन्तुलित आहार में शाक तत्व (Carbose), मांस तत्व (Proteins), वसा तत्व (Fats), खनिज लवण (Minerals and Salts), जल (Water) एवं जीवतिक्त (Vitamins) आदि तत्व समाहित होते हैं[1]। इन सभी तत्वों से धातु निर्माण (Anabolism) व शक्ति निर्माण (Catabolism) होता है। आहार के जिस अंश से शरीर में शक्ति का निर्माण होता है, उसका एक प्रकार से नाश हो जाता है और जो अंश बच जाता है, वह मल-मूत्र के रूप में शरीर से बाहर निकल जाता है। जो आहार द्रव्य प्रकृति से लघु (Light) होते हैं, उनमें वायु एवं अग्नि महाभूत की प्रधानता होती है एवं जो द्रव्य गुरु (Heavy) होते हैं उसमें पृथ्वी व जल महाभूत की प्रधानता होती है। अत: मनुष्य को ऐसे आहार-द्रव्यों का नित्य-प्रतिदिन सेवन करना चाहिये जिससे स्वास्थ्य का अनुवर्तन (Maintanance) होता रहे अर्थात् स्वास्थ्य उत्तम बना रहे और जो रोग उत्पन्न न हुए हों (अनागतबाधा), उनकी उत्पत्ति न हो (As Prophylactic Medicine)[2]।

शरीर की क्षति की पूर्ति मुख्यत: मांसतत्व (Proteins), खनिज (Minerals), लवण (Salts) तथा जल के द्वारा होती है। कुछ अंशों में खनिज लवण सामान्यत: पेशी के संकोचन एवं अस्थि-दन्त निर्माण के लिये आवश्यक होते हैं। मानव शरीर में 5% खनिज लवण (Mineral Salts) होते हैं। ये खनिज लवण शरीर के विभिन्न स्त्रावों, एन्जाइमस व रसों में घुले रहते हैं एवं उनकी अम्लीयता व क्षारीयता को स्थिर रखते हैं।

---

1. "षष्टिकाञ्छालिमुद्गांश्च सैन्धवामलके यवान्। आन्तरीक्षं पय: सर्पिर्जाङ्गलं मधु चाभ्यसेत्॥" (च.सू. 5/12)
2. "तच्च नित्यं प्रयुञ्जीत स्वास्थ्यं येनानुवर्तते। अजातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरं च यत्॥" (च.सू. 5/13)

तरल-वैद्युत असन्तुलन जन्य विकार एवं चिकित्सा
(Water-Electrolytes Imbalance)

जल शरीर के लिये पोषण धातु है। यह शरीर के 70% भाग में उपस्थित रहता है। शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की क्रियाशीलता एवं अनेक प्रकार की जीव रासायनिक (Biochemical) क्रियाओं के कारण इसका क्षय होता रहता है। अत: जल का अल्प-मात्रा में बार-बार पीना आवश्यक है। शास्त्रों में कहा गया है कि जो मनुष्य प्रात:काल जलपान करता है, मध्याह्न में भोजन पश्चात् तक्र पीता है एवं रात्रि को भोजन पश्चात् दूध पीता है उसे चिकित्सक की आवश्यकता नहीं पड़ती है अर्थात् वह स्वस्थ एवं सुखी रहता है। जल शरीर में उत्पन्न विभिन्न अनावश्यक त्याज्य विषैले पदार्थों को घोलकर (As a solvent) मूत्र व स्वेद के रूप में शरीर से बाहर उत्सर्जित करता है। पुरीष (मल) के साथ भी जल का निष्कासन होता है। आहार में जल की मात्रा कम होने से आहार रस का आन्त्रकला (Intestinal mucous membrane) द्वारा शोषण ठीक तरह से नहीं हो पाता है। अत: शरीरकोशाओं को धातुपाक (Metabolism) हेतु समुचित द्रव्यों की उपलब्धि व मलों के यथोचित प्रमाण में उत्सर्जन (Excretion) हेतु जलापूर्ति की आवश्यकता निरन्तर रहती है। रक्त व लसीका का अधिकांश भाग जल ही है। अत: जलाल्पता व जलाधिक्यता के कारण, लक्षण व चिकित्सा को जानना आवश्यक है ,जो निम्नानुसार हैं—

जलाल्पता
(Dehydration)

कारण

मनुष्य शरीर में जलाल्पता (Dehydration) निम्न मुख्य कारणों से उत्पन्न हो सकती है—

i. उदकमेह या मेह रोग (Diabetes insipidus)
ii. अंशुघात (Heat stroke)
iii. वृक्क विकार (Glomerulonephritis)
iv. मुख मार्ग में निगलने में अवरोध (Dysphagia)
v. भोजन नली का अवरोध (Oesophagus Constriction)
vi. मनोऽवसाद (Depression)
vii. सन्यास (Coma)
viii. वृद्धावस्था (Old age)
ix. अतिसार (Diarrhoea)

x. विसूचिका (Cholera)
xi. अत्यधिक रक्तस्राव (Excessive Bleeding)
xii. मांस पदार्थ, प्रोटीन एवं लवण का अत्यधिक सेवन आदि (Excess Protein and salt intake etc)
xiii. छर्दि (Vomiting)
xiv. दग्ध (Burn & Scald)

लक्षण

यदि जल या द्रव-तरल पदार्थों का अल्प मात्रा में सेवन किया जाय, ग्रीष्म ऋतु में स्वेद (Sweat) अतिमात्रा में उत्सर्जित होने लगे तो मूत्र में जल की मात्रा घटने से मूत्र का घनत्व बढ़ जाता है जिससे मूत्रगत मलभूत लवण (Salts) रूक्षता को प्राप्त होकर अश्मरी व शर्करा (Calculus & Gravel) रूप में परिणित हो सकते हैं। इसी प्रकार पित्ताशय में पित्त रूक्षता व घनता को प्राप्त होकर पित्ताश्मरी (Gall-Stone) को प्राप्त हो सकता है। महास्रोतस् (Gastrointestinal tract) में समुचित मात्रा में जल नहीं होने पर मल रूक्षता, शुष्कता व घनता को प्राप्त होकर ग्रथित रूप में मलावरोध (विबन्ध) आध्मान, आनाह, अर्श, उदावर्त्त आदि रोगों को उत्पन्न करता है। कभी-कभी जल की अत्यधिक कमी होने से मल अश्मरी रूप में परिवर्त्तित होकर मलाश्मरी (Fecolith) बनाता है। शरीर में जल की न्यूनता (Dehydration) होने से मल-मूत्र प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है। विसूचिका (Cholera) रोग में मूत्राघात लक्षण पाया जाता है। शरीर में रस-रक्त की कमी होने से धमनी शैथिल्य होकर निम्न रक्तचाप (Hypotension) की उत्पत्ति हो जाती है। शरीर में जलाल्पता होने पर निम्न लक्षण व चिन्ह (Signs/ Symptoms) उत्पन्न हो सकते हैं—

i. जिह्वा शुष्कता (Dry tongue)
ii. त्वचा पर झुर्रियां पड़ना (Wrinkling of Skin)
iii. त्वचा की तन्यता कम होना (Loss of skin elasticity)
iv. त्वक पीतता व शीतता (Yellow & Cold skin)
v. तृष्णा (Excessive thirst)
vi. दौर्बल्य (Weakness)
vii. हृदद्रव (Palpitation)
viii. मूत्राघात (Decreased urinary output)
ix. स्वल्प चेष्टा (Reduced activities)
x. मूत्र की विशिष्ट गुरुता बढ़ना (Increased-Specific gravity of Urine)
xi. मानसिक अशान्ति (Mental Confusion) आदि

चिकित्सा

शरीर में जल अल्पता उत्पन्न होने पर निम्न उपचार लाभकारी रहते हैं—

(i) मुखमार्ग से बार-बार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में जल पान
(ii) सिद्धोदक, षडंगपानीय का सेवन
(iii) विभिन्न यूष, पेया, मण्ड, विलेपी इत्यादि का सेवन
(iv) शर्करोदक व लवणोदक का सेवन
(v) सद्य: सतर्पक द्राक्षा, खर्जूर, परुषक (फालसा) आदि फलों से तर्पण चिकित्सा
(vi) गुदमार्ग से सद्य: संतर्पक वस्ति प्रयोग
(vii) शिरामार्ग से शर्करामिश्रित जलदान (Intravenous solutes fluid therapy e.g. Dextrose 5%, 10%.)
(viii) वैद्युत अम्ल-क्षार (Electrolytes) का सन्तुलन बनाए रखना
(ix) निदान परिवर्जनम् (Avoidance of Cause)
(x) कारण रोग की चिकित्सा व्यवस्था करना यथा अतिसार, विसूचिका, छर्दि आदि रोगों की चिकित्सा करना
(xi) ओ-आर-एस (Oral Rehydration Solution) घोल पिलाना
(xii) नाड़ी गति एवं रक्तचाप को सामान्य अवस्था में लाकर समअनुपात में बनाए रखना (To maintain normal Pulse rate & Blood pressure)

जलाधिक्यता
(Excess Water or Water Intoxication)

जब विभिन्न कारणों से शरीर में जल की मात्रा अत्यधिक बढ़ जाती है तो उसे 'जलाधिक्यता' या 'जलविषाक्तता' कहते हैं। इसके निम्न कारण हो सकते हैं—

कारण

(i) तीव्र वृक्काघात (Acute Renal Failure)
(ii) हार्मोन जन्य विकृतियाँ यथा
  (अ) Glucocorticoid deficiency e.g. Addison's disease
  (ब) Diminished Antidiuretic Hormone (ADH) Secretion
  (स) Myxoedema
(iii) जीर्ण दारुण वृक्काघात (Chronic severe-Renal Failure)
(iv) जल एवं बीयर का अत्यधिक पान (Compulsive Water and Beer drinking)
(v) अव्यवस्थित शिरागत जल प्रतिपूरण (Inapproriate Intravenous fluid therapy)

(vi) शोथ (Oedema)
(vii) मूत्राल्पता व मूत्राघात (Oliguria & Anuria)
(viii) औषध जन्य (Drug Induced-Carbamazepine etc.)

लक्षण

(i) उत्क्लेश (Nausea)
(ii) छर्दि (Vomiting)
(iii) शिरःशूल (Headache)
(iv) आलस्य (Drowsiness)
(v) प्रलाप (Delirium)
(vi) सन्यास (Coma)
(vii) परिसरणीय शोथ (Peripheral edema)
(viii) मृत्यु (Death)

चिकित्सा

शरीर में जलाधिक्य (Over-hydration) होने की स्थिति में निम्न सिद्धान्तानुसार चिकित्सा करना लाभकारी रहता है—

(i) निदान परिवर्जन
(ii) लाक्षणिक चिकित्सा व्यवस्था
(iii) मूत्र विरेचन
(iv) मल विरेचन
(v) स्वेदवर्धक या स्वेदल चिकित्सा
(vi) जल एवं नमक के घोल का अन्तःशिरीय सूचीवेध (Intravenous Hypertonic Saline Solution)

Body Fluids

Body fluids are present in human body in following two forms.

I. Extracellular (Interstitial) Fluid

Tissue fluid or fluid occupying spaces between tissue cells or outside the cells is called as "Extra cellular (Interstitial) Fluid". It contains fluid derived from plasma in the adjacent capillaries. It is made up of blood, lymph, cerebrospinal fluid and tissue fluid etc. It contains mainly Sodium (Na^+). 20% of total body fluid is extracellular. It is diminished in Diarrhoea, Vomiting and Cholera etc. like conditions.

II. **Intracellular Fluid**

It is the fluid contained within cells and constitues about 50% of total body weight. 80% of total body fluid is intracellular. It contains mainly Potassium (K^+). It is also called protoplasm of cell. It is diminished in conditions like ascites, oedema, hydrothorax and pericardial effusion etc. Muscles weakness is a symptom of Potassium (K^+) loss.

वैद्युत असन्तुलन
(Electrolytes imbalance)

परिचय

मुख्य रूप से निम्न तत्वों द्वारा शरीर का निर्माण होता है—

i. कार्बन (C)
ii. हाइड्रोजन (H)
iii. आक्सीजन (O_2)
iv. नाइट्रोजन (N_2)
v. फास्फोरस (P)
vi. सोडियम (Na)
vii. पोटेशियम (K)
viii. क्लोरीन (Cl)
ix. कैल्शियम (Ca)
x. लौह (Fe)
xi. मैग्नेशियम (Mg)
xii. गन्धक (S)

उपर्युक्त तत्व शरीर में विभिन्न यौगिक (Compounds) के रूप में उपस्थित रहते हैं। इन यौगिकों को निम्न दो भागों में बांटा जा सकता है—

I. **सेन्द्रिय यौगिक**

II. **निरिन्द्रिय यौगिक**

I. **सेन्द्रिय यौगिक**

वे यौगिक जिनमें कार्बन तत्व होता है उन्हें सेन्द्रिय यौगिक कहा जाता है। इनमें प्रधान रूप से कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, वसा, जीवतिक्त (Vitamins) व एन्जाइम्स का समावेश किया जाता है।

II. **निरिन्द्रिय यौगिक**

मानव शरीर में लगभग 5% खनिज लवण होते हैं। ये खनिज लवण धातु निर्माण (Tissue Formation) की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण योगदान निभाते हैं। शरीर में इनका आक्सीकरण नहीं होता है, अत: तापोत्पत्ति (उर्जा उत्पादन) इनके द्वारा नहीं होती है। ये खनिज लवण प्राय: आहार में सेन्द्रिय संयोग के रूप में मिलते हैं, जैसे कैल्शियम दुग्ध से, लौह व गन्धक मांस तत्व से।

ये खनिज लवण शरीर के विभिन्न स्रावों और रसों में घुले रहते हैं एवं उनकी अम्लीयता व क्षारीयता (Balanced pH) को स्थिर बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

विभिन्न वैद्युत असन्तुलन जन्य विकार
(Electrolytes Imbalance)

वैद्युत असन्तुलन जन्य कुछ प्रमुख विकारों का वर्णन संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

I. सोडियम ह्रास
(HYPONATRAEMIA)

सामान्य मात्रा (प्लाजमा/सीरम)=137–144m mol/Litre

सोडियम (Na) वहि: कोशिकीय द्रव (Extracellular Fluid) का मुख्य घटक तत्व है। सोडियम की क्षति होने पर शरीर के जल की मात्रा उसके (Na के) साथ सन्तुलित रहने की मात्रा तक घट जाती है। सोडियम ह्रास के निम्न कारण होते हैं—

कारण

(i) अत्यधिक स्वेद स्राव (Excessive Sweating)
(ii) छर्दि (Persistent vomiting)
(iii) अतिसार (Diarrhoea)
(iv) ग्रहणी (Dysentery)
(v) विसूचिका (Cholera)
(vi) जलाल्पता (Dehydration)
(vii) मधुमेह (Diabetes Mellitus)
(viii) वृक्क रोग (Chronic Pyelonephritis, Addison's disease)

लक्षण

शरीर से सोडियम आयन ह्रास होने की स्थिति में निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं—

(i) दुर्बलता (Weakness)
(ii) भारक्षय (Loss of weight)

(iii) तृष्णा (Excessive Thirst)
(iv) त्वक्शुष्कता (Dry and inelastic skin)
(v) जिह्वा शुष्कता (Dry tongue)
(vi) मूत्राल्पता (Oliguria)
(vii) मूत्ररंग परिवर्तन (Dark Urine)
(viii) निम्न रक्त चाप (Hypotension)
(ix) पिण्डिकोद्वेष्टन (Muscles Cramps in legs)
(x) शीतहस्तपाद (Cold Hand & feet)
(xi) पारिसरणीय श्यावता (Peripheral cyanosis)
(xii) मूत्रविषमयता (Uraemia)
(xiii) अन्तःप्रविष्ठ अक्षिगोलक (Shrunken Eyes)
(xiv) निम्न नेत्र दाब (Low Intraocular pressure)
(xv) विभिन्न नाड़ी जन्य रोग (Nerve disroders)
(xvi) तीव्र नाड़ी गति (Tachypnoea & weak pulse)

चिकित्सा

शरीर के अन्तर्गत रक्त में सोडियम की मात्रा में कमी (Serum Sodium Depletion) होने पर निम्न चिकित्सा सिद्धान्तों का पालन करें—
(i) निदान परिवर्जन
(ii) लाक्षणिक चिकित्सा व्यवस्था
(iii) मुख मार्ग से लवण युक्त जल (Saline water) प्रयोग
(iv) अन्तः शिरीय आइसोटोनिक लवण जल घोल प्रयोग (Administration of Isotonic Saline Sodium by Intravenous drip method)।

II. सोडियम आधिक्य
(HYPERNATRAEMIA)

सामान्यतः शारीरिक कोशाओं में जलाधिक्यता (Water Retention) के साथ ही कोशाओं में सोडियम का सामान्य से अधिक मात्रा में संचय होता है। इसके प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं—

कारण

(i) हृदयाघात (Heart Failure)
(ii) शिरावरोध (Venous obstruction due to Neoplasm, Thrombosis)
(iii) शरीर में प्रोटीन की कमी (Protein Malnutrition)
(iv) शरीर में सोडियम अवशोषण की मात्रा में कभी (Malabsorption of Sodium)
(v) यकृत् विकृति (Cirrhosis if liver)

(vi) महास्रोतस् से प्रोटीन का क्षरण (Protein losing enteropathy)
(vii) वृक्करोग जन्य शोथ (Nephrotic-Syndrome)
(viii) शरीर में लसीका संवहन में विकार (Lymphatic obstruction due to Neoplasm, Filaria)
(ix) जीर्ण वृक्क आघात (Chronic Renal Failure)
(x) मूत्राल्पता या मूत्राघात (Oliguria or Anuria)
(xi) रक्तगत प्रोटीन/एल्बुमिन की मात्रा में कमी (Hypoproteinaemia/ Hypoalbuminaemia)

लक्षण

शारीरिक कोशाओं में सीरम सोडियम की मात्रा में कमी के कारण शरीर में निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं—
(i) चेतना में कमी (Decreased level of consciousness)
(ii) मूत्र निष्कासन में कमी (Decreased urinary output)
(iii) परिसरणीय फुफ्फुसगत शोथ (Peripheral Pulmonary-Oedema)
(iv) फुफ्फुसावरण जलसंचय (Pleural effusion)
(v) जलोदर (Ascites)
(vi) उच्चरक्तचाप (Hypertension)
(vii) मूत्राल्पता (Oliguria)
(viii) मांसपेशीगत स्फुरण अथवा घात (Muscle twitching with muscles paralysis)
(ix) हृदयपेशियों की कार्य-अक्षमता (Decreased cardiac output)

चिकित्सा

रक्तगत (सीरम) सोडियम अधिकता की स्थिति में निम्न चिकित्सा व्यवस्था लाभकारी रहती है—
(i) निदान परिवर्जन
(ii) लाक्षणिक चिकित्सा व्यवस्था
(iii) मूत्रल औषध प्रयोग (Diuretics)
(iv) शरीर में प्लाजमा प्रोटीन का शिरा मार्ग से प्रवेश (Plasma Protein infusion)
(v) शिरामार्ग से शरीर में जलीयांश आपूर्ति (Fluid replacement e.g. Intravenous Dextrose, Ringer Lactace Solution)
(vi) रक्तगत विषाक्त पदार्थों को शरीर से बाहर निकालना (Haemo or Peritoneal Dialysis)
(vii) भोजन में अल्प सोडियम देना (Dietary restriction of Sodium)

III. पोटेशियम ह्रास
(HYPOKALAEMIA)

सामान्य मात्रा (प्लाजमा/सीरम)=3.5–4.8 m mol/Litre

शारीरिक कोशाओं में सीरम पोटेशियम की मात्रा निर्धारित सीमा से अल्प हो जाने की अवरथा को सीरम पोटेशियम ह्रास (Hypokalaemia) कहा जाता है। यह अन्तः कोशीय द्रव (Intracellular) का मुख्य घटक है। सीरम पोटेशियम ह्रास के मुख्य कारण निम्न हैं—

कारण

(i) तीव्रातिसार (Severe Diarrhoea)
(ii) छर्दि (Vomiting)
(iii) भुक्त आहार में पोटेशियम की कमी (Inadequate dietary intake of Potassium)
(iv) बृहद् आन्त्र शोथ (Colitis)
(v) विरेचन कर्म का अत्यधिक प्रयोग (Frequent use of Laxatives)
(vi) नाड़ीव्रण (Fistula)
(vii) मधुमेह (एसिडोसिस) (Diabetes mellitus)
(viii) मूत्रल औषध (Diuretics e.g. Thiazide)
(ix) चयापचय विकृति जन्य क्षारीयता (Metabolic alkalosis)
(x) डायलिसिस (Haemo-peritoneal Dialysis)

लक्षण

शारीरिक कोशाओं में सीरम पोटेशियम निर्धारित मात्रा से कम मात्रा में उपलब्ध होने की स्थिति में शरीर में निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं—

(i) मांसपेशी दौर्बल्य (Muscles weakness)
(ii) भ्रम (Dizziness)
(iii) तृष्णा (Thirst)
(iv) प्रमोह (Mental Confusion)
(v) आक्षेप (Tetany)
(vi) क्लम (Fatiguability)
(vii) अत्यधिक मूत्रस्राव (Polyurea)
(viii) हृद्गति अनियमितता (Cardiac Arrhythmia)
(ix) ई.सी.जी में हृदय रोग सदृश विकृतियाँ (ECG Changes-ST segment depression, flattening and inversion of the T wave, and prominent U wave)

चिकित्सा

शारीरिक कोशाओं में सीरम पोटेशियम की अल्पता की स्थिति में निम्न उपाय किए जाने आवश्यक होते हैं—

(i) निदान परिवर्जन
(ii) लाक्षणिक चिकित्सा व्यवस्था
(iii) मुख मार्ग से पोटेशियम युक्त पदार्थों का अधिक सेवन (Oral potassium through milk, meat extracts, fruit juices, honey etc.)
(iv) शिरागत मार्ग से शरीर में पोटेशियम प्रवेश (Administration of Intra Venous Potassium as Potassium Chloride)

IV. पोटेशियम आधिक्य
(HYPERKALAEMIA)

शारीरिक रक्त (सीरम/प्लाजमा) में जब पोटेशियम की मात्रा निर्धारित सीमा से अधिक हो जाती है तो परिणाम स्वरूप मूत्राल्पता, मूत्रकृच्छ्रता या मूत्राघात सदृश स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इन स्थितियों को (Hyperkalaemia) रोग कहा जाता है। इसके निम्न कारण होते हैं--

कारण

(i) तीव्र वृक्काघात (Acute Renal Failure)
(ii) मूत्राल्पता (Oliguria)
(iii) मूत्राघात (Anuria)
(iv) जीर्णदारुण वृक्काघात (Severe Chronic-Renal Failure)
(v) एडिसन्स डिसीज (Addison's disease)
(vi) हाइपोएल्डोस्टीरोनिज़म (Hypoaldosteronism)
(vii) चयापचय जन्य या श्वसन बंधी अम्लता (Metabolic or Respiratory Acidosis)
(viii) पोटेशियम स्पेरिंग मूत्रल औषध का अति प्रयोग (Excess potassium sparing diuretics)
(ix) पोटेशियम युक्त द्रव्यों का अति प्रयोग (Excess potassium supplements)
(x) दग्ध (Burn) होना
(xi) पिच्चित व्रण (Crushing injury)
(xii) जीर्ण संक्रमण होना (Severe infection)

लक्षण

शारीरिक कोशाओं में सीरम पोटेशियम निर्धारित मात्रा से अधिक उपलब्ध होने की स्थिति में शरीर में निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—

(i) दुर्बलता (Generalised skeletal muscles-weakness)
(ii) पक्षाघात (Paralysis)
(iii) हृदय में वैद्युत संवहन में अनियमितता (Impaired electrical conduction in the heart)
(iv) निलय फिब्रिलेशन (Ventricle fibrillation)
(v) अचानक हृदयाघात (Sudden cardiac Arrest)
(vi) आलस्य-तन्द्रा (Drowsiness-Sleepiness)

चिकित्सा

शारीरिक कोशाओं में सीरम पोटेशियम की अधिकता की स्थिति में निम्न उपाय किए जाने आवश्यक होते हैं—

(i) निदान परिवर्जन
(ii) लाक्षणिक चिकित्सा व्यवस्था
(iii) शरीर में कैल्शियम ग्लूकोनेट का प्रवेश कराना
(iv) शरीर में सोडियम बाइकार्बोनेट का प्रवेश कराना
(v) इन्सुलिन व ग्लूकोज को शिरा मार्ग से देना .
(vi) वृक्काघात में डायलिसिस (Hemodialysis in Chronic Renal Failure)

अन्य खनिज लवण अभाव जन्य रोग

(i) **फास्फोरस (P)**—शरीर में फास्फोरस तत्व की कमी होने से शारीरिक वृद्धि रूक जाती है। अस्थि एवं दन्त का क्षीण विकास होता है।

(ii) **क्लोरीन (Cl)**—शरीर में क्लोरीन क्लोराइड के रूप में उपस्थित रहती है। प्लाज्मा/सीरम में इसकी सामान्य मात्रा 96–108 m mol/litre रहती है। इसकी कमी होने पर शरीर का भार क्षय होकर पाचन विकार हो जाते हैं। शरीर की जल धारण शक्ति का भी ह्रास हो जाता है।

(iii) **कैल्शियम (Ca)**—मानव शरीर के सीरम/प्लाज्मा में कैल्शियम की सामान्य मात्रा 2.2–2.6 m mol/litre होती है। इसकी कमी होने से अत्यधिक रक्तस्राव होता है। अस्थि व दन्त का विकास रूक जाता है। अस्थि भंगुरता बढ़ जाती है। कभी-कभी अस्थिशोष (Osteoporosis) भी उत्पन्न हो जाता है।

(iv) **लौह (Fe)**—शरीर में सीरम/प्लाज्मा में लौह (Iron) की सामान्य मात्रा पुरुषों में 13–32 u mol/litre एवं स्त्रियों में 11–29 u mol/litre होती है। इसकी कमी होने पर पाण्डु व दुर्बलता हो जाती है। शरीर में लौह तत्व की अधिकता होने पर हीमोसिडेरोसिस (Hemosiderosis) नामक व्याधि उत्पन्न होती है। (Abnormal accumulation of Iron in tissues such as liver and spleen)

(v) **मैग्नीशियम (Mg)**—शरीर में सीरम/प्लाज्मा में मैग्नीशियम की सामान्य मात्रा 0.7–1.0 m mol/litre होती है। इसकी मात्रा सामान्य से कम होने पर मस्तिष्क दुर्बलता, पाचन विकार, शारीरिक दुर्बलता आदि लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।

(vi) **गन्धक (S)**—शरीर में गंधक तत्व की कमी होने पर त्वक् विकार व शारीरिक वृद्धि का ह्रास हो सकता है।

(vii) **आयोडिन (I_2)**—शारीरिक सीरम/प्लाज्मा में T_3 (Tri-iodothyronine), T_4 (free Thyroxine) एवं TSH (Thyroid Stimulating Hormone) के रूप में रहता है। इनकी सामान्य मात्रा निम्नानुसार है—

T_3	1.5	3.1 n mol/litre
T_4	8.8	23.1 p mol/litre
TSH	o.40	4.8 u/litre

शरीर में आयोडीन की कमी होने पर विभिन्न विकार उत्पन्न हो सकते हैं। इनमें से गलगण्ड (Goitre), अवटुगन्थि वृद्धि एवं चयापचय विकार मुख्य हैं।

(viii) **ताम्र (Cu)**—शारीरिक सीरम/प्लाज्मा में कॉपर की सामान्य मात्रा 8–24 u mol/litre होती है। शरीर में इसकी कमी होने पर रक्ताल्पता (Anaemia), यकृतविकार (Liver disorders), श्वित्र (Leucoderma) एवं अन्य त्वचा विकार उत्पन्न हो सकते हैं। शरीर में इसकी मात्रा की अधिकता से विल्सन डिसीज (Wilson's disease-Hepatolenticular degeneration) उत्पन्न हो सकता है।

(ix) **मैनगनीज़ (Mn)**—शरीर में मैनगनीज़ की कमी होने पर शारीरिक वृद्धि रुक जाती है।

(x) **जस्ता-जिंक (Zn)**—शारीरिक सीरम/प्लाजमा में जस्ते की सामान्य मात्रा 9–17 u mol/litre होती है। शरीर में इसकी मात्रा कम होने पर शरीर की वृद्धि रुक जाती है, क्षुधा ह्रास, वृषण ह्रास एवं व्रण भरने में देरी हो सकती है। गर्भावस्था में जिंक की कमी होने पर बच्चे को विभिन्न वृद्धि विकार (Developmental disorders) हो सकते हैं।

अम्ल-क्षार के असन्तुलन जन्य विकार
(ACID-BASE DISTURBANCES)

परिचय

मानव शरीर में अम्लीयता व क्षारीयता का यथोचित प्रमाण (Balanced pH) में रहना अनेक शारीरिक क्रियाओं के लिये आवश्यक है। विषम प्रमाण में होने पर ये अम्ल व क्षार अनेक विकारों को उत्पन्न कर सकते हैं। ये अम्ल व क्षार जलाकर्षण शक्ति (Osmotic Pressure) के कारण, रस, रक्त, धातु, मल, मूत्र आदिमें जल का सम्यक् प्रमाण बनाये रखते हैं।

I. ACID-BASE BALANCE

Acid & Base balance are maintained in the body by the mechanism by which the acidity and alkalinity of body fluids are kept in a state of equilibrium so that the pH of arterial blood is maintained at approx. 7.35-7.45. This is accomplished by the action of buffer system of the blood and the regulatory (Homeostasis) functions of the respiratory and urinary systems. Disturbances in acid-base balance result in acidosis or alkalosis.

संहिता ग्रन्थों में अम्ल, लवण व क्षार के अतिसेवन से विभिन्न विकारों का उत्पन्न होना उल्लिखित है जो निम्नानुसार है—

अम्ल रस अतिसेवन जन्य रोग

शरीर में अम्ल रस का निर्माण पृथ्वी व अग्नि महाभूत प्रधान द्रव्यों के सेवन से होता है। इसके अधिक मात्रा में सेवन से शरीर में निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं[1]—

i. दन्तहर्ष
ii. तृष्णा
iii. रोमाञ्च
iv. शोथ
v. भ्रम
vi. तिमिर

1. "स एवं गुणोऽप्येक..... । ..... हृदयं च॥" (च.सू. 26/43-2)

vii. दाह
viii. पित्त व रक्तज विकार आदि।

लवण रस अति सेवन जन्य रोग

शरीर में लवण रस का निर्माण जल व अग्नि महाभूत प्रधान द्रव्यों के सेवन से होता है। इसके अत्यधिक सेवन से शरीर में निम्न विकार उत्पन्न हो सकते हैं[1]—

i. रुधिर वृद्धि
ii. पिपासा
iii. मूर्च्छा
iv. ज्वर
v. शोफ
vi. बली-पलित
vii. खालित्य
viii. रक्तपित्त, अम्लपित्त, वातरक्त
ix. विसर्प, विचर्चिका
x. इन्द्रलुप्त
xi. पुंस्त्वशक्तिनाश
xii. पितज विकार आदि।

क्षार अतिसेवन जन्य रोग

क्षार उष्ण-तीक्ष्ण होने से शरीर में क्लेद उत्पन्न करता है। इसके अतिसेवन से शरीर में निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं[2]—

i. केशपतन
ii. पलित
iii. खालित्य
iv. दृष्टिनाश
v. हृद्पीड़ा
vi. पुंस्त्व शक्ति नाश आदि।

अम्ल उत्पादक पदार्थ

फास्फोरस (P), गंधक (S), क्लोरीन (Cl) आदि तत्वों से शरीर में अम्लीयता बनी रहती है। यह तत्व मांस, अण्डा, दालों, सूखे फल, दधि, तक्र, प्याज, चावल, जौ, मक्का आदि में प्रचुरता से पाए जाते हैं।

1. "स एवं गुणोऽत्येक..... । ..... विकारानुपजनयति॥" (च.सू. 26/43-3)
2. "क्षार: ..... । .....भुञ्जीत॥" (च.वि. 1/17)

क्षार उत्पादक पदार्थ

कैल्शियम (Ca), पोटेशियम (K), सोडियम (Na), लौह (Fe) व मेग्नीशियम (Mg) आदि तत्व से शरीर में क्षारीयता बनी रहती है। ये तत्व पत्ते वाले शाक, पालक, फूलगोभी, आलू, मूली, नारंगी, सेव, केला आदि में प्रचुरता से पाए जाते हैं।

अम्ल असन्तुलन जन्य विकार
(ACIDOSIS)

Acidosis is an actual or relative increase in the acidity of blood due to an accumulation of Acids (as in Diabetic-Acidosis or Renal Disease) or an excessive loss of bicarbonate ions (as in Renal-Disease) in the body.

In acidosis the hydrogen ion concentration of the fluid is increased & it results in lowered pH value. Acidosis is mainly of two types—

I. Metabolic Acidosis
II. Respiratory Acidosis

I. Metabolic Acidosis

It is the acidosis resulting from an increase in acid in the body other than the carbonic acid. The causes are—

Causes

(a) **With High Anion Gap**
i. Ketoacidosis-Diabetic, Starvation, Alcoholic etc.
ii. Lactic acidosis-shock, cardiac arrest, hypoxia, biguanide drugs etc.
iii. Impaired liver functions.

(b) **With normal Anion Gap**
i. GIT disturbances-Diarrhoea, Vomiting, Severe dehydration, fistula etc.
ii. Renal tubular acidosis.
iii. Excessive ingestion of acids or acid-salts.
iv. Rapid Intravenous hydration etc.

Signs/Symptoms
i. Lethargy
ii. Drowsiness
iii. Headache
iv. Diminished muscle tone
v. Diminished deep tendon Reflexes
vi. Hyperventilation

vii. Cardiac dysrrhythmias
viii. Muscles weakness
ix. Flaccidity
x. GIT-Nausea, vomiting, diarrhoea, and abdominal pain etc

II. Respiratory Acidosis

It is the acidosis caused by retention of Carbon dioxide in the body due to pulmonary insufficiency. The causes are—

Causes
i. Lung disorders-Chronic Obstructive Pulmonary Diseases (C.O.P.D.), Large airways obstruction, severe Asthma, Emphysema, Chronic Bronchitis etc.
ii. Respiratory centre disorder-due to drugs such as Opiates, Barbiturates, Benzodiazepines, organic disease affecting respiratory control etc.
iii. Neuromuscular and skeletal abnormalities such as poliomyelitis, myaesthenia gravis, motor neurone disease, severe obesity, acute infective-polyneuritis etc.

Signs/Symptoms
i. Headache
ii. Restlessness
iii. Irritability
iv. Somnolence (Prolonged Drowsiness)
v. Disorientation
vi. Blurred vision
vii. Fine or flapping tremors
viii. Depressed reflexes
ix. Cardiac dysrrhythmias
x. Dyspnoea (Hypoventilation)

Other Acidosis

i.	Diabetic acidosis	Due to Ketone bodies accumulation.
ii.	Lactic acidosis	Due to Lactic acid accumulation.
iii.	Renal acidosis	Due to impaired-kidney functions.
iv.	Hyperchloraemic acidosis	Due to excessive chlorides

Treatment of Acidosis
i. निदान परिवर्जन (Avoidance of causes)
ii. लाक्षणिक चिकित्सा व्यवस्था (Symptomatic treatment)

iii. **For metabolic acidosis**
Intravenous Sodium Bicarbonate
Intravenous fluids
Insulin in Diabetic Acidosis
Oxygen therapy
Mechanical Ventilation
Promote Chest Expansion

iv. **For Respiratory acidosis**
Mechanical Ventilation
Inhalation therapy
Intravenous fluids
Oxygen therapy

क्षार असन्तुलन जन्य विकार
(ALKALOSIS)

Alkalosis can be defined as an actual or relative increase in blood alkalinity due to an accumulation of alkalies or reduction of acids. It is mainly of two types—

I. Metabolic alkalosis
II. Respiratory alkalosis

I. Metabolic alkalosis

Alkalosis in which plasma bicarbonate is increased and there is a proportionate rise in the plasma concentration of carbon dioxide. This is usually the result of increased loss of acid from the stomach or kidney, potassium depletion accompanying diuretic therapy, excessive alkaline intake or continued severe adrenal gland hyperactivity.

Signs/Symptoms

i. Apathy
ii. Confusion
iii. Stupor
iv. Tetany (+ve Chvosteks Sign)

Chvosteks Sign

Elicited by tapping over the facial nerve as it emerges from the front of Parotid gland. This causes twitching of the upper lip and drawing up of the angle of mouth.

Treatment

i. निदान परिवर्जन (Therapy for primary-disorder).

ii. Intravenous saline solution
iii. Intravenous Potassium-in Hypokalaemias
iv. Intravenous acidifying agents.

II. Respiratory Alkalosis

It can be defined as an Alkalosis with an acute reduction of plasma bicarbonate with a proportionate reduction in plasma carbondioxide.

Causes

i. Hyperventilation due to hypoxia.
ii. Anxiety.
iii. Fever
iv. Pulmonary embolism
v. Carbon monoxide poisoning
vi. Right to left heart shunt
vii. Hepatic encephalopathy
viii. Salicylate poisoning
ix. Exercise
x. Excessive mechanical assistance to breathing.
xi. High attitude

Signs/Symptoms

i. Hyperventilation
ii. Paraesthesia
iii. Dry oral mucosa
iv. Numbness or tingling of the nose & exiremities.
v. Muscle twitching
vi. Tetany
vii. Hyper-reflexion
viii. Light headness
ix. Inability to concentrate
x. Mental confusion leading to lethargy and coma.

Treatment

i. निदान परिवर्जन (Avoidance of causes)
ii. The immediate treatment for acute hyperventilation
iii. Patient breathe with one nostril closed off and the mouth closed.
iv. Mechanical ventilation
v. Treatment of Anxiety
vi. Meditation therapy etc.